MAPS-107

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय

भारतीय शासन और राजनीति

खण्ड

1

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था - एक परिचय

इकाई 1

भारतीय संविधान की रचना 5

इकाई 2

भारतीय संविधान की आधारभूत विशेषताएँ 16

इकाई 3

केन्द्र राज्य संबंध 30

विशेषज्ञ समिति

प्रो. आर.के. मणि त्रिपाठी अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष दीन दयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय गोरखपुर	विषय विशेषज्ञ
प्रो. एल.डी. ठाकुर अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष राजनीतिशास्त्र विभाग लखनऊ विश्वविद्यालय लखनऊ	विषय विशेषज्ञ
प्रो. एस.एम. सईद राजनीतिशास्त्र विभाग लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ	विषय विशेषज्ञ
डॉ. मंजूलिका श्रीवास्तव रीडर, इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय नई दिल्ली	दूरस्थ शिक्षा विशेषज्ञ
प्रो. एस. के. द्विवेदी राजनीति शास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय लखनऊ	सम्पादक

परामर्श समिति

प्रो. केदार नाथ सिंह यादव, कुलपति	अध्यक्ष
डॉ. हरीश चन्द्र जायसवाल, वरिष्ठ परामर्शदाता	कार्यक्रम संयोजक
प्रो. के. पी. सिंह, वरिष्ठ परामर्शदाता	सदस्य
डॉ. अर्जुन तिवारी, वरिष्ठ परामर्शदाता	सदस्य
प्रो. ए.यन. द्विवेदी, वरिष्ठ परामर्शदाता	सदस्य
डॉ. रत्नाकर शुक्ला, कुलसचिव	सचिव

MAPS-107 :-- भारतीय शासन और राजनीति

लेखक मण्डल

खण्ड एकः	**प्रो. एस.एम. सईद, राजनीति शास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ**	**3 इकाई**
खण्ड दोः	**प्रो. एस.एम. सईद, राजनीति शास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ**	**3 इकाई**
खण्ड तीनः	**प्रो. बी.के. तिवारी, राजनीति शास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ**	**4 इकाई**
खण्ड चारः	**डॉ. सी.के. राय, रीडर, राजनीति शास्त्र विभाग, इला. विश्वविद्यालय, इलाहाबाद**	**3 इकाई**
खण्ड पाँचः	**डॉ. एम. शाहिद, रीडर, राजनीति शास्त्र विभाग, इला. विश्वविद्यालय, इलाहाबाद**	**4 इकाई**

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

IOST-039

सर्वाधिकार सुरक्षित, इस कार्य का कोई अंश उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की लिखित अनुमति के बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुति अनुमति नहीं है
दूरस्थ शिक्षा परिषद, नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित
उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की ओर से कर्नल विनय कुमार, कुलसचिव द्वारा पुनः मुद्रित एवं प्रकाशित २०२४.

मुद्रकः सिग्नस इन्फार्मेशन सल्यूशन प्रा० लि०, लोढ़ा सुप्रीमस साकी विहार रोड, अन्धेरी ईस्ट, मुम्बई।

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

एम.ए. राजनीतिशास्त्र पाठ्यक्रम (PGPS) सेमेस्टर–द्वितीय

PGPS-04 भारतीय शासन और राजनीति

खण्ड–एक भारतीय राजनीतिक व्यवस्था-एक परिचय
- इकाई-1 भारतीय संविधान की रचना
- इकाई-2 भारतीय संविधान की आधारभूत विशेषताएं
- इकाई-3 केन्द्र राज्य संबंध

खण्ड–दो भारतीय संविधान-वैधारिक तत्व
- इकाई-4 संविधान की उद्देशिका, मूल अधिकार और मूल कर्तव्य
- इकाई-5 राज्य के नीति-निदेशक सिद्धान्त
- इकाई-6 संविधान-संशोधन और सामाजिक परिवर्तन

खण्ड–तीन संघीय शासन
- इकाई-7 राष्ट्रपति
- इकाई-8 प्रधानमंत्री और मंत्री परिषद
- इकाई-9 संसद
- इकाई-10 सर्वोच्च न्यायालय

खण्ड–चार दलीय राजनीति
- इकाई-11 दलीय व्यवस्था की प्रकृति एवं विशेषताएँ
- इकाई-12 राष्ट्रीय दल एवं क्षेत्रीय दल
- इकाई-13 दबाव समूह

खण्ड–पाँच भारतीय राजनीति में उभरती हुयी प्रवृत्तियाँ
- इकाई-14 जाति एवं धर्म की भूमिका
- इकाई-15 क्षेत्रियतावाद एवं राष्ट्रीय एकीकरण
- इकाई-16 नेतृत्व का बदलता हुआ स्वरूप
- इकाई-17 दल-बदल की राजनीति

PGPS-05 लोक प्रशासन

खण्ड–एक लोक प्रशासन का विकास
- इकाई-1 लोक प्रशासन का अर्थ, परिभाषा, प्रकृति एवं क्षेत्र
- इकाई-2 लोक प्रशासन के विकास के चरण
- इकाई-3 नवीन लोक प्रशासन

खण्ड–दो लोक प्रशासन के विभिन्न सिद्धान्त (Theories)
- इकाई-4 वैज्ञानिक प्रबन्ध, नौकरशाही के सिद्धान्त
- इकाई-5 पराम्परावादी (शास्त्रीय) मानव सम्बन्ध
- इकाई-6 व्यवस्था, परिस्थिति उपागम, निर्णय निर्माण

खण्ड–तीन लोक प्रशासन के सिद्धान्त (Principles)
- इकाई-7 पद सोपान
- इकाई-8 आदेश की एकता
- इकाई-9 प्रशासनिक व्यवहार

खण्ड–चार विकास प्रशासन
- इकाई-10 विकास प्रशासन अर्थ, स्वरूप और क्षेत्र
- इकाई-11 विकास अधिकारी तन्त्र
- इकाई-12 विकास प्रशासन में मुद्दे

खण्ड–पाँच प्रशासन पर नियंत्रण
- इकाई-13 प्रशासन पर नियंत्रण की आवश्यकता एवं महत्व
- इकाई-14 प्रशासन पर विधायी, प्रशासनिक एवं न्यायिक नियंत्रण
- इकाई-15 प्रशासन पर नियंत्रण के विषय-वस्तु क्षेत्र न्यायिक सक्रियता

PGPS-06 आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन

खण्ड–एक भारतीय पुनर्जागरण और उदारवादी दृष्टिकोण
- इकाई-1 राजा राममोहन राय
- इकाई-2 महादेव गोविन्द राना डे
- इकाई-3 गोपाल कृष्ण गोखले

खण्ड–दो आदर्शवादी दृष्टिकोण
- इकाई-4 लोकमान्य तिलक
- इकाई-5 अरविन्द घोष
- इकाई-6 रवीन्द्र नाथ टैगोर

खण्ड–तीन समाजवादी एवं साम्यवादी चिन्तन
- इकाई-7 एम0 एन0 राय
- इकाई-8 नरेन्द्र देव
- इकाई-9 डा0 राम मनोहर लोहिया
- इकाई-10 जय प्रकाश नारायण

खण्ड–चार गाँधीवादी चिन्तन
- इकाई-11 महात्मा गाँधी के राजनीतिक विचार
- इकाई-12 गाँधी का सामाजिक-आर्थिक दर्शन
- इकाई-13 गाँधी के आलोचक-सुभाष चन्द्र बोस, सावरकर
- इकाई-14 महामना पं0 मदन मोहन मालवीय

खण्ड–पाँच स्वातंत्रोत्तर चिन्तन
- इकाई-15 सर्वोदय दर्शन
- इकाई-16 जवाहर लाल नेहरू
- इकाई-17 डा0 भीम राव अम्बेडकर
- इकाई-18 राजर्षि पुरुषोत्तम दास टण्डन

नोट : 04.05.06 में से कोई दो पाठ्यक्रम का चयन करें।

खण्ड 1 का परिचय : भारतीय राजनीतिक व्यवस्था

संविधान एक देश की राजनैतिक व्यवस्था का मूल आधार होता है। किन्तु केवल संविधान के प्रावधानों का अध्ययन करके किसी देश की राजनैतिक वास्तविकताओं को नहीं समझा जा सकता। संविधान तो राजनैतिक व्यवस्था के विधिक ढांचे को प्रस्तुत करता है, उसमें जान डालने का कार्य विभिन्न राजनैतिक संस्थाओं में कार्यरत व्यक्तियों द्वारा किया जाता है। अतः किसी देश की राजनैतिक व्यवस्था को समझने के लिए उसके संविधान; विभिन्न पदों पर कार्यरत व्यक्तियों के व्यवहार; समय-समय पर सरकार द्वारा बनाई गई नीतियाँ; नीति-निर्माण को प्रभावित करने वाली संस्थाएं (राजनैतिक दल, दबाव समूह प्रेस) नीतियों को कार्यान्वित करने वाले उपकरण (कर्मचारी तंत्र और न्यायपालिका) तथा राजनैतिक जीवन में व्यक्ति की अपनी भूमिका का अध्ययन करना होगा। उपरोक्त घटकों को मिला कर राजनैतिकतंत्र (पोलिटिकल सिस्टम) का निर्माण होता है। इसका अर्थ यह है कि राजनैतिकतंत्र एक विस्तृत अवधारणा है और संविधान उसका एक घटक या अंग है। इस प्रकार संविधान और राजनैतिकतंत्र एक ही चीज़ नहीं हैं।

प्रस्तुत खण्ड की पहली इकाई में भारतीय संविधान की रचना के विभिन्न चरणों का उल्लेख करने के उपरान्त दूसरी इकाई में भारतीय संविधान की प्रमुख विशेषताओं का सविस्तार विवेचन किया जायेगा और यह भी देखने का प्रयास किया जायेगा कि हमारा संविधान अन्य संविधानों से किस प्रकार भिन्न है और वह पश्चिमी देशों का कहाँ तक ऋणी है। इस खण्ड की तीसरी इकाई में भारतीय संघ में केंद्र और राज्यों के पारस्परिक संबंधों का सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दृष्टि से अध्ययन किया जाएगा और यह दर्शाने का प्रयास किया जाएगा कि विगत 55 वर्षों में केंद्र और राज्यों के संबंध कैसे रहे हैं और इन संबंधों को निर्धारित और परिवर्तित करने में किन कारकों की निर्णायक भूमिका रही है।

इकाई–1 भारतीय संविधान की रचना

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 संविधान सभा के गठन का विचार

1.3 संविधान सभा का निर्माण

1.4 संविधान सभा का गठन-आपत्तियाँ और आलोचनाएँ

1.5 संविधान सभा के समक्ष चुनौतियाँ

1.6 संविधान निर्माण की प्रक्रिया

1.7 सारांश

1.8 संदर्भ ग्रन्थ/उपयोगी पुस्तकें

1.9 संबंधित प्रश्न

1.10 प्रश्नोत्तर

1.0 उद्देश्य

इस इकाई के अन्तर्गत भारतीय संविधान के निर्माण के विभिन्न चरणों और संविधान-निर्माण की प्रक्रिया की चर्चा की जाएंगी। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

- संविधान सभा का गठन और उसकी कार्य-प्रक्रिया का उल्लेख कर सकेंगे,
- संविधान सभा के समक्ष चुनौतियाँ और उनका निराकरण पर टिप्पणी कर सकेंगे,
- भारतीय संविधान के निर्माण के इतिहास का विवरण कर सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

भारतीय संविधान न तो किसी संयोग की उत्पत्ति है और न ही क्रमिक विकास का परिणाम। इसकी रचना एक संविधान-निर्मात्री सभा द्वारा लगभग तीन वर्षों के विचार-विमर्श के उपरान्त की गई और इसे एक निश्चित तिथि पर अंगीकृत करके एक निश्चित तिथि पर लागू किया गया। दूसरे शब्दों में, इंग्लैण्ड के विपरीत, भारत का संविधान निर्मित एवं लिखित संविधान है। यह उल्लेखनीय है कि इंग्लैंड की वर्तमान जनतंत्रीय शासन व्यवस्था शताब्दियों के विकास का परिणाम है जो मूलतः परम्पराओं पर आधारित है। ये नियम जिनके आधार पर इंग्लैंड में सरकार के विभिन्न अंगों का गठन और कार्य-संचालन होता है वे न तो पूर्णतया लिखित हैं और न ही किसी एक पुस्तक के रूप में उपलब्ध हैं। इनमें से अधिकांश नियमों को औपचारिक रूप से न तो बनाया गया है और न ही उन्हें लेखबंद्ध किया गया है। संभवतः यही कारण है कि डी०टाकवेलि ने यह कह दिया कि 'इंग्लैण्ड में कोई संविधान नहीं है।'

विश्व के आधुनिक संविधानों में अमेरिका पहला देश है जहां 1776 में फ्लेडल्फिया में आयोजित एक

सम्मेलन में अमेरिकी संविधान की रचना की गई थी और 1789 में उसे लागू किया गया।

1.2 संविधान सभा के गठन का विचार

भारत में स्वाधीनता की माँग में ही संविधान बनाने की माँग भी छिपी हुई थी। 1895 में बाल गंगाधर तिलक के निर्देशन में तैयार किए गए 'स्वराज्य विधेयक' में भारत के लिए संविधान बनाने हेतु एक संविधान सभा को गठित करने की बात कही गई थी। 1922 में महात्मा गाँधी ने यह विचार व्यक्त किया कि "भारतीय संविधान भारतीयों की इच्छानुसार ही होगा।" 1924 में मोतीलाल नेहरू ने ब्रिटिश सरकार के सामने संविधान सभा के निर्माण की माँग प्रस्तुत की। एम0एन0राय ने भी स्पष्ट रूप से संविधान सभा के गठन का विचार प्रस्तुत किया। पंडित जवाहर लाल नेहरू के प्रयत्नों से कॉंग्रेस ने औपचारिक रूप से यह घोषणा की कि "यदि भारत को आत्म-निर्णय का अवसर मिलता है जो भारत के सभी विचारों के लोगों की प्रतिनिधि सभा बुलाई जानी चाहिए जो सर्वसम्मति से संविधान का निर्माण कर सके। यही संविधान सभा होगी।"

1936 में लखनऊ में आयोजित कॉंग्रेस-अधिवेशन में संविधान सभा के विषय में चर्चा हुई और 1937 तथा 1938 के अधिवेशनों में संविधान सभा की पुनः माँग की गई। 1938 के कॉंग्रेस-अधिवेशन में यह प्रस्ताव पारित किया गया कि "एक स्वतंत्र देश के लिए संविधान-निर्माण का एकमात्र तरीका संविधान सभा है। सिर्फ प्रजातंत्र और स्वतंत्रता में विश्वास न रखने वाले ही इसका विरोध कर सकते हैं।" इस माँग की पुष्टि करते हुए महात्मा गाँधी ने कहा कि "हम एक ऐसी संविधान-सभा चाहते हैं जो भारतीय मस्तिष्क का वास्तविक दर्पण हो।"

भारतवासियों द्वारा संविधान सभा की माँग का प्रारंभ में ब्रिटिश सरकार द्वारा विरोध किया गया था किन्तु द्वितीय विश्व युद्ध से उत्पन्न परिस्थितियों और अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं ने उसे इस माँग पर गम्भीरता से विचार करने के लिए मजबूर कर दिया। अगस्त 1940 में ब्रिटिश सरकार ने यह प्रस्ताव पारित किया कि "भारत का संविधान स्वभावतः स्वयं भारतवासी ही तैयार करेंगे।" 1942 में क्रिप्स योजना के अन्तर्गत ब्रिटिश सरकार ने यह घोषणा की कि भारत में एक निर्वाचित संविधान सभा का गठन किया जाएगा जो युद्ध के बाद भारत के लिए एक संविधान तैयार करेगी लेकिन भारतवासियों ने विविध कारणों से क्रिप्स योजना को ही अस्वीकार कर दिया।

1.3 संविधान सभा का निर्माण

अगस्त 1946 में भारत में आए कैबिनेट मिशन द्वारा प्रस्तुत किए गए संविधान सभा के गठन के प्रस्ताव को भारतीय नेताओं ने स्वीकार कर लिया। मिशन का यह विचार था कि तत्कालीन परिस्थितियों में वयस्क मताधिकार के आधार पर संविधान सभा को निर्वाचित करना संभव न होगा। अतः प्रान्तीय विधानसभाओं द्वारा संविधान सभा को निर्वाचित किए जाने का प्रावधान किया गया।

कैबिनेट मिशन योजना में 389 सदस्यीय संविधान सभा के गठन की व्यवस्था की गई थी। इस में 292 ब्रिटिश प्रान्तों के प्रतिनिधि, 04 चीफ कमिश्नर प्रान्तों के प्रतिनिधि और 93 देशी रियासतों के प्रतिनिधि थे। इस योजना के अनुसार प्रान्तों के बीच स्थानों का विभाजन इनकी जनसंख्या के आधार पर किया गया था और दस लाख की जनसंख्या पर एक प्रतिनिधि लेने का नियम अपनाया गया। प्रत्येक प्रान्त के लिए निर्धारित स्थानों, उनमें निवास करने वाली प्रमुख जातियों के बीच उनकी जनसंख्या के आधार पर विभाजित कर दिया गया। यह भी प्रावधान किया गया कि प्रत्येक जाति के प्रतिनिधि उस जाति विशेष के सदस्यों द्वारा निर्वाचित किए जाएंगे। मतदाताओं को तीन श्रेणियों– साधारण, मुसलमान तथा सिख (केवल पंजाब) में बाँटने का निश्चय किया गया। देशी रियासतों के

प्रतिनिधियों के चुनाव के लिए एक 'समझौता समिति' का प्रावधान किया गया था।

कैबिनेट मिशन योजना के अनुसार जुलाई 1946 में संविधान-सभा के चुनाव हुए। सभा की कुल सदस्य संख्या (389) में से प्रान्तों के लिए निर्धारित 296 सदस्यों का चुनाव हुआ जिसमें कांग्रेस-पार्टी को 208, मुस्लिम लीग को 73 तथा शेष सात राजनैतिक दलों को एक-एक स्थान मिले। निर्दलीय उम्मीदवारों में से आठ विजयी हुए। अपनी इस दयनीय स्थिति को देखकर मुस्लिम लीग ने संविधान सभा का बहिष्कार करने का निर्णय लिया।

1.4 संविधान सभा का गठन–आपत्तियाँ और आलोचनाएँ

जैसा पहले बताया जा चुका है, स्वतंत्रता के समय जो परिस्थितियाँ थीं उनमें यह संभव नहीं था कि जनसाधारण द्वारा संविधान सभा का प्रत्यक्ष रूप से चुनाव कराया जाए या संविधान को जनमत संग्रह के लिए रखा जाए। इसलिए संविधान सभा का चुनाव प्रान्तीय विधान मण्डलों और देशी रियासतों द्वारा कराया गया। कैबिनेट मिशन योजना को भारतीय नेताओं ने काफी वाद-विवाद के बाद स्वेच्छा से स्वीकार किया था, वह भारत पर जबरदस्ती थोपी नहीं गई थी। अतः उसके पीछे भारतवासियों की सहमति थी।

संविधान सभा के गठन के संबंध में अनेक आपत्तियाँ और आलोचनाएँ की गईं जिनमें से कुछ का आगे उल्लेख किया जा रहा है–

1. संविधान सभा की प्रभुसंपन्नता

संविधान सभा के एक सदस्य ने यह कहा कि "संविधान सभा एक प्रभुतासंपन्न संस्था नहीं है और उसकी शक्तियाँ, मूलभूत सिद्धान्तों और प्रक्रियाओं दोनों ही दृष्टि से मर्यादित हैं।" *(Banerjee, A.C.; The Making of the Indian Constitution; P. 358)* उनका तर्क यह था कि यह संस्था ब्रिटिश सरकार द्वारा कैबिनेट मिशन के माध्यम से सृजित की गई है। सभा का आह्वान गवर्नर जनरल द्वारा किया गया था और संविधान सभा कैबिनेट मिशन योजना के अनुसार ही कार्य करने के लिए प्रतिबद्ध थी। यह आपत्ति एक सीमा तक ठीक थी लेकिन संविधान सभा ने जिस प्रकार कार्य किया उससे स्पष्ट है कि संविधान की रचना, उसके लिए अपनाई गई प्रक्रिया तथा स्थापित की गई शासन व्यवस्था, संक्षेप में आन्तरिक और बाह्य दोनों तरह से संविधान सभा ने एक प्रभुसंपन्न संस्था के रूप में ही कार्य किया। संविधान सभा ने सभा के संचालन की शक्ति अपने द्वारा निर्वाचित सभापति को दे दी और यह प्रस्ताव पारित किया कि संविधान सभा का विघटन ब्रिटिश सरकार या किसी अन्य शक्ति के निर्देश पर नहीं किया जाएगा। सभा उसी समय भंग की जा सकेगी जब स्वयं संविधान सभा इस आशय का प्रस्ताव अपने दो-तिहाई बहुमत से पास करे। संविधान सभा के प्रभुत्व-संपन्न होने पर सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उसने जो संविधान बनाया उसे किसी भी स्तर पर ब्रिटिश सरकार की सहमति अथवा अनुमोदन के लिए नहीं रखा गया।

15 अगस्त 1947 को भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम के पारित होने के बाद भारत ने, एक प्रभुतासंपन्न राज्य का स्तर प्राप्त कर लिया। यह उल्लेखनीय है कि स्वतंत्रता मिलने के दो वर्ष बाद संविधान तैयार हुआ और यह समय इतना पर्याप्त था कि संविधान सभा जो भी चाहती कर सकती थी। लेकिन ऐसा कुछ नहीं हुआ जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि संविधान सभा के गठन की वैधानिक पहल भले ही कैबिनेट मिशन योजना के रूप में ब्रिटिश सरकार द्वारा की गई हो किन्तु संविधान सभा ने आन्तरिक और बाह्य रूप से एक स्वतंत्र और प्रभुता-संपन्न संस्था के रूप में ही कार्य किया।

2. संविधान सभा का प्रतिनिध्यात्मक स्वरूप

कॉंग्रेस के अन्तर्गत समाजवादी वर्ग तथा कुछ अन्य दलों द्वारा यह आपत्ति की गई कि संविधान सभा वास्तव में भारतीय जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करती क्योंकि इसका चुनाव जनता के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से न होकर प्रान्तीय विधानमण्डलों द्वारा किया गया है। समाजवादी नेता जयप्रकाश नारायण ने कहा कि "यह संविधान सभा अपने गठन में उस संविधान सभा से बहुत भिन्न है जिसकी रूपरेखा पंडित नेहरू ने हमारे सामने रखी थी। इसकी रचना ब्रिटिश सरकार ने की है, अतः हम इसके द्वारा उस स्वतंत्रता को प्राप्त करने की आशा कदापि नहीं कर सकते जिसके लिए हम संघर्ष करते रहे हैं।" उन्होंने इस बात पर बल दिया कि संविधान सभा का चुनाव वयस्क मताधिकार के आधार पर जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से किया जाना चाहिए था।

सैद्धान्तिक दृष्टि से उपर्युक्त विचार बिल्कुल ठीक लगता है किन्तु स्वतंत्रता की प्राप्ति के पूर्व और स्वतंत्रता मिलने के तुरन्त बाद की जो परिस्थितियाँ थीं, विशेषकर भारत-विभाजन और उसके बाद बड़े पैमाने पर होनी वाली हिंसा ने सांप्रदायिकता और देशव्यापी अशान्ति का जो वातावरण उत्पन्न कर दिया था उसमें संविधान सभा के गठन के लिए आम चुनाव कराया जाना संभव ही न था। यह भी उल्लेखनीय है कि अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होने के कारण भले ही संविधान सभा को एक प्रतिनिधि संस्था न कहा जाए लेकिन अपनी सदस्यता की दृष्टि से यह देश के हर क्षेत्र, धर्म, वर्ग और व्यवसाय का प्रतिनिधित्व करती थी। उसमें सभी दलों के चोटी के नेता, विधिवेत्ता, बुद्धिजीवी तथा प्रशासनिक योग्यता रखने वाले लोग शामिल थे। उदाहरण के लिए पंडित नेहरू, सरदार पटेल, डा0 राजेन्द्र प्रसाद, मौलाना अबुल कलाम आजाद, राजगोपालाचारी, पुरुषोत्तमदास टण्डन, के0एम0मुंशी, आचार्य जे0बी0कृपलानी, डा0बी0आर0 अम्बेडकर, श्यामा प्रसाद मुखर्जी, डा0 राधाकृष्णन, एन0जी0आयंगर, के0संथानम, बी0शिवराज आदि। मुस्लिम लीग के टिकट पर चुने गए वह सदस्य भी जो पाकिस्तान नहीं गए उन्हें भी संविधान सभा में शामिल किया गया। के0संथानम के अनुसार "जनमत का कोई भी ऐसा वर्ग नहीं था जिसे संविधान सभा में प्रतिनिधित्व प्राप्त न हो।" ग्रेनविल आस्टिन का कहना है कि "अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित और इस दृष्टि से भारतीय जनता के प्रति उत्तरदायी न होने पर भी संविधान सभा अत्यधिक प्रतिनिध्यात्मक संस्था थी।"

3. संविधान के पीछे लोक-स्वीकृति (Popular Sanction) का अभाव

संविधान के विरुद्ध यह भी आपत्ति की गई कि उस पर जनमत संग्रह कराए बगैर ही उसे लागू कर दिया गया अतः संविधान को जन-अनुसमर्थन प्राप्त नहीं था। आलोचकों का यह कहना है कि यदि तत्कालीन अशान्तिपूर्ण परिस्थितियों में वयस्क मताधिकार के आधार पर संविधान सभा का चुनाव कराया जाना संभव नहीं था तो कम से कम संविधान को जनता के समक्ष रखकर उसका अनुमोदन तो कराया ही जाना चाहिए था। लेकिन इस आलोचना के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि जिन कारणों से स्वयं संविधान सभा का चुनाव प्रत्यक्ष रूप से जनता द्वारा नहीं कराया जा सका उन्हीं कारणों से संविधान पर जनमत संग्रह कराना भी संभव नहीं था क्योंकि उसके लिए भी पूरे देश में मतदान कराना पड़ता जो उस समय की विषम परिस्थितियों में व्यावहारिक नहीं था।

1.5 संविधान सभा के समक्ष चुनौतियाँ

संविधान सभा के सामने जो प्रमुख मुद्दे या चुनौतियाँ थीं उनमें से कुछ का उल्लेख आगे किया जा रहा है–

1. विरोधी हितों का समन्वय

संविधान सभा का पहला कार्य था देश में पायी जाने वाली विविधताओं के बीच एकता स्थापित करना,

परस्पर विरोधी हितों को बीच सामंजस्य कायम करना, धर्म, जाति के आधार पर विभाजित सामाजिक वर्गों को एक मंच पर लाना और एक ऐसी शासन व्यवस्था को स्थापित करना जो समाज के सभी वर्गों के लिए स्वीकार्य हो।

स्वतंत्रता के बाद देश के सामने विभिन्न प्रकार की समस्याएँ थीं जिनके निराकरण के लिए अलग-अलग विचारधाराएँ थीं जिनके बीच कुछ मुद्दों पर मतैक्य था और कुछ के विषय में मतभेद। विभिन्न राजनैतिक वैचारिकियों का प्रतिनिधित्व संविधान सभा में भी था। अतएव संविधान सभा की मौलिक समस्या यह थी कि इन परस्पर विरोधी विचारधाराओं के मानने वालों और विभिन्न वर्गों और हितों का प्रतिनिधित्व करने वालों को कैसे संतुष्ट किया जाए। इस समस्या को दृष्टि में रखते हुए संविधान सभा ने संविधान-निर्माण प्रक्रिया में 'सहमति' और 'समायोजन' के सिद्धान्तों को अपनाया। संविधान सभा की विभिन्न समितियों में सभी वर्गों हितों और विचारधाराओं को प्रतिनिधित्व दिया गया और इस बात का प्रयास किया गया कि मात्र संख्या के आधार पर निर्णय न लिए जाएँ वरन् सभी की सहमति से कार्य किया जाए। इस स्थिति पर प्रकाश डालते हुए एम0वी0पायली ने लिखा है कि "संविधान सभा में वाद-विवाद को पूरा प्रोत्साहन मिला, आलोचना के प्रति सहनशीलता अपनायी गई, लम्बे वाद-विवाद के प्रति असंतोष नहीं दिखाया गया, अपने विचार दूसरों पर लादने एवं शीघ्रता से कार्य समाप्त करने का प्रयास नहीं किया गया। यह एक पूर्ण लोकतान्त्रिक प्रक्रिया थी जिस पर भारत के लोग गर्व कर सकते हैं।"

संविधान सभा ने लगभग सभी महत्वपूर्ण और विवादास्पद मुद्दों पर जल्दबाजी के बजाए सहनशीलता से विचार किया। उदाहरण के लिए भाषाई विवाद को सर्वसम्मत से हल करने के लिए संविधान सभा को लगभग तीन वर्षों तक विचार-विमर्श करना पड़ा और अन्त में सर्वसम्मति से हिन्दी को राजभाषा के रूप में स्वीकार किया गया।

सभा यह भी चाहती थी कि संविधान मात्र बहुमत के बल पर नहीं वरन् सबकी सहमति से बनाया जाए इस लक्ष्य को दृष्टि में रखते हुए संविधान सभा ने व्यावहारिकता को आधार बनाया और परस्पर विरोधी विचारधाराओं में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया। उदाहरण के लिए संघात्मक और एकात्मक व्यवस्था के बीच, पूँजीवाद और समाजवाद के बीच समन्वय, तथा केंद्रीकरण और विकेंद्रीकरण के दृष्टिकोण के बीच सामंजस्य स्थापित किया गया। उदाहरण के लिए डॉ0 राजेन्द्र प्रसाद तथा कुछ अन्य सदस्य यह चाहते थे कि संसद का चुनाव अप्रत्यक्ष रूप से पंचायतों और नगरपालिकाओं द्वारा किया जाए। नेहरू तथा कुछ अन्य सदस्य संसद का निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर अप्रत्यक्ष रूप से चाहते थे। संविधान सभा ने दोनों ही बातों को मान लिया। संसद का निर्वाचन प्रत्यक्ष कर दिया गया और पंचायती व्यवस्था को नीति-निदेशक सिद्धान्तों का अंग बना दिया गया। *(73वें संशोधन द्वारा पंचायती व्यवस्था को सांविधानिक दर्जा दे दिया गया।)*

2. देशी रियासतों की समस्या

स्वतंत्रता के समय भारत में लगभग 600 देशी रियासतें थीं जो स्वतंत्र ढंग से शासन कार्य कर रही थीं। कैबिनेट मिशन योजना में देशी रियासतों को यह स्वतंत्रता दी गई थी कि वह स्वतंत्र रह सकती हैं या भारत अथवा पाकिस्तान में मिल सकती हैं। इनमें कुछ रियासतें अपनी स्वतंत्रता को बनाए रखना चाहती थीं और भारतीय संघ में विलय के पक्ष में नहीं थीं। एक स्वतंत्र और प्रभुतासंपन्न राज्य के भू-क्षेत्र में स्थित, पूर्ण स्वायत्ता चाहने वाली इन कठिनाइयों की स्थिति क्या हो, संविधान सभा के सामने यह बहुत बड़ी चुनौती थी। संविधान सभा ने संघीय व्यवस्था के विभिन्न पक्षों पर विचार-विमर्श में लगभग दो वर्ष का समय लगाया। वह न तो किसी देशी राज्य के विरुद्ध शक्ति का प्रयोग करने के पक्ष में थी और न ही किसी प्रान्त या क्षेत्र (देशी रियासत) को संघ से बिल्कुल स्वतंत्र रहने का

अधिकार ही दे सकती थी। इसीलिए संघीय शक्ति समिति (Union Power Committee) में विभिन्न प्रान्तों और रियासतों की राजनीति में प्रभाव रखने वाले व्यक्तियों को सम्मिलित किया गया। समुचित विचार-विमर्श के उपरान्त भारतीय संविधान ने संघ-शासन की एक ऐसी योजना बनाई जिसमें तीन प्रकार की राजनैतिक इकाईयों को मान्यता दी गई और विशेषकर देशी रियासतों के हितों का पूरा ख्याल रखा गया। धीरे-धीरे एक ऐसा राजनैतिक वातावरण तैयार हो गया कि 1956 में राज्य-पुनर्गठन आयोग द्वारा देशी रियासतों का अन्त ही हो गया।

3. सांप्रदायिकता और संविधान का स्वरूप

भारत-विभाजन के समय पूरे देश में बड़े पैमाने पर हिन्दू-मुस्लिम दंगे हो रहे थे। हिन्दू-बहुमत का एक वर्ग देश में हिन्दू राज्य स्थापित करना चाहता था। इसके विपरीत मुसलमानों की एक बड़ी संख्या पाकिस्तान नहीं जाना चाहती थी और इसी देश में रहने के पक्ष में थी। मुसलमान भारत में सबसे बड़ा अल्पसंख्यक समूह था। संविधान सभा ने सांप्रदायिक उन्माद से भयभीत हुए बगैर धर्मतंत्र के बजाए एक धर्म-निरपेक्ष संविधान का निर्माण किया और धर्म, जाति अथवा किसी अन्य आधार पर भेदभाव किए बिना सभी नागरिकों को समान राजनैतिक अधिकार दने का प्रावधान किया।

4. अल्पसंख्यकों की समस्या

भारत में धर्म, भाषा, संस्कृति आदि के आधार पर अनेक अल्पसंख्यक समूह पाए जाते हैं। धर्म के आधार परर सबसे बड़ा अल्प-संख्यक समूह मुसलमान हैं जिनकी जनसंख्या देश की कुल आबादी का लगभग 12 प्रतिशत है। शेष धार्मिक अल्पसंख्यक जैसे सिख, ईसाई आदि की संख्या 2-3 प्रतिशत से अधिक नहीं है। भाषायी वृद्धि से भी मुसलमान सबसे बड़ा भाषी अल्पसंख्यक समूह है। धर्म और भाषा के अतिरिक्त सांस्कृतिक वृद्धि से भी भारत के विभिन्न क्षेत्रों में रहने वाले लोगों के बीच मूलभूत विषमताएँ पाई जाती हैं और विभिन्न सांस्कृतिक समूह अपनी पहचान बनाए रखने के लिए प्रयत्नशील रहे हैं।

एक जनतंत्रीय शासन व्यवस्था में जो बहुमत के सिद्धान्त से संचालित होती है, अल्पसंख्यकों का विशेष महत्व होता है। भारत में स्वतंत्रता-पश्चात हो रहे सांप्रदायिक दंगों के परिप्रेक्ष्य में अल्पसंख्यकों की सुरक्षा और उनके हितों का संरक्षण संविधान सभा के सम्मुख एक ज्वलंत मुद्दा था। मौलाना आजाद चाहते थे कि सामान्य चुनाव क्षेत्र होते हुए भी मुसलमान तथा अन्य अल्पसंख्यकों के लिए सीटें आरक्षित की जाएँ। सरदार पटेल इस प्रकार के आरक्षण के खिलाफ थे। संविधान सभा की दो अल्पसंख्यक सदस्य राजकुमारी अमृत कौर (ईसाई अल्पसंख्यक) और बेगम एजाज़ रसूल (मुस्लिम अल्पसंख्यक) ने आरक्षण का विरोध किया। बेगम एजाज रसूल ने कहा कि जो मुसलमान भारत में रह गए हैं ये राष्ट्र का अभिन्न अंग है, इसलिए उन्हें विशेष संरक्षण की आवश्यकता नहीं है।

संविधान सभा ने मुसलमानों तथा अन्य अल्पसंख्यकों के लिए आरक्षण की मांग को तो नहीं माना किन्तु उसने अल्पसंख्यकों के विकास के लिए विशेष सुविधाएँ देने का प्रावधान किया। संविधान के भाग 3 में मूल अधिकार के रूप में अल्पसंख्यकों को कुछ सांस्कृतिक एवं शैक्षिक अधिकार दिए गए हैं। अनुच्छेद 29 में अल्पसंख्यकों को अपनी विशेष भाषा, लिपि या संस्कृति को बनाए रखे तथा राज्य-निधि से सहायता पाने वाली किसी शिक्षा संस्था में किसी प्रकार के भेदभाव के बिना प्रवेश पाने का अधिकार दिया गया है। अनुच्छेद 30 में धर्म या भाषा पर आधारित सभी अल्पसंख्यक वर्गों को अपनी रूचि की शिक्षा संस्थाओं की स्थापना और प्रशासन का अधिकार प्रदान किया गया है। यह भी प्रावधान किया गया है कि शिक्षा-संस्थाओं को सहायता देने में राज्य किसी अल्पसंख्यक शिक्षा-संस्था के विरूद्ध कोई भेदभाव नहीं करेगा।

उपर्युक्त प्रावधान इस बात को स्पष्ट करते हैं कि संविधान सभा अल्पसंख्यकों के हितों और अधिकारों के प्रति अत्यधिक सचेत और संवेदनशील थी और प्रतिकूल सामाजिक वातावरण में भी संविधान सभा ने अल्पसंख्यकों की समस्या का समाधान करने का प्रयास किया।

5. वैचारिकीय विभिन्नता

यद्यपि संविधान सभा में कॉंग्रेस पार्टी को भारी बहुमत प्राप्त था (कुल 296 में से 208 सदस्य) किन्तु इसमें मुस्लिम लीग तथा अनेक अन्य राजनैतिक दलों के प्रतिनिधि भी निर्वाचित होकर आए थे जिनकी राजनैतिक विचारधारा कॉंग्रेस से बिल्कुल भिन्न थी। संविधान सभा में विभिन्न धर्मों, जातियों, क्षेत्रों और विभिन्न भाषाओं के बोलने वालों को प्रतिनिधित्व प्राप्त था। इनकी विचारधाराओं तथा हितों में टकराव था।

मोटे तौर पर संविधान सभा में उदारवादी, पूँजीवादी समाजवादी, साम्यवादी, गाँधीवादी, परंपरावादी और प्रगतिशील विचारधाराओं के समर्थक सदस्य थे जो संविधान को अपनी-अपनी वैचारिकी के अनुसार बनाना चाहते थे। इन परस्पर विरोधी विचारधाराओं के बीच सामंजस्य स्थापित करना संविधान सभा का सबसे बड़ा कारनामा था। यही कारण है कि भारतीय संविधान किसी एक राजनैतिक विचारधारा से जुड़ा हुआ नहीं है उसमें उपर्युक्त लगभग सभी विचारधाराओं के तत्व विद्यमान है। इन परस्पर विरोधी विचारधारों के बीच सामंजस्य स्थापित करना संविधान बनाने वाले की विधिक क्षमता, दूरदर्शिता और उनकी सहनशीलता का परिचायक है।

6. केंद्रीकरण और विकेंद्रीकरण

संविधान-निर्मात्री सभा में गाँधीवादी दर्शन के समर्थक गाँधी जी के ग्राम स्वराज्य के सपने को साकार करने के लिए राजनैतिक सत्ता का अधिक से अधिक विकेंद्रीकरण चाहते थे। उनका कहना था कि देश में पंचायती राज व्यवस्था को स्थापित करके शासन व्यवस्था में ग्रामीण जनता की भागीदारी को बढ़ाया जाना चाहिए। उन्होंने यह भी सुझाव दिया कि पंचायतों का चुनाव वयस्क मताधिकार के अनुसार होना चाहिए और संसद का चुनाव पंचायतों के सदस्यों के द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से किया जाना चाहिए। इस प्रकार ग्रामों को राजनैतिक सत्ता का वास्तविक केंद्र बनायां जांना चाहिए।

ग्राम स्तर पर सता के विकेंद्रीकरण के प्रबल समर्थकों के विरुद्ध पंडित जवाहर लाल नेहरू तथा डॉ0 बी0 आर0 अम्बेडकर ग्रामों को राजनैतिक सत्ता का केंद्र बनाने के विरुद्ध थे। संविधान सभा ने इस समस्या के समाधान हेतु दोनों ही दृष्टिकोणों को संविधान में अपना लिया उन्होंने शक्तिशाली केंद्र की स्थापना तो की ही लेकिन गाँधीवादियों की माँग को भी नकारा नहीं। संविधान सभा ने पंचायती राज व्यवस्था को नीति-निदेशक सिद्धान्तों में शामिल करते हुए राज्यों से यह अपेक्षा की कि वे आवश्यकता और परिस्थितियों के अनुसार ग्राम पंचायतों की स्थापना करेंगे और स्थानीय स्वशासन की दृष्टि से उन्हें आवश्यक शक्तियाँ प्रदान करेंगे। उल्लेखनीय है कि 1993 में किए गए 73वें संविधान-संशोधन द्वारा पंचायती राज व्यवस्था को शासन की तृतीय इकाई के रूप में सांविधानिक मान्यता दे दी गई है।

7. संसदीय बनाम अध्यक्षीय शासन प्रणाली

देश में कार्यपालिका का क्या स्वरूप होगा, यह एक मौलिक एवं महत्वपूर्ण प्रश्न था। संविधान सभा के समक्ष कार्यकारिणी के तीन मॉडल थे–इंग्लैण्ड की संसदीय प्रणाली, अमेरिका की अध्यक्षात्मक व्यवस्था और स्विटजरलैंड की बहुल कार्यपालिका। समुचित विचार विमर्श के बाद संविधान सभा ने भारत के लिए संसदीय शासन व्यवस्था का चयन किया क्योंकि अन्य कारणों के अतिरिक्त, भारतवासी इस प्रणाली से भलीभांति परिचित थे।

कार्यपालिका के स्वरूप से ही जुड़ा हुआ दूसरा प्रश्न राष्ट्रपति की चुनाव प्रणाली का था। संविधान सभा के सदस्यों के एक वर्ग की यह प्रबल इच्छा थी कि भारतीय गणतंत्र के प्रधान का चुनाव जनता द्वारा प्रत्यक्ष रुप से किया जाए। विचारों के आदान-प्रदान और समुचित तर्क-वितर्क के बाद संविधान-निर्माताओं ने राष्ट्रपति का चुनाव एक निर्वाचक मण्डल के द्वारा किए जाने का निर्णय लिया।

राष्ट्रपति की शक्तियों के विषय में भी संविधान सभा में बड़ा वाद-विवाद रहा। कुछ सदस्यों ने यह विचार व्यक्त किया कि राष्ट्रपति को दी गई व्यापक शक्तियाँ, विशेषकर उसकी आपातकालीन शक्तियाँ राष्ट्रपति को आसानी से तानाशाह बना देंगी और यह शक्तियाँ जर्मनी के वेमार संविधान के समतुल्य हैं।

8. कुछ अन्य विवादस्पद प्रश्न

केंद्र और राज्यों के बीच शक्तियों के वितरण का प्रश्न गम्भीर विवाद का विषय रहा। संविधान सभा का एक वर्ग यह चाहता था कि राज्यों को अधिक शक्तियाँ प्रदान की जाएं लेकिन निर्णय केंद्र के पक्ष में ही हुआ और आम सहमति यही बनी कि तत्कालीन राजनैतिक अस्थिरता की परिस्थितियों में, देश की एकता और अखण्डता को बनाए रखने के लिए केंद्र को ज्यादा शक्तिशाली बनाया जाना चाहिए।

नीति-निदेशक सिद्धान्तों को संविधान में समाहित करने का संविधान सभा के कुछ सदस्यों ने काफी मजाक उड़ाया। उनका तर्क यह था कि न्याय-योग्य न होने के कारण नीति-निदेशक सिद्धान्तों की स्थिति नैतिक उपदेशों से ज्यादा नहीं है जिनका अनुपालन करना राज्य की इच्छा पर निर्भर करेगा। संविधान सभा के कुछ सदस्यों ने यह माँग की कि नीति-निदेशक सिद्धान्तों को क्रियान्वित करना राज्यों के लिए अनिवार्य कर देना चाहिए लेकिन अनेक कारणों से नीति-निदेशक सिद्धान्तों को बाध्यकारी बनाना संभव नहीं पाया गया।

उपर्युक्त महत्वपूर्ण बिन्दुओं के अतिरिक्त संविधान सभा में कुछ और मुद्दों पर भी जैसे भारतीय संघ में जम्मू और कश्मीर की स्थिति, उपराष्ट्रपति का चुनाव, तथा वयस्क मताधिकार आदि के विषय में भी काफी वाद-विवाद हुआ। संविधान सभा ने परस्पर विरोधी विचारधाराओं के बीच, हर वर्ग और हर सदस्य को अपने विचार व्यक्त करने का पूरा अवसर देते हुए, पूरे संयम, और सहनशीलता के साथ, 'सहमति' और 'समन्वय' के आदर्श को अपनाकर स्वतंत्र भारत के संविधान की रचना की जो मौलिक न होते हुए भी अपनी अलग पहचान रखता है।

1.6 संविधान–निर्माण की प्रक्रिया

9 दिसम्बर 1946 को संविधान सभा की प्रथम बैठक हुई जिसमें सच्चिदानंद सिन्हा को अस्थायी अध्यक्ष चुना गया। सभा के सदस्यों ने रजिस्टर पर हस्ताक्षर करके अपनी उपस्थिति दर्ज करायी। 11 दिसम्बर 1946 को डॉ0 राजेन्द्र प्रसाद को संविधान सभा का स्थायी अध्यक्ष चुना गया। 13 दिसम्बर 1946 को जवहार लाल नेहरू ने 'उद्देश्य प्रस्ताव' प्रस्तुत किया जिसमें संविधान के आधारभूत सिद्धान्तों और लक्ष्यों का उल्लेख किया गया था। उद्देश्य प्रस्ताव पेश करते हुए नेहरू ने कहा "मैं आपके सामने जो प्रस्ताव प्रस्तुत कर रहा हूँ उसमें हमारे उद्देश्यों की व्याख्या की गई है, योजना की रूपरेखा दी गई है और बताया गया है कि हम किस रास्ते पर चलने वाले हैं।" 22 जनवरी, 1947 को संविधान सभा ने सर्वसम्मति से उद्देश्य प्रस्ताव को पास किया जिसके पश्चात् संविधान-निर्माण का रास्ता प्रशस्त हो गया।

उद्देश्य प्रस्ताव की रौशनी में संविधान के विभिन्न पक्षों पर विचार-विमर्श के लिए संविधान सभा ने

अनेक समितियों को नियुक्त किया जैसे-

1. संघ संविधान समिति
2. प्रान्तीय संविधान समिति
3. संघ शक्ति समिति
4. मूल अधिकारों, अल्पसंख्यकों, आदि से संबंधित परामर्श समिति
5. प्रारूप समिति इत्यादि।

30 जून 1947 को, ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रकाशित की गई योजना के अनुसार देश का विभाजन स्वीकार कर लिया गया। विभाजन के उपरान्त संविधान सभा की सदस्य संख्या घटकर 324 रह गई।

29 अगस्त 1947 को संविधान सभा ने प्रारूप समिति की नियुक्ति की। डॉ0 बी0आर0अम्बेडकर को इस समिति का अध्यक्ष बनाया गया। इस समिति का कार्य यह था कि वह संविधान सभा की परामर्श शाखा द्वारा तैयार किए गए संविधान का परीक्षण करे और फिर उसे संविधान सभा के समक्ष प्रस्तुत करे। अक्टूबर 1947 में सांविधानिक परामर्शदाता बी0एन0राव के निर्देशन में संविधान सभा के सचिवालय की परामर्श शाखा ने संविधान का पहला प्रारूप तैयार कर लिया। प्रारूप समिति ने फरवरी 1948 में संविधान का प्रारूप संविधान सभा के अध्यक्ष के सिपुर्द कर दिया। प्रारूप-संविधान के प्रकाशित होने के बाद उसमें संशोधन के बहुत से सुझाव प्राप्त हुए। एक विशिष्ट समिति ने इन सुझावों पर विचार विमर्श करने के उपरान्त प्रारूप-संविधान का पुनरीक्षित संस्करण प्रकाशित किया। 15 नवम्बर 1948 से प्रारूप-संविधान पर विचार प्रारंभ हुआ। इस वाचन में लगभग 7,635 संशोधन प्रस्तुत किए गए जिनमें 2,473 संशोधनों पर सविस्तार विचार किया गया। 26 नवम्बर 1949 को संविधान अन्तिम रूप से संविधान सभा द्वारा पारित किया गया और 26 जनवरी 1950 को उसे लागू किया गया। इसी दिन संविधान सभा ने स्वतंत्र भारत की अन्तरिम संसद का रूप धारण किया।

भारतीय संविधान के निर्माण में दो वर्ष 11 महीने और 18 दिन का समय लगा। संविधान के प्रारूप पर 114 दिनों तक चर्चा हुई। 26 नवम्बर 1949 को संविधान अंगीकृत हुआ और संविधान के कुछ अनुच्छेद उसी दिन से लागू कर दिए गए जबकि संपूर्ण संविधान 26 जनवरी 1950 को लागू हुआ। 26 जनवरी की तिथि का चयन उसके ऐतिहासिक महत्व के कारण किया गया। 1930 में इसी तारीख (26 जनवरी) को भारतीय कांग्रेस ने पूर्ण स्वतंत्रता का संकल्प लिया था।

1.7 सारांश

भारतवासियों को स्वयं अपना संविधान बनाने का अधिकार दिया जाए, यह माँग स्वतंत्रता प्राप्ति से बहुत पहले विभिन्न नेताओं और संगठनों द्वारा की गई थी। लेकिन ब्रिटिश सरकार ने उस पर कोई ध्यान नहीं दिया। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय दबाव के कारण मार्च 1946 में ब्रिटिश सरकार ने भारत के लिए एक संविधान सभा के गठन के लिए ब्रिटिश मंत्रिमण्डल के तीन सदस्यों से निर्मित एक प्रतिनिधिमण्डल भारत भेजा जिसे कैबिनेट मिशन कहा जाता है। इस मिशन ने भारतीय संविधान के निर्माण किए जाने की एक योजना प्रस्तुत की जिसे भारतीय नेताओं ने स्वीकार किया। इस योजना में तत्कालीन प्रान्तीय विधानमण्डलों और देशी रियासतों को उनकी जनसंख्या के अनुसार निर्धारित संख्या में संविधान सभा के लिए प्रतिनिधि चुनने का अधिकार दिया गया था। जुलाई 1946 में कैबिनेट मिशन योजना के अनुसार संविधान सभा के प्रतिनिधियों का चुनाव किया गया इसे भारत का संविधान बनाने का कार्य सौंपा गया। इस प्रकार संविधान सभा जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित निकाय तो न थी लेकिन इस सभा में विभिन्न राजनैतिक दलों के सदस्य और समाज के

लगभग हर वर्ग को प्रतिनिधित्व प्राप्त था।

संविधान सभा के समक्ष अनेक गंभीर समस्याएँ थीं। पूरे देश में बड़े स्तर पर होने वाले सांप्रदायिक दंगे, धर्म के आधार पर देश का विभाजन, देशी रियासतों को नव-निर्मित संघ से जोड़ने की समस्या ऐसी कितनी ही चुनौतियां थीं जिनको दृष्टिगत रखते हुए संविधान सभा को एक संविधान बनाना था। यद्यपि संविधान सभा में कांग्रेस पार्टी को पूर्ण बहुमत हासिल था लेकिन संविधान सभा ने बड़ी ही सहनशीलता के साथ सहमति और समन्वय के सिद्धान्तों के अनुसार ऐसा संविधान बनाने का प्रयास किया जो मात्र बहुमत के जोर पर नहीं बल्कि सबकी सहमति से तैयार किया जाए। इसलिए संविधान सभा में एक-एक अनुच्छेद पर विस्तार से वाद-विवाद हुआ और लगभग तीन वर्ष के परिश्रम के बाद भारत का संविधान तैयार हुआ। इस संविधान को 26 नवम्बर 1949 को अंगीकृत किया गया और इसके कुछ प्राविधान उसी तिथि से लागू कर दिए गए। शेष संविधान 26 जनवरी 1950 से लागू किया गया।

1.8 संदर्भ ग्रन्थ/उपयोगी पुस्तकें

1. Banerjee, A.C. Making of the Indian Constitution.
2. Pylee, M.V., Constitutional Government in India.
3. Rao, B. Shiva, The framing of India's Constitution.

1.9 संबंधित प्रश्न

दीर्घ-उत्तरीय प्रश्न

1. कैबिनेट मिशन योजना का उल्लेख कीजिए।
2. आप इससे कहाँ तक सहमत हैं कि संविधान सभा प्रभुतासंपन्न तथा जन-प्रतिनिधिक संस्था नहीं थी।
3. संविधान सभा को संविधान बनाते समय किन कठिनाइयों और चुनौतियों का सामना करना पड़ा? संविधान सभा ने उनका निराकरण कैसे किया?

लघु-उत्तरीय प्रश्न

1. संविधान सभा के गठन का क्या आधार था?
2. संविधान सभा ने भारत का संविधान कितने चरणों में बनाया?
3. भारत के संविधान बनाने में किन लोगों ने विशेष योगदान दिया?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. संविधान सभा के प्रथम सभापति कौन थे?

   (A) डॉक्टर बी0आर0अम्बेडकर

   (B) डॉक्टर राजेन्द्र प्रसाद

   (C) सच्चिदानन्द सिन्हा

   (D) जवाहर लाल नेहरू

2. संविधान सभा की प्रारूप समिति का अध्यक्ष कौन था?

(A) डॉक्टर राजेन्द्र प्रसाद

(C) डॉ0बी0आर0अम्बेडकर

(D) उपर्युक्त में से कोई नहीं

3. भारतीय संविधान किस तिथि को अंगीकृत किया गया?

(A) 26 नवम्बर 1949

(B) 26 जनवरी 1950

(C) 15 अगस्त 1947

(D) 02 अक्टूबर 1950

1.10 प्रश्नोत्तर

1. C
2. C
3. A

इकाई 2 भारतीय संविधान की आधारभूत विशेषताएँ

इकाई की रुपरेखा

2.0 उद्देश्य
2.1 प्रस्तावना
2.2 जन-संप्रभुता
2.3 लोकतंत्रात्मक गणराज्य
2.4 संविधान की विशालता
2.5 विदेशी सूत्रों से गृहीत संविधान
2.6 संघीय शासन व्यवस्था
2.7 संसदात्मक कार्यपालिका
2.8 न्यायपालिका की सर्वोच्चता
2.9 मूल अधिकार एवं मूल कर्त्तव्य
2.10 राज्य के नीति-निदेशक सिद्धान्त
2.11 संशोधन-विधि की विलक्षणता
2.12 संविधान की धर्म-निरपेक्षता
2.13 सारांश
2.14 संदर्भ ग्रन्थ/उपयोगी पुस्तकें
2.15 संबंधित प्रश्न
2.16 प्रश्नोत्तर

2.0 उद्देश्य

संविधान-निर्मात्री सभा से लेकर आज तक भारतीय संविधान न जाने कितने आक्षेप और आलोचनाओं का शिकार रहा है। भारतीय संविधान "उधार का थैला" है, यह "वकीलों का स्वर्ग" है, इसमें मौलिकता का अभाव है, इसमें 'भारतीयता' नहीं है, यह 'देखने में संघात्मक है लेकिन इसकी आत्मा एकात्मक है, ऐसी कितनी ही बातें भारतीय संविधान के विषय में कही गई हैं। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

- भारतीय संविधान की मूल विशेषताओं का आलोचनात्मक विवेचना कर सकेंगे,
- मूल अधिकार व मूल कर्त्तव्यों का उल्लेख कर सकेंगे,
- राज्य के नीति-निदेशक सिद्धान्तों का विवरण कर सकेंगे,
- संविधान की धर्म-निरपेक्षता पर टिप्पणी कर सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

भारत विविधताओं का देश है। यहाँ अनेक धर्म, अनगिनत जातियाँ, भिन्न-भिन्न संस्कृतियाँ, सैकड़ों भाषाएँ और अनेक प्रकार की आर्थिक व सामाजिक विषमताएँ पाई जाती हैं। यह विविधताएँ विभिन्न प्रकार की समस्याओं को जन्म देती हैं जिनका निराकरण करना शासन-व्यवस्था/संविधान का दायित्व होता है। भारतीय संविधान-निर्मात्री सभा को भी इन समस्याओं को दृष्टिगत रखते हुए एक ऐसे संविधान का निर्माण करना था जो विभिन्न चुनौतियों का सामना कर सके। संविधान बनाने वालों का उद्देश्य किसी आदर्श या अनोखे संविधान की रचना करना नहीं था, वह एक व्यावहारिक संविधान बनाना चाहते थे लेकिन उन्होंने विभिन्न देशों के संविधानों से उन सिद्धान्तों और संस्थाओं को अपना लिया जो इस देश की परिस्थितियों के अनुकूल थे। भारत का संविधान किसी एक राजनैतिक विचारधारा से बंधा हुआ नहीं है यह विभिन्न विचारधाराओं का सम्मिश्रण है। उदाहरण के लिए इसमें व्यक्तिवाद, समाजवाद, पूँजीवाद, मानवतावाद, उदारवाद, धर्म-निरपेक्षतावाद आदि के तत्व पाए जाते हैं। इस देश की संस्कृति मिश्रित है, अर्थव्यवस्था मिश्रित है और राजनैतिक व्यवस्था भी मिश्रित है। भारत के संविधान ने किसी एक देश के संविधान से सब कुछ नहीं लिया है वरन् हर संविधान से कुछ-कुछ लिया है और जो कुछ लिया है उसे भी अपनी परिस्थितियों के अनुसार संशोधित करके अपनाया है। परिणामस्वरूप भारतीय संविधान का जो स्वरूप उभर कर सामने आया है उसमें मौलिकता का भले ही अभाव हो किन्तु उसकी अपनी कुछ विलक्षणताएँ अवश्य हैं, जो निम्नवत हैं–

2.2 जन-संप्रभुता

भारतीय संविधान की मूल विशेषताओं का संकेत संविधान की उद्देशिका से मिलता है। उद्देशिका संविधान का सार है और जो कुछ पूरे संविधान में है उसका निचोड़ उद्देशिका में मिलता है। उद्देशिका में कहा गया है कि 'हम, भारत के लोग, भारत को एक संपूर्ण प्रभुत्व-संपन्न समाजवादी पंथनिरपेक्ष लोकतंत्रात्मक गणराज्य बनाने के लिए....इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।" संविधान की उद्देशिका का प्रारंभ "हम भारत के लोग" शब्दों से होता है जो इस बात का द्योतक है कि भारत में राजनैतिक सत्ता अन्तिम रूप से जनता के पास है जिसका प्रयोग करते हुए उसने इस संविधान को बनाया है, उसे अंगीकृत और अपने को अर्पित किया है। इस तथ्य की पुष्टि, कि जनता को सरकार बनाने और बदलने का अन्तिम अधिकार है, संविधान के अनुच्छेद 326 से होती है जिसमें यह घोषणा की गई है कि लोक सभा तथा राज्य विधानमण्डलों के निर्वाचन वयस्क मताधिकार द्वारा संपन्न होंगे। राष्ट्रपति के उच्चतम पद से लेकर ग्राम पंचायत की सदस्यता तक समस्त राजनैतिक पदों के लिए कोई भी व्यक्ति चुनाव लड़ सकता है। सरकार जनता के प्रति इन अर्थों में उत्तरदायी है कि यदि वह जनता की आशाओं और अपेक्षाओं के अनुरूप काम नहीं करती तो अगले चुनाव में उसे हटाया जा सकता है।

2.3 लोकतंत्रात्मक गणराज्य

संविधान की उद्देशिका में भारत में एक लोकतंत्रात्मक गणराज्य स्थापित करने का संकल्प लिया गया है। साधारणतया यह समझा जाता है कि एक गणराज्य में सरकार भी अनिवार्य रूप से लोकतांत्रिक होगी। इस दृष्टि से संविधान में इन दोनों शब्दों का प्रयोग एक साथ न होना चाहिए था लेकिन हमारे संविधान में इन दोनों ही शब्दों का प्रयोग किया गया है जो संविधान-निर्माताओं की जनसंप्रभुता के प्रति प्रतिबद्धता तथा आस्था का परिचायक है। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने इन दोनों शब्दों के प्रयोग करने का यह कारण बताया था कि हो सकता है कि किसी राज्य में देश के प्रधान को जनता के

द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित करने का प्रावधान तो कर दिया जाए किन्तु शासन की अन्य संस्थाओं के गठन में जनता को कोई अधिकार न दिया जाए। उदाहरण के लिए राष्ट्रपति तो जनता के द्वारा निर्वाचित हो और विधानमण्डल और मंत्रिपरिषद् को मनोनीत करने का अधिकार राष्ट्रपति को दे दिया जाए। ऐसी स्थिति में संविधान तो गणतंत्रात्मक होगा किन्तु सरकार गैर जनतंत्रात्मक होगी। इस तरह की कोई स्थिति उत्पन्न न होने पाए इसलिए संविधान की उद्देशिका में भारत को लोकतंत्रात्मक गणराज्य घोषित किया गया है जिसका अर्थ यह है कि न केवल देश का प्रधान वरन् समस्त राजनैतिक संस्थाएँ जनता के द्वारा निर्वाचित की जाएँगी।

2.4 संविधान की विशालता

आकार की दृष्टि से भारत का संविधान विश्व का सबसे बड़ा संविधान है। इसमें 395 अनुच्छेद 22 भाग तथा 12 अनुसूचियाँ हैं। अधिकांश अनुच्छेदों में अनेक धाराएँ और उपधाराएँ हैं, उनके स्पष्टीकरण और अपवाद हैं। इसके विपरीत अमेरिका के संविधान में केवल सात अनुच्छेद हैं, कनाडा के संविधान में 147 अनुच्छेद, आस्ट्रेलिया के संविधान में 128 अनुच्छेद और दक्षिण अफ्रीका के संविधान में 153 अनुच्छेद हैं। इस प्रकार अमेरिका का संविधान सब से संक्षिप्त या छोटा संविधान है जो 1789 से अब तक मात्र 26 संशोधनों की सहायता से जीवित है।

भारत में संविधान-निर्माता एक विस्तृत संविधान की रचना करना चाहते थे ताकि इस नव-स्थापित गणतंत्र में शासन-संचालन, विशेषकर केंद्र और राज्यों के बीच उनकी शक्तियों आदि के संबंध में कोई अस्पष्टता न रह जाए। अमेरिका के संविधान में राज्य सरकारों के गठन आदि का उल्लेख नहीं है क्योंकि वहाँ राज्यों के अपने अलग-अलग संविधान है। भारत के संविधान में राज्य-सरकारों के गठन और शक्तियों का भी सविस्तार उल्लेख किया गया है। संविधान का एक भाग मूल अधिकारों से संबंधित है जिसमें नागरिकों के अधिकारों का सविस्तार उल्लेख करने के साथ ही मूल अधिकार पर संभावित प्रतिबंधों का भी विवेचन किया गया है। संविधान के भाग 4 में लगभग 16 अनुच्छेदों में राज्य के नीति-निदेशक सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है। संविधान के अध्याय-11 में केंद्र-राज्य संबंधों की विस्तृत चर्चा की गई है। कतिपय प्रशासनिक संस्थाओं जैसे लोक सेवा आयोग, वित्त आयोग, निर्वाचन आयोग, भाषा आयोग तथा महालेखा परीक्षक आदि के गठन और शक्तियों का संविधान में विस्तृत रूप में उल्लेख किया गया है। इनके गठन का प्रावधान करना संसद पर भी छोड़ा जा सकता था। यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि संविधान बनाने वालों ने अस्पष्टताओं और भ्रान्तियों से बचने के लिए जानबूझ कर एक व्यापक संविधान की रचना की थी। संविधान सभा के एक सदस्य एच0वी0 कामथ ने कहा था कि "हमें इस बात का गर्व है कि हमारा संविधान विश्व का सबसे विशाल संविधान है।" यह भी रुचिकर तथ्य है कि इतना विस्तृत संविधान बनाने के बाद भी केवल 55 वर्षों में भारतीय संविधान में 92 संशोधन हो चुके हैं जबकि अमेरिकी संविधान में 200 वर्षों में केवल 26 संशोधन किए गए हैं। अगर भारतीय संविधान इतना विस्तृत और विशाल न होता तो शायद अब तक कई सौ संशोधनों की आवश्यकता पड़ चुकी होती। संविधान का 42वाँ संशोधन तो स्वयं में एक लघु संविधान था।

एक विस्तृत संविधान बनाने का उद्देश्य यह था कि शासन व्यवस्था से संबंधित सभी बिन्दुओं अथवा पक्षों को यथासंभव सुस्पष्ट कर दिया जाए ताकि किसी प्रकार की शंका अथवा विवाद की संभावना न रहें। लेकिन संविधान बनाने वालों की यह आशा पूरी न हो सकी और संविधान लागू होने के तुरन्त बाद ही अनेक सांविधानिक विवाद उठ खड़े हुए जिनके निराकरण हेतु 1951 से ही संविधान में संशोधनों का सिलसिला शुरू हो गया और इतना व्यापक संविधान बनाने का कोई लाभ नहीं हुआ।

संविधान-निर्मात्री सभा में भी कुछ सदस्यों ने इतना विशाल संविधान बनाने का विरोध किया था।

संविधान के प्रारूप पर विचार करते समय एक सदस्य ने कहा था कि "भारत का संविधान वकीलों का स्वर्ग है।" संविधान पर सामान्य टीका करते हुए उन्होंने कहा कि "यह प्रारूप लोगों को अत्यधिक मुकदमेबाजी, न्यायालयों में अधिकाधिक जाने की प्रेरणा देने वाला, कम सत्यवादी और सत्य तथा अहिंसा के मार्ग को अपनाने में अधिक सहायक नहीं है। इसे इस प्रकार भी कह सकता हूँ कि यह प्रारूप वास्तव में "वकीलों का स्वर्ग" है। यह मुकदमेबाजी के नए द्वार खोलता है और यह हमारे योग्य एवं मेधावी वकीलों को ज्यादा से ज्यादा काम पाने का अवसर प्रदान करेगा।"

ऐसा कहा जाता है कि भारत का संविधान एक जटिल प्रलेख है। उसकी शब्दावली इतनी क्लिष्ट है कि उसका समझना आसान नहीं है। लगभग हर अनुच्छेद में इतने स्पष्टीकरण, परन्तुक, अपवाद और इतने विशेषणों का प्रयोग किया गया है कि उन अनुच्छेदों का अर्थ ही उलझकर रह गया है। एक ही अनुच्छेद को लेकर बार-बार विवाद उठते रहे और न्यायालय को कदम-कदम पर हस्तक्षेप करना पड़ा। अन्त में यह स्थिति आई कि न्यायपालिका और संसद के बीच गंभीर टकराव की स्थिति उत्पन्न हो गई। लेकिन इन विवादों का कारण संविधान की विशालता नहीं न्यायपालिका का परिवर्तित होता हुआ दृष्टिकोण था। मात्र संविधान की व्यापकता मुकदमेबाजी बढ़ाने का एकमात्र कारण नहीं हो सकता। इस बात की पुष्टि के लिए अमेरिकी संविधान का उदाहरण दिया जा सकता है जहाँ के संविधान में केवल सात अनुच्छेद हैं और उनकी भाषा भी अत्यधिक सरल है। इसके बाद भी अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय में प्रतिवर्ष एक हजार से अधिक मुकदमें संविधान की व्याख्या के विषय में आते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि किसी संविधान के केवल संक्षिप्त या विशाल होने के कारण मुकदमेबाजी की संख्या कम या ज्यादा नहीं होती। कुछ विचारकों का यह भी मत है कि यदि भारत का संविधान इतना विस्तृत न होता तो शायद सांविधानिक विवादों की संख्या कुछ और ज्यादा होती। मुकदमों की संख्या के अधिक होने का मूल कारण संविधान की विशालता नहीं वरन् न्यायपालिका के पास न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति का होना है। संविधान संक्षिप्त हो या विस्तृत संविधान की व्याख्या का प्रश्न न्यायपालिका के समक्ष सदैव आता रहेगा और न्यायपालिका के दृष्टिकोण के अनुसार संविधान का अर्थ भी बदलता रहेगा।

आश्चर्य की बात यह नहीं है कि संविधान की व्याख्या को लेकर बड़ी संख्या में सांविधानिक विवाद उत्पन्न हुए, आश्चर्य यह है कि इतना बड़ा संविधान बनाने के बाद भी संविधान अधूरा रहा और शासन संबंधी कुछ महत्वपूर्ण बिन्दुओं को ब्रिटेन की सांविधानिक प्रथाओं पर छोड़ दिया गया। उदाहरण के लिए विधानमण्डल तथा कार्यपालिका और पारस्परिक संबंध, प्रधानमंत्री का चयन और उसकी स्थिति, मंत्रिपरिषद् का गठन, मंत्रिपरिषद् और राष्ट्रपति के पारस्परिक संबंध, प्रधानमंत्री तथा मंत्रियों के बीच संबंध, राष्ट्रपति की स्वविवेकीय शक्तियों का प्रयोग; राज्यपाल, राज्य-विधानमंडल एवं मंत्रिपरिषद् के पारस्परिक संबंध, राज्य में सरकार-निर्माण, सरकार के विघटन और राष्ट्रपति शासन की उद्घोषणा के मामले में राज्यपाल की भूमिका ऐसे बहुत से बिन्दुओं पर या तो संविधान मौन है या संबंधित प्रावधान अस्पष्ट हैं। यदि ब्रिटेन की संसदीय परम्पराओं का सहारा न लिया जाए तो इन सांविधानिक संस्थाओं के गठन और संचालन में और भी ज्यादा कठिनाइयाँ आ सकती हैं। ऐसे अनेक अवसर आए हैं जब उपर्युक्त विषयों के संबंध में संविधान में कोई स्पष्ट प्रावधान न होने के कारण गंभीर सांविधानिक विवाद उत्पन्न हुए हैं जिनके निदान के लिए न्यायपालिका की सहायता लेनी पड़ी है। उदाहरण के लिए यदि लोक सभा/विधानसभा में किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं है तो राष्ट्रपति/राज्यपाल सरकार बनाने के लिए किसे आमंत्रित करेगा, सरकार बनाने का दावा करने वाले विभिन्न दलों में से किसके पास बहुमत है इसका निर्धारण कैसे किया जाएगा? ऐसे न जाने कितने बिन्दु हैं जिनके बारे में संविधान में कोई प्रावधान नहीं किया गया है। हर पदधारक ने एक ही प्रकार की समस्या को भिन्न ढंग से हल किया है। जैसे राज्यों में विधानसभा में किसी एक दल को स्पष्ट

बहुमत न मिलने की स्थिति में कभी सबसे बड़े राजनैतिक दल के नेता को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया गया और कभी सबसे बड़े दल को यह कह कर सरकार बनाने का अवसर नहीं दिया गया कि यद्यपि उस दल के सदस्यों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक है किन्तु राज्यपाल को संदेह है कि यह दल स्थायी सरकार का निर्माण कर सकेगा।

यह एक निर्विवाद तथ्य है कि इंग्लैंड की सभी सांविधानिक प्रथाओं को भारत में लागू ही नहीं किया जा सकता क्योंकि उनमें से कुछ तो हमारे सांविधानिक प्रावधानों के प्रतिकूल हैं। आश्चर्य यह है कि भारत में 55 वर्षों में अपनी संसदीय परंपराओं का विकास ही नहीं हो पाया और जब भी संविधान की अस्पष्टता के कारण कोई संकट या समस्या उत्पन्न हुई तो उसको दलीय द्वेष से हल करने का प्रयास किया गया। परिणाम यह हुआ कि सांविधानिक मुद्दों का निस्तारण दलगत राजनीति और सामयिक दलीय हितों का विषय बन गए और उनके संबंध में कोई प्रथा विकसित न हो सकी।

आज भी स्थिति यह है कि सांविधानिक व्यवस्था से संबंधित ऐसे अनेक आधारक बिन्दु हैं जिनके विषय में या तो संविधान मौन है या अस्पष्ट है। उनके विषय में न तो संविधान में ही कोई स्पष्टीकरण किया जा सका है और न ही कोई परंपरा ही विकसित हो सकी है। परिणाम यह है कि आए दिन कहीं न कहीं कोई सांविधानिक प्रश्न खड़ा हो जाता है जिसका उत्तर देने में विश्व का विशालतम संविधान अपने को मजबूर पाता है।

2.5 विदेशी सूत्रों से गृहीत संविधान

भारत के संविधान पर विश्व के प्रमुख संविधानों की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। संविधान का मूल ढाँचा ब्रिटेन की सांविधानिक व्यवस्था पर आधारित है। कुछ लोगों का यह भी कहना है कि हमारा संविधान 1935 के भारत सरकार अधिनियम का संशोधित रूप है। लेकिन उल्लेखनीय बात यह है कि भारतीय संविधान किसी भी संविधान की प्रतिकृति (Replica) नहीं है। हमारे संविधान ने अन्य संविधानों से शासन व्यवस्था-विषयक मूल सिद्धान्तों तथा संस्थाओं को अपनाया तो है लेकिन उनकी नकल नहीं की है। उन सिद्धान्तों को अपने देश की परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुसार संशोधित करके अपनाया है। इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि भारतीय संविधान अन्य संविधानों का ऋणी है। एक लम्बे काल तक ब्रिटिश शासन में रहने के कारण भारत के लोग संसदीय शासन प्रणाली से परिचित हो चुके थे इसलिए भारतीय संविधान ने भी अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली के मुकाबले में संसदीय शासन प्रणाली को स्थापित किया।

भारत के संविधान का कुछ भाग अमेरिकी संविधान का ऋणी है। संघीय शासन व्यवस्था, न्यायिक पुनरावलोकन का सिद्धान्त; न्यायपालिका का स्वरूप, न्यायाधीशों को हटाने की पद्धति; मूल अधिकार और राष्ट्रपति के पद इत्यादि का विचार अमेरिकी संविधान से लिया गया है। कनाडा के संविधान का अनुसरण करते हुए भारतीय संघ को 'यूनियन' कहा गया है। केंद्र और राज्यों के बीच शक्तियों के वितरण के मामले में भी भारतीय संविधान कनाडा के संविधान के निकट दिखाई देता है।

आयरलैंड के संविधान से नीति-निदेशक सिद्धान्तों का विचार ग्रहण किया गया है। मूल संविधान में संशोधन करने की प्रक्रिया और समवर्ती सूची का विचार क्रमशः दक्षिणी अफ्रीका तथा ऑस्ट्रेलिया के संविधानों की याद दिलाता है। संविधान द्वारा राष्ट्रपति को दी गई आपातकालीन शक्तियाँ, विशेषकर संविधान को स्थगित करने की शक्ति जर्मनी के वेमार संविधान से मिलती-जुलती है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत के संविधान पर पश्चिमी देशों के संविधानों का गहरा प्रभाव पड़ा है और हमारे संविधान के अधिकांश सिद्धान्त अन्य देशों के संविधानों से गृहीत हैं। इसीलिए भारतीय संविधान को 'उधार का थैला'' (Bag of borrowings) कहा गया है। लेकिन यह

कहना गलत है कि भारतीय संविधान इन संविधानों की नकल मात्र है। हमने सिद्धान्तों को तो अन्य संविधानों से लिया है किन्तु उनको कार्यान्वित अपने ढंग से किया है। यही कारण है कि भारत और ब्रिटेन की संसदीय प्रणाली या अमेरिका की संघ व्यवस्था और भारत की संघ-व्यवस्था, में मौलिक अंतर पाया जाता है। इस पक्ष पर विस्तार से आगे विचार किया जायेगा।यह कहना भी ठीक नहीं है कि भारतीय संविधान में जो कुछ है वह सब दूसरे संविधानों से लिया गया है। जैसा पहले इंगित किया जा चुका है हमने अन्य संविधानों में 'विचार' लिया है किन्तु उन्हें अपने ढंग से कार्यान्वित किया है। उदाहरण के लिए संविधान में मूल अधिकारों को समाहित करने का विचार भले ही अमेरिकी संविधान की देन हो किन्तु भारतीय संविधान में जिन अधिकारों का उल्लेख किया गया है उनमें से कुछ ऐसे भी अधिकार है। जो विश्व के किसी संविधान में नहीं पाए जाते। उदाहरण के लिए मूल अधिकारी के अध्याय में समाज के पिछड़े वर्गों के लिए विशेष सुविधाएं देने का प्रावधान, अस्पृश्यता का अन्त, उपाधियों की समाप्ति, अल्पसंख्यकों के लिए विशेष संरक्षण, पंचायती राज व्यवस्था, नीति निदेशक सिद्धान्तों में आर्थिक विषमताओं को कम करने, सामाजिक न्याय स्थापित करने, महिलाओं और बच्चों के विकास के लिए समुचित सुविधाएँ उपलब्ध कराने, मद्यनिषेध, समान सिविल कोड बनाने के निर्देश, ऐसे कितने ही प्रावधान हैं जो संभवतः किसी दूसरे देश के संविधान में नहीं मिलते। अतः यह कहना उचित नहीं है कि भारतीय संविधान में जो कुछ है वह दूसरे देशों से उधार लिया हुआ है।

2.6 संघीय शासन व्यवस्था

अमेरिका का संविधान विश्व का पहला संविधान है जिसने संघीय शासन, व्यवस्था को स्थापित किया। भारतीय संविधान ने अमेरिका का अनुसरण करते हुए संघात्मक सरकार की स्थापना की है लेकिन ऐसे परिवर्तनों के साथ कि स्वयं उसकी संघीयता ही संदिग्ध हो गयी है। अमेरिका की संघीय व्यवस्था का मूल लक्ष्य राज्यों को अधिक शक्तिशाली बनाया और केन्द्र को कम शक्तियां देना था। यही कारण है कि अमेरिकी संविधान में केन्द्र की शक्तियों का उल्लेख किया गया है और शेष शक्तियाँ राज्यों के पास छोड़ दी गई हैं। इसके बिलकुल विपरीत भारतीय संविधान में राज्यों को सीमित शक्तियाँ दी गई हैं और केन्द्र को अधिक से अधिक शक्तियाँ प्रदान की गई है। संविधान में कुछ ऐसे प्रावधान हैं जिनके कारण के.सी.ह्वेयर जैसे विचारकों ने अर्द्ध संघात्मक संविधान कह कर संबोधित किया है। वास्तविकता यह है कि संविधान निर्माताओं का मन्तव्य ही एक ऐसे संघ की स्थापना करना था जिसमें केन्द्र सरकार अधिक शक्तिशाली हो ताकि इस नवनिर्मित गणराज्य की अखण्डता सुरक्षित रहे। प्रसिद्ध लेखक आइवर जेनिंग्स का कहना है कि भारत का ऐसा संघ है जिसमें केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति तीव्रता के साथ पाई जाती है। एक संघ सरकार के लिए जो अनिवार्य दशाएँ बताई गई हैं उनमें संविधान का लिखित तथा दुष्परिवर्तनीय होना, केन्द्र और राज्यों के बीच शक्तियों का विभाजन और न्यायपालिका की सर्वोच्चता प्रमुख तत्व है। इन शर्तों में यह शर्त नहीं है कि शक्ति-विभाजन करते समय केन्द्र के पास अधिक शक्तियाँ होंगी या राज्यों को ज्यादा शक्तियाँ दिया जाना चाहिए, क्योंकि यह इन परिस्थितियों पर निर्भर करता है जिनमें संघ की स्थापना की जाती है। भारत का संविधान उन सभी अनिवार्यता को पूरा करता है जो संघ शासन के लिए निर्धारित की गई है अतः उसे संघ मानने से इंकार नहीं किया जा सकता। लेकिन जब हम अमेरिकी संविधान को संघ का एक मॉडल मानकर भारतीय संविधान की संघीयता का परीक्षण करते हैं तो उसमें अनेक विचरण दिखाई देते हैं। ऐसा लगता है कि भारत की संघीय व्यवस्था पर ब्रिटेन की एकात्मक सरकार का प्रभाव वाही न वाही विद्यमान है।

संविधान के असंघीय तत्व

मूल रूप से एक संघीय संविधान होते हुए भी भारतीय संविधान में एकात्मक सरकार की झलक

दिखाई देती है। संविधान के असंघीय तत्व निम्नवत है -

अमेरिकी संघ के विपरीत भारत में राज्यों के अपने पृथक संविधान नहीं हैं।

2. भारतीय संघ में राज्यों का अस्तित्व ही केन्द्र सरकार की दया पर निर्भर करता है। संविधान के अनुच्छेद 2 और अनुच्छेद 3 के अनुसार संघ में नए राज्यों का प्रवेश, एक राज्य को विभाजित करके दूसरे नए राज्य का निर्माण करना, दो या दो से अधिक राज्यों का विलयन करके एक राज्य बनाना तथा राज्यों की सीमाओं और नामों में परिवर्तन करने की अनन्य शक्ति संघ सरकार को दी गई है। यही नहीं, संसद एक साधारण कानून बनाकर संघ व्यवस्था में उपर्युक्त परिवर्तन कर सकती है। अपनी इस शक्ति का प्रयोग करके संसद संघीय शासन की मूल ढाँचे को ही बदल सकती है। वह विभाजन अथवा विलयन के द्वारा राज्यों की संख्या घटा बढ़ा सकती है तथा उनकी सीमाओं और नामों को बदल सकती है। उल्लेखनीय यह है कि उपर्युक्त मामलों में राज्यों की कोई भूमिका न होगी। इस स्थिति के विपरीत अमेरिका में बिना संबंधित राज्य की सहमति के केन्द्र सरकार ऐसे कोई कदम नहीं उठा सकती। इसलिए वुडरो विल्सन ने अमेरिकी संघ को 'अविनाशकारी राज्यों से निर्मित अविनाशकारी संघ कहा था।इसका अर्थ यह है कि अमेरिका में न तो राज्यों का अन्त किया जा सकता है और न ही संघ को भंग किया जा सकता है। इसके विपरीत भारत में राज्यों का अस्तित्व ही संघ सरकार अर्थात सत्तारूढ़ दल की इच्छा पर निर्भर करता है।

3. संविधान ने केन्द्र और राज्य के बीच शक्तियों का जिस प्रकार वितरण किया है उसमें केन्द्र सरकार को बहुत ज्यादा शक्तियाँ दी गई हैं और राज्य सरकारों को संख्या और महत्व दोनों ही दृष्टि से कम शक्तियाँ प्रदान की गई हैं।जो विषय राज्य सूची में उल्लिखित है उन पर भी कुछ विशेष परिस्थितियों में संसद को कानून बनाने का अधिकार दिया गया है। साथ ही समवर्ती सूची पर भी संघ सरकार का अन्तिम रूप से अधिकार है।संविधान की तीनों अनुसूचियों में उल्लिखित विषयों के अतिरिक्त शेष विषय अथवा अवशेष शक्तियाँ केन्द्र सरकार के पास हैं। इसका अर्थ है कि भविष्य में जितना राज्य का कार्यक्षेत्र विस्तृत होता जाएगा, केन्द्र सरकार की शक्तियाँ निरन्तर बढ़ती जाएंगी। यह उल्लेखनीय है कि अमेरिका के संविधान में राज्य सरकारों को व्यापक शक्तियाँ प्रदान की गई हैं।

4. एक संघीय शासन व्यवस्था में केन्द्र और राज्यों के बीच शक्तियों का वितरण संविधान करता है। अतएव यह आवश्यक होता है कि संविधान दुष्परिवर्तनीय हो ताकि केन्द्र सरकार मनमाने ढंग से उसे संशोधित करके अपनी शक्तियाँ न बढ़ा सके या राज्यों की शक्तियों में कटौती न कर सकें। इसीलिए अमेरिकी संविधान में प्रत्येक संशोधन के लिए 3/4 राज्यों की स्वीकृति आवश्यक है। भारतीय संविधान का अधिकांश भाग बिना राज्यों के अनुमोदन के संशोधित किया जा सकता है। विगत दशकों में केन्द्र में सत्तारूढ़ दल बड़ी उदारता के साथ संविधान में संशोधन करते रहे हैं। राज्यों को संविधान में संशोधन के लिए प्रस्ताव करने का भी अधिकार नहीं है जबकि अमेरिका में संविधान-संशोधन की पहल राज्यों की तरफ से भी की जा सकती है।

5. राज्यों में शासन का प्रधान राज्यपाल होता है जिसकी नियुक्ति राष्ट्रपति के द्वारा की जाती है और वह राष्ट्रपति अथवा केन्द्र में सत्तारूढ़ दल के प्रसादपर्यन्त अपने पद पर रहता है। राज्यों की सांविधानिक व्यवस्था में राज्यपाल को विस्तृत शक्तियाँ प्राप्त है जिनका प्रयोग वह केन्द्र सरकार की इच्छा के विरूद्ध नहीं करता। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से केन्द्र सरकार राज्यों को

की जनता के द्वारा किया जाता है।

6. अनुच्छेद 356 के अधीन केन्द्र सरकार राज्यों में राज्यपाल के माध्यम से राष्ट्रपति-शासन की उदघोषणा करके उस राज्य के शासन को केन्द्रीय नियंत्रण में ले सकती है।अतीत में केन्द्र में सत्तारूढ़ दल ने उन राज्यों की सरकारों को जहाँ किसी अन्य दल की सरकार थी इसी अनुच्छेद के द्वारा निःसंकोच रूप से विघटित किया है। वास्तविकता यह है कि मात्र राजनैतिक कारणों से केन्द्र सरकार किसी भी राज्य की सरकार को अपदस्थ करके विधानसभा को विघटित कर सकती है। उल्लेखनीय है कि 1977-78 में जब जनता पार्टी की केन्द्र में सरकार बनी तो उसने अनुच्छेद 356 का प्रयोग करके आठ राज्यों में विधानसभाओं को भंग करके नए चुनाव कराये, जिसके फलस्वरूप उन राज्यों में भी जनता पार्टी सरकार बनाने में सफल हुई। 1980 में जब इंदिरा कांग्रेस सत्ता में आई तो उसने जनता पार्टी शासित राज्यों में अनुच्छेद 356 का प्रयोग करके वहाँ की विधानसभाओं को भंग कर दिया। इस प्रकार अनुच्छेद 356 के द्वारा राज्य के शासन को केन्द्रीय सरकार किसी भी समय अपने नियंत्रण मे ले सकती है।

7. अनुच्छेद 352 के अधीन राष्ट्रपति पूरे देश में अथवा उसके किसी भाग गें आपात उदघोषणा कर सकता है जिसके फलस्वरूप राज्य सरकारों पर केन्द्र सरकार का नियंत्रण स्थापित हो जाता है और राज्यों के आन्तरिक मामलों में भी केन्द्र सरकार को हस्तक्षेप करने का अवसर मिल जाता है।

उपर्युक्त प्रावधानों का परिणाम यह है कि भारतीय संघ में राज्यों की स्वायत्तता ही नहीं उनका अस्तित्व भी बहुत कुछ केन्द्र सरकार की इच्छा पर निर्भर करता है।

2.7 संसदात्मक कार्यपालिका

संविधान निर्मात्री सभा में इस बात पर काफी वाद विवाद रहा कि भारत में ब्रिटेन की संसदात्मक शासन प्रणाली को अपनाया जाए या अमेरिकी संविधान से अध्यात्मक शासन प्रणाली को लिया जाए। अन्त में संविधान बनाने वालों ने संसदीय शासन व्यवस्था को ही अपनाया जिसके दो मुख्य कारण बताए गये।पहला यह कि भारत में अंग्रेजों द्वारा जो शासन व्यवस्था स्थापित की गई थी वह संसदीय थी और इस देश के लोग इस शासन प्रणाली से भली-भाँति परिचित थे। दूसरा तर्क यह दिया गया कि एक अच्छी कार्यपालिका के दो गुण होते हैं, उत्तरदायित्व और स्थायित्व। यह दोनों ही गुण संसदीय शासन प्रणाली में पाए जाते हैं अतः संसदीय शासन प्रणाली ही सर्वश्रेष्ठ और भारत के लिए सबसे ज़्यादा उपयुक्त है। संसदीय शासन में कार्यपालिका (मंत्रिपरिषद) को निर्माण विधानमण्डल के निम्न सदन में बहुमत प्राप्त दल के नेता द्वारा किया जाता है। मंत्रिपरिषद का मुख्य प्रधानमंत्री होता है। जो मंत्रिपरिषद् की सहायता से समस्त कार्यकारिणी शक्तियों का प्रयोग करता है। राष्ट्रपति देश का औपचारिक प्रधान होता है। कार्यपालिका विधानमण्डल के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होती है। अर्थात विधानमण्डल मंत्रिपरिषद के विरूद्ध अविश्वास व्यक्त करके किसी भी समय सरकार को भंग करा सकता है। व्यवहार में ऐसा उस समय तक नहीं हो सकता जब तक विधानमण्डल में सत्तारूढ़ दल को बहुमत प्राप्त है।

यह उल्लेखनीय है कि भारत ने संसदीय शासन प्रणाली को इंग्लैण्ड से तो लिया है लेकिन भारत की संसदीय प्रणाली इंग्लैण्ड की संसदीय प्रणाली से कई अर्थों में भिन्न हैं । प्रथम, इंग्लैण्ड में देश का प्रधान (राजा/रानी) वंशानुगत रूप से अपना पद ब्रहण करता है, जबकि भारत में राष्ट्रपति का चुनाव जनता के द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से एक निश्चित अवधि (पांच वर्ष) के लिए किया जाता है। इंग्लैण्ड में देश का प्रधान इतना शक्तिहीन है कि उसे स्वर्ण शून्य कहा गया है। इसके विपरीत भारत में राष्ट्रपति

को कुछ ऐसी शक्तियाँ प्राप्त हैं जिनका प्रयोग वह अपने स्वविवेक से कर सकता है। इंग्लैण्ड में राजा के हर आदेश पर किसी न किसी मंत्री के हस्ताक्षर होना अनिवार्य है, भारत में राष्ट्रपति पर ऐसा बंधन नहीं है।

इंग्लैण्ड में राजा/रानी मंत्रिपरिषद् के परामर्श से ही कार्य करता है और यह कहा जाता है कि अगर मंत्रिपरिषद् राजा की मृत्यु-वारन्ट को भी उसके हस्ताक्षर करने के लिए प्रस्तुत करता है तो राजा को उस पर भी अपने हस्ताक्षर अर्थात् स्वीकृति देना अनिवार्य होता है। भारत में 1976 में किए गए 42वें संशोधन के द्वारा यह प्रावधान किया गया है कि राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद् के परामर्श को मानने के लिए अन्ततः बाध्य है किन्तु वह किसी भी परामर्श को मंत्रिपरिषद् को पुनर्विचार हेतु वापस कर सकता है। उपर्युक्त संशोधन के बाद राष्ट्रपति की तुलना में मंत्रिपरिषद् ज्यादा शक्तिशाली बन गई। विधायनी क्षेत्र में भी भारत का राष्ट्रपति इंग्लैण्ड की रानी/राजा से ज्यादा शक्तिशाली है। इंग्लैण्ड में संसद द्वारा पारित किसी विधेयक पर राजा/रानी अपनी स्वीकृति देने से इंकार नहीं कर सकता जबकि भारत में राष्ट्रपति को किसी विधेयक को वीटो करने की शक्ति प्राप्त है। इस प्रकार भारत का संविधान संसदीय प्रणाली का एक परिवर्तित मॉडल प्रस्तुत करता है। न्यायाधीश पी0बी0मुखर्जी के अनुसार, "भारतीय संविधान अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली के साथ संसद के अन्दर से बनायी गई उत्तरदायी कार्यकारिणी का गठबन्धन करता है।"

2.8 न्यायपालिका की सर्वोच्चता

भारतीय संविधान ने शासन के तीनों अंगों में न्यायपालिका को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया है। इंग्लैण्ड में संसद सर्वोच्च है क्योंकि वहां कोई लिखित संविधान नहीं है। संसद जो भी कानून बनाती है वह संविधान का अंग बन जाता है और उसे किसी न्यायालय में भी चुनौती नहीं दी जा सकती। ब्रिटिश संसद किसी भी कानून को बना सकती है और उसे संशोधित या निरस्त कर सकती है क्योंकि ब्रिटेन में न्यायपालिका को पुनरावलोकन की शक्ति प्राप्त नहीं है।

भारतीय सांविधानिक व्यवस्था में शासन के तीनों अंगों के बीच शक्तियों का बंटवारा संविधान द्वारा किया गया है अतः संसद केवल उन्हीं विषयों पर कानून बना सकती है और केवल उन्हीं शक्तियों का प्रयोग कर सकती है जो स्पष्ट रूप से संविधान ने उसे प्रदान की हैं। इस प्रकार संविधान सर्वोच्च है और वही संसद की शक्तियों का भी स्रोत है।

यदि संसद अपनी निर्धारित सीमाओं से बाहर जाकर कोई ऐसा कानून बनाती है जो संविधान की किसी धारा के प्रतिकूल है तो न्यायपालिका उसे अवैध घोषित कर सकती है। न्यायिक पुनरावलोकन की इस शक्ति के कारण, भारत में न्यायपालिका सर्वोच्च है। अमेरिका की तरह भारत में भी संविधान की व्याख्या करने का अधिकार न्यायपालिका को दिया गया है। लेकिन भारतीय संसद को यह अधिकार भी प्राप्त है कि वह विशिष्ट बहुमत से संविधान में संशोधन करके न्यायपालिका की शक्तियों को सीमित कर दे। उल्लेखनीय है कि 1976 में संसद ने 42वें संशोधन के द्वारा सर्वोच्च न्यायालय की शक्तियों और क्षेत्राधिकार को सीमित कर दिया था और इस प्रकार अपनी सर्वोच्चता को स्थापित करने का प्रयास किया था। संसद की संशोधन-शक्ति को दृष्टि में रखते हुए डी0डी0बसु ने कहा है कि "भारतीय संविधान अद्भुत ढंग से अमेरिका के न्यायालय की सर्वोच्चता के सिद्धान्त तथा इंग्लैण्ड की संसदीय संप्रभुता के बीच का मार्ग अपनाता है।"

2.9 मूल अधिकार और मूल कर्त्तव्य

भारत के संविधान की प्रस्तावना में जिन नागरिक स्वतंत्रताओं का उल्लेख किया गया है उनका विस्तृत

रूप भाग 3 में मूल अधिकारों में पाया जाता है। मूल संविधान में नागरिकों को सात अधिकार स्वतंत्रता, समानता, धार्मिक स्वतंत्रता, शोषण के विरूद्ध, अधिकार, संपत्ति का अधिकार, सांस्कृतिक और शिक्षा संबंधी अधिकार तथा सांविधानिक उपचारों का अधिकार प्रदान किए गए थे। 44वें संशोधन के द्वारा संपत्ति के अधिकार को मूल अधिकारों की श्रेणी से निकाल दिया गया है।

भारतीय संविधान द्वारा दिए गए मूल अधिकारों को कार्यान्वित कराने का उत्तरदायित्व न्यायपालिका को दिया गया है। स्वयं मूल अधिकारों में ही एक अधिकार (संविधानिक उपचारों का अधिकार) न्यायपालिका द्वारा इन अधिकारों के संरक्षण का प्रावधान करता है। यदि सरकार या किसी व्यक्ति द्वारा नागरिक के किसी मूल अधिकार का अतिक्रमण किया जाता है तो नागरिक का यह सांविधानिक अधिकार है कि वह न्यायपालिका की सहायता ले सकता है।

सरकार द्वारा नागरिकों के अधिकारों में मनमाने ढ़ंग से हस्तक्षेप को रोकने के लिए न्यायपालिका को विभिन्न प्रकार की रिटें जारी करने का अधिकार दिया गया है। संविधान में उन दशाओं का भी उल्लेख किया गया है जिनमें नागरिकों के मूल अधिकारों को प्रतिबंधित अथवा स्थगित किया जा सकता है। इन दशाओं के उल्लेख करने का लक्ष्य यह था कि सरकार मनमाने ढंग से नागरिक स्वतंत्रताओं पर कोई प्रतिबन्ध न लगा सके।

1976 में किए गए 42वें संशोधन के द्वारा संविधान में एक नया भाग-चार-क जोड़कर उसमें नागरिकों के कर्त्तव्यों का उल्लेख किया गया है। इन कर्त्तव्यों का मुख्य उद्देश्य राष्ट्रीय एकता और अखण्डता को सुरक्षित रखना है।

2.10 राज्य के नीति-निदेशक सिद्धान्त

संविधान के भाग-4 में देश के सामाजिक, आर्थिक और नैतिक विकास की एक विस्तृत योजना प्रस्तुत की गई है जिसको लागू करना राज्य का कर्त्तव्य घोषित किया गया है। इन सिद्धान्तों की प्रकृति को स्पष्ट करते हुए अनुच्छेद 37 में कहा गया है कि "इस भाग में अन्तर्विष्ट उपबंध किसी न्यायालय द्वारा प्रवर्तनीय नहीं होंगे किन्तु फिर भी इनमें अधिकथित तत्व देश के शासन में मूलभूत हैं और विधि बनाने में इन तत्वों को लागू करना राज्य का कर्त्तव्य होगा।' इस अनुच्छेद में दो मुख्य बातें कही गई हैं पहली यह कि नीति-निदेशक सिद्धान्त शासन के आधारभूत सिद्धान्त हैं अर्थात् सरकार को अपनी नीतियों का निर्माण इन सिद्धान्तों को दृष्टि में रखकर करना चाहिए। यह राज्य के लिए बाध्यकारी तो नहीं हैं किन्तु इनका पालन करना राज्य का 'कर्त्तव्य' बताया गया है।

दूसरी बात यह है कि मूल अधिकारों की तरह नीति-निदेशक सिद्धान्त न्याय योग्य नहीं हैं अर्थात् इन सिद्धान्तों को न्यायालय के द्वारा कार्यान्वित नहीं कराया जा सकता। नीति-निदेशक सिद्धान्तों के अन्तर्गत राज्य को जो निर्देश दिए गए हैं उनमें से कुछ प्रमुख सिद्धान्त इस प्रकार हैं–

1. सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय की स्थापना के लिए प्रयास करना;
2. सभी नागरिकों को समान रूप से जीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त करने का अधिकार
3. समुदाय के भौतिक संसाधनों का स्वामित्व और नियंत्रण सामूहिक हित में हो;
4. धन और उत्पादन के साधनों का सर्वसाधारण के लिए अहितकारी केंद्रीकरण न हो;
5. समान न्याय और निःशुल्क विधिक सहायता;
6. काम पाने, शिक्षा पाने और बेकारी, बुढ़ापे, बीमारी आदि की दशा में लोक सहायता पाने का अधिकार;

7. काम की न्यायसंगत और मानवोचित दशाओं का उपबंध, कर्मकारों के लिए निर्वाह मजदूरी को सुनिश्चित करना;

8. नागरिकों के लिए एक समान सिविल संहिता;

9. अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और अन्य दुर्बल वर्गों की शिक्षा और अर्थ संबंधी हितों की अभिवृद्धि;

10. पोषाहार स्तर और जीवन स्तर को ऊँचा करना तथा लोक स्वास्थ्य का सुधार करना;

11. अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की अभिवृद्धि।

उपर्युक्त सिद्धान्तों का अवलोकन करने से यह स्पष्ट होता है कि संविधान के इस भाग में लोक कल्याणकारी राज्य की एक व्यापक योजना प्रस्तुत की गई है और राज्य से यह अपेक्षा की गई है कि वह व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के लिए नीतियाँ बनाने का प्रयास करेगा। यदि सरकार इन निर्देशों की अवहेलना करती है तो जनता की अदालत अगले चुनाव में उस सरकार को सत्ता से बाहर करके सजा दे सकती है।

मूल अधिकार और नीति-निदेशक सिद्धान्तों के पारस्परिक संबंधों के विषय में न्यायपालिका का यह सामान्य दृष्टिकोण रहा है कि वे दोनों एक दूसरे के पूरक हैं किन्तु यदि दोनों में कोई टकराव हो तो मूल अधिकारों को प्राथमिकता हासिल होगी। 1971 में किए गए 25वें संविधान संशोधन ने एक नीति निदेशक सिद्धान्त, अनुच्छेद 39 बी0 तथा सी0को मूल अधिकारों से सर्वोच्च घोषित किया। 1976 में 42 वें संशोधन ने समस्त नीति-निदेशक सिद्धान्तों की मूल अधिकारों पर प्रधानता स्थापित कर दी किन्तु 1980 के बाद से पुनः मूल अधिकारों की नीति-निदेशक सिद्धान्तों पर प्रधानता स्थापित हो गई।

नीति-निदेशक सिद्धान्तों का विचार आयरलैंड के संविधान से लिया गया है और विश्व के कुछ ही संविधानों में इनका उल्लेख पाया जाता है। इस दृष्टि से यह भारतीय संविधान की विलक्षणता कही जा सकती हैं।

2.11 संशोधन-विधि की विलक्षणता

संशोधन-विधि की दृष्टि से भारतीय संविधान कठोरता और लचीलेपन का सम्मिश्रण है। कठोर और लचीले संविधान के बीच अन्तर संविधान में संशोधन करने की प्रक्रिया पर निर्भर करता है। यदि किसी देश के संविधान में उसी प्रक्रिया से संशोधन किया जा सकता है जिस प्रक्रिया से साधारण कानून बनाए जाते हैं तो संविधान लचीला कहलाएगा। यदि संविधान में संशोधन करने की प्रक्रिया साधारण कानून बनाने की प्रक्रिया से ज़रा भी भिन्न है तो उसे कठोर संविधान कहा जाता है।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 368 में संविधान संशोधन के तीन तरीके बताए गए हैं–

(i) संविधान के कुछ प्रावधानों में संसद साधारण विधि-निर्माण की पद्धति के अनुसार साधारण बहुमत से संशोधन कर सकती है। उदाहरण के लिए नए राज्यों के निर्माण और राज्यों के नामों और उनकी सीमाओं में परिवर्तन से संबंधित प्रावधान (अनुच्छेद 2-3) राज्यों में विधान परिषद् की स्थापना या समाप्ति (अनुच्छेद 169) इत्यादि।

   संविधान के इन अनुच्छेदों में संशोधन के लिए साधारण बहुमत की पद्धति अपनाने के कारण संविधान लचीला कहलाएगा।

(ii) कुछ अनुच्छेदों में संशोधन के लिए संसद के कुल सदस्यों के बहुमत और उपस्थित सदस्यों के 2/3 बहुमत की आवश्यकता होती है। संविधान का एक बड़ा भाग इसी विधि से संशोधित

किया जा सकता है।

(iii) संविधान के कुछ अनुच्छेदों में संशोधन के लिए संसद के 2/3 बहुमत के अतिरिक्त कम से कम आधे राज्य-विधान सभाओं के अनुमोदन की आवश्यकता होती है। इस श्रेणी में अधिकांशतः वह प्रावधान आते हैं जिनका प्रत्यक्ष संबंध राज्य सरकारों के गठन और शक्तियों से है।

यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि अमेरिका के संविधान में कोई भी संशोधन 3/4 राज्य विधानमण्डलों के अनुसमर्थन के बिना नहीं हो सकता। एलेक्जेन्ड्रोविक्स के अनुसार, "भारतीय संविधान इतना कठोर नहीं है कि उसमें आवश्यक संशोधन न किए जा सकें और न ही इतना लचीला है कि उसमें किए जाने वाले अनुचित संशोधनों को रोका न जा सके।" के0सी0व्हेयर का कहना है कि "भारतीय संविधान अधिक कठोर तथा अधिक लचीले के मध्य एक अच्छा संतुलन स्थापित करता है।"

2.12 संविधान की धर्म-निरपेक्षता

भारत के संविधान ने एक धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना की है। यद्यपि मूल संविधान में 'धर्मनिरपेक्ष' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया था किन्तु विविध प्रावधानों द्वारा संविधान में एक धर्मनिरपेक्ष राज्य के गुणों को समाहित किया गया था। धर्मतंत्र के विपरीत भारत में राज्य का कोई अपना धर्म नहीं है। संविधान की प्रस्तावना में सभी नागरिकों को धार्मिक विश्वास, पूजा की स्वतंत्रता तथा धार्मिक आचरण की स्वतंत्रता का आश्वासन दिया गया है। नागरिकों के मूल अधिकारों के अन्तर्गत धर्म की स्वतंत्रता का अधिकार प्रदान किया गया है, जिसके अनुसार प्रत्येक नागरिक को व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से किसी भी धर्म को मानने, उसकें अनुसार आचरण करने और अपने धर्म का प्रचार करने की स्वतंत्रता दी गई है।

समानता के अधिकार के अन्तर्गत यह आश्वासन दिया गया है कि राज्य नागरिकों के बीच उनके धर्म, जाति आदि के आधार पर कोई भेद-भाव नहीं करेगा और राज्य की ओर से मिलने वाली समस्त सुविधाएँ सभी नागरिकों को, चाहे व किसी भी धर्म के मानने वाले हों, समान रूप से उपलब्ध होंगी। संविधान द्वारा दिए गए समस्त राजनैतिक अधिकार (जैसे–वोट देना, किसी पद के लिए चुनाव लड़ना आदि) सभी धर्म के लोगों को समान रूप से प्राप्त होंगे। भारतीय संविधान में विधि के समक्ष समानता के सिद्धान्त को मान्यता दी गई है अतः अधिकारों और कर्त्तव्यों के मामले में सभी धर्म के मानने वाले राज्य की नजर में समान हैं।

आधुनिक संविधानों में अमेरिका का संविधान धर्मनिरपेक्ष राज्य का एक अनूठा मॉडल प्रस्तुत करता है। अमेरिका में धर्मनिरपेक्षता से तात्पर्य धर्म और राज्य का पूर्ण पृथक्करण होता है। भारतीय संविधान इस प्रकार के कठोर पृथक्कीरण को स्वीकार नहीं करता। वह धर्मनिरपेक्ष होते हुए भी धार्मिक मामलों में सकारात्मक और नकारात्मक दोनों ही प्रकार की भूमिकाएँ अदा करता है। राज्य विभिन्न धार्मिक समूहों या संप्रदायों को उनके विकास के लिए आवश्यक सुविधाएँ प्रदान करता है। हर धार्मिक समूह को धार्मिक शिक्षा के लिए शिक्षा-संस्थाएँ खोलने की अनुमति देता है, विभिन्न धार्मिक शिक्षा-संस्थाओं को आर्थिक अनुदान देने की व्यवस्था करता है। इस तरह राज्य बगैर धार्मिक हुए सभी धर्मों के विकास के लिए आवश्यक सुविधाएँ प्रदान करता है। दूसरी ओर राज्य की सुरक्षा, समाज के हित और नागरिक उन्नति के लिए राज्य धार्मिक क्षेत्र में हस्तक्षेप करके धार्मिक स्वतंत्रता पर आवश्यक प्रतिबंध लगा सकता है। लेकिन चाहे वह विभिन्न धार्मिक संप्रदायों के उन्नयन का मामला हो या धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप करने का प्रश्न हो, राज्य विभिन्न धर्मों के बीच कोई भेदभाव नहीं करता। भारतीय संविधान

द्वारा स्थापित किया गया धर्मनिरपेक्षता का यह मॉडल अमेरिकी मॉडल से भिन्न है जहाँ धर्मनिरपेक्षता का अर्थ धर्म और राजनीति के बीच इतनी ऊंची दीवार खड़ी करना है जिसे फाँदा न जा सके। इस स्थिति को स्पष्ट करते हुए डॉ० राधाकृष्णन ने कहा है कि "धर्मनिरपेक्ष होने का तात्पर्य न तो धर्म के विरुद्ध होना है और न धार्मिक दृष्टि से संकुचित होना, वरन् अत्यन्त आध्यात्मिक होना है। इस सबका तात्पर्य केवल यही है कि वह अर्थात् भारत देश सब व्यक्तियों की धार्मिक निष्ठा का आदर करता है।"

2.13 सारांश

भारतीय संविधान विश्व का सबसे विशाल संविधान है। एक विस्तृत संविधान बनाने का मुख्य उद्देश्य संविधान को यथासंभव सुस्पष्ट बनाना था। संविधान में केंद्र और राज्य दोनों ही सरकारों के संगठन, शक्तियों तथा पारस्परिक संबंधों का सविस्तार उल्लेख किया गया है जिसके कारण भी संविधान का आकार बढ़ गया है।

यह कहा जाता है कि भारतीय संविधान "उधार का थैला" है। इसमें कोई संदेह नहीं कि भारतीय संविधान ने विश्व के प्रमुख संविधानों से कुछ सिद्धान्तों और संस्थाओं को ग्रहण किया है लेकिन उनको अपने देश की परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित करके। विश्व के हर संविधान ने अपने से पूर्व के संविधानों से कुछ न कुछ लिया है और बाद में बनने वाले संविधानों को कुछ दिया है। लेकिन कोई भी संविधान दूसरे संविधान की अक्षरशः नकल नहीं हो सकता क्योंकि हर देश की परिस्थितियों के अनुसार संविधानिक सिद्धान्तों का स्वरूप बदल जाता है। उदाहरण के लिए भारत के संविधान में अपनाई गई संसदीय व्यवस्था; संघात्मक शासन प्रणाली; न्यायिक पुनरावलोकन का सिद्धान्त मूल अधिकार और नीति-निदेशक सिद्धान्तों आदि के स्रोत भले ही पश्चिमी देशों के संविधान हों, किन्तु जिस प्रकार उन्हें संशोधित करके भारतीय संविधान में अपनाया गया है उसने भारतीय संविधान को एक नया कलेवर दिया है और उसकी अपनी अलग पहचान कायम हुई है।

2.14 संदर्भ ग्रन्थ/उपयोगी पुस्तकें

1. Austin, Grenville; Indian Constitution, The Cornerstone of a Nation.
2. Jennings, Ivor; Some aspects of the Indian Constitution.
3. Morris-Jones; Indian Government and politics.
4. Kothari, Rajni; Politics in India.

2.15 संबंधित प्रश्न

दीर्घ-उत्तरीय प्रश्न

1. भारत के संविधान की मौलिक विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
2. "भारतीय संविधान वकीलों का स्वर्ग है।" व्याख्या कीजिए।
3. भारत के संविधान के असंघीय तत्वों का विवेचन कीजिए।
4. "भारतीय संविधान नम्नीयता और अनम्नीयता का अद्भुत सम्मिश्रण है।" व्याख्या कीजिए।

लघु-उत्तरीय प्रश्न

1. भारतीय संविधान में कितने अनुच्छेद और कितनी अनुसूचियाँ हैं?

2. भारत को गणतंत्र क्यों कहा जाता है?

3. संविधान के किन प्रावधानों में अकेले संसद संशोधन कर सकती है?

4. भारतीय संघ में केंद्र-शासित क्षेत्र कितने हैं?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. भारत के संविधान में न्यायिक पुनरावलोकन का सिद्धान्त किस देश के संविधान से लिया गया है?

   (A) अमेरिका

   (B) इंग्लैण्ड

   (C) स्विट्जरलैण्ड

   (D) चीन

2. भारतीय संविधान में नीति-निदेशक सिद्धान्तों के उल्लेख करने का विचार किस संविधान से लिया गया है?

   (A) अमेरिका

   (B) फ्रांस

   (C) आयरलैण्ड

   (D) इंग्लैण्ड

3. भारत में राज्यों के नामों और सीमाओं में कौन परिवर्तन कर सकता है?

   (A) संसद

   (B) राज्य विधानमण्डल

   (C) राज्यपाल

   (D) प्रधानमंत्री

4. निम्न में से कौन सा कथन सही है?

   (A) मूल अधिकार और नीति-निदेशक सिद्धान्त दोनों न्याययोग्य हैं।

   (B) नीति-निदेशक सिद्धान्त न्याययोग्य नहीं हैं।

   (C) मूल अधिकार स्थगित नहीं किए जा सकते।

   (D) उपर्युक्त में कोई नहीं

2.16 प्रश्नोत्तर

1. (A)
2. (C)
3. (A)
4. (B)

इकाई 3 केंद्र-राज्य संबंध

इकाई की रुपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2. विधायी संबंध

3.3 राज्य सूची में केंद्रीय हस्तक्षेप

3.4 प्रशासनिक संबंध

3.5 वित्तीय संबंध

3.6 न्यायिक संबंध

3.7 दल प्रणाली और केंद्र-राज्य संबंध

3.8 नियोजन आयोग और राष्ट्रीय विकास परिषद् की भूमिका

3.9 केंद्र और राज्यों के बीच टकराव के मुद्दे

3.10 केंद्र और राज्यों के संबंधों के पुनर्निरीक्षण-सरकारिया आयोग की संस्तुतियाँ

3.11 केंद्र-राज्य संबंध–एक समीक्षा

3.12 सारांश

3.13 संदर्भ ग्रन्थ/उपयोगी पुस्तकें

3.14 संबंधित प्रश्न

3.15 प्रश्नोत्तर

3.0 उद्देश्य

इस अध्याय में भारत में केंद्र और राज्यों के संबंधों के विभिन्न पक्षों का आलोचनात्मक परीक्षण किया जाएगा। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

- केंद्र और राज्यों के बीच संविधान द्वारा किए गए शक्ति-विभाजन का स्वरूप का विवरण कर सकेंगे
- राज्य द्वारा अपनी सांविधानिक शक्तियों का व्यावहारिक रूप से प्रयोग पर टिप्पणी कर सकेंगे,
- केंद्र-राज्य संबंधों को निर्धारित करने में संविधानेत्तर कारकों की भूमिका का उल्लेख कर सकेंगे,
- सरकारिया आयोग की विशेष रूप से चर्चा कर सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

संघीय शासन व्यवस्था में केंद्र और राज्यों के पारस्परिक संबंध मूल रूप से दो बातों पर निर्भर करते हैं। प्रथम, सांविधानिक कारक और द्वितीय, संविधानेत्तर कारक। सांविधानिक कारकों से तात्पर्य है

संविधान द्वारा स्थापित की गई संघीय योजना अर्थात् केंद्र और इकाई राज्यों के संबंध में विभिन्न सांविधानिक प्रावधान तथा उनके बीच संविधान द्वारा किया गया शक्ति-विभाजन का स्वरूप। संविधानेत्तर कारकों के अन्तर्गत वे संस्थाएँ या उपकरण आते हैं जिनका उल्लेख संविधान में नहीं है किन्तु वे केंद्र और राज्यों के संबंधों को निर्धारित करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। साधारणतया देश की संघीय व्यवस्था का स्वरूप उन परिस्थितियों पर निर्भर करता है जिनमें संघ का निर्माण हुआ है। यदि संघ की स्थापना स्वतंत्र राज्यों द्वारा की गयी है तो स्वाभाविक रूप से राज्यों के पास अधिक शक्तियाँ होंगी। इसके विपरीत यदि इकाई-राज्यों का निर्माण केंद्र सरकार द्वारा किया गया है तो केंद्र के पास ज्यादा शक्तियाँ होंगी और राज्यों की शक्तियाँ सीमित होंगी। इसीलिए एक संघीय शासन व्यवस्था के निर्माण के लिए एक लिखित संविधान का होना आवश्यक होता है जो केंद्र और राज्यों के बीच शक्तियों का विभाजन करता है। यह शक्ति विभाजन इस बात पर निर्भर करता है कि संघ का निर्माण केंद्रोन्मुख कारकों द्वारा हुआ है या केंद्रविमुख तत्वों द्वारा।

भारत में संघ का निर्माण केंद्र के द्वारा किया गया है इसलिए राज्यों के पास कम शक्तियाँ हैं और केंद्र के पास इतनी ज्यादा शक्तियाँ हैं कि स्वयं भारतीय संघ की संघीयता ही संदिग्ध हो गई और कुछ विचारकों ने इसे "अर्द्ध-संघ" की संज्ञा दी है।

संविधान के ग्यारहवें भाग में संघ और राज्यों के बीच संबंधों का विस्तार से उल्लेख किया गया है। यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि स्वतंत्रता के बाद जो परिस्थितियाँ थीं उनके परिप्रेक्ष्य में संविधान बनाने वाले एक सुदृढ़ केंद्र की स्थापना करना चाहते थे ताकि देश की एकता और अखण्डता सुरक्षित रह सके। यही कारण है कि पूरी संघीय योजना केंद्र सरकार के चारों ओर घूमती दिखाई देती है, यहाँ तक कि भारतीय संघ में नए राज्यों का प्रवेश, नए राज्यों का निर्माण, राज्यों के नामों और उनकी सीमाओं में परिवर्तन जैसे महत्वपूर्ण विषय संसद की इच्छा के पात्र हैं। संसद अपने साधारण बहुमत से एक कानून पारित करके पूरे संघीय स्वरूप को ही बदल सकती है।

'शक्तिशाली केंद्र और सीमित शक्तियों वाले राज्य', इस सिद्धान्त को आधार बनाकर संविधान में केंद्र राज्यों के बीच शक्तियों का वितरण किया गया है जिसके आधार पर केंद्र और राज्यों के पारस्परिक संबंधों का अध्ययन किया जा सकता है। अमेरिका की तरह भारत में राज्यों के अपने अलग संविधान नहीं हैं। अतः भारतीय संविधान के भाग 11 में छः अध्यायों के अन्तर्गत (अनुच्छेद 152 से अनुच्छेद 237 तक) अध्यायों के अन्तर्गत (अनुच्छेद 152 से अनुच्छेद 237 तक) राज्य-कार्यकारिणी; राज्य विधानमण्डल और राज्यों की न्यायपालिका के गठन और शक्तियों का सविस्तार उल्लेख किया गया है।

संविधान में केंद्र और राज्यों के संबंधों का जिस प्रकार विवेचन किया गया उसे निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत विभाजित करके समझा जा सकता है।

3.2 विधायी संबंध

संविधान के भाग 11 के अध्याय एक में केंद्र और राज्यों के बीच विधायी शक्तियों का वितरण किया गया है। शक्तियों का वितरण करते समय संविधान-निर्माताओं ने कनाडा के संविधान का अनुसरण करते हुए शक्तियों को निम्न तीन सूचियों में विभाजित किया है जो सातवीं अनुसूची के रूप में संविधान शामिल में की गई है :

(i) संघ सूची

संघ सूची में उन विषयों का उल्लेख किया गया है जिन पर केवल केंद्र सरकार कानून बना सकती है।

इन विषयों की संख्या 97 है। इस सूची में राष्ट्रीय महत्व के विषयों को स्थान दिया गया है जैसे रक्षा, विदेशी मामले, युद्ध एवं शान्ति, व्यापार, मुद्रा, डाक-तार, वायुमार्ग, रेलवे आदि।

(ii) राज्य सूची

मूल संविधान के अनुसार राज्य सूची में 66 विषय थे लेकिन संविधान के 42वें संशोधन द्वारा इनमें से कुछ विषयों को निकालकर समवर्ती सूची में स्थानान्तरित कर दिया गया है और अब इनकी संख्या 62 रह गई है। राज्य सूची में क्षेत्रीय महत्व के विषय हैं, जैसे पुलिस, न्याय, कृषि, सड़कें, सिंचाई, सार्वजनिक स्वास्थ्य आदि।

(iii) समवर्ती सूची

इस सूची में 52 विषय हैं। मूल संविधान के अनुसार समवर्ती सूची में 47 विषय थे। 42 वें संशोधन द्वारा राज्य सूची के चार विषय समवर्ती सूची में स्थानान्तरित कर दिए गए और एक नया विषय भी इसमें जोड़ दिया गया। इन विषयों पर कानून बनाने का अधिकार संसद और राज्य विधानमण्डल दोनों को है। इसके अन्तर्गत शिक्षा, दण्ड विधान, प्रेस, श्रम, विवाह, तलाक आदि विषय सम्मिलित हैं। संविधान में यह भी उपबंधित है कि यदि समवर्ती सूची में दिए गए किसी विषय पर संसद और राज्य विधानमण्डल दोनों ही कानून बनाते हैं और उनमें कोई विरोधाभास है तो संसद द्वारा बनाया गया कानून ही मान्य होगा और राज्य का कानून रद्द समझा जाएगा।

(iv) अवशिष्ट शक्तियाँ

संविधान के अनुच्छेद 248 के अनुसार किसी ऐसे विषय के संबंध में जिसका उल्लेख राज्य सूची अथवा समवर्ती सूची में नहीं है, कानून बनाने की अनन्य शक्ति संसद को प्रदान की गई है।

3.3 राज्य सूची में केंद्रीय हस्तक्षेप

संविधान द्वारा केंद्र और राज्यों के बीच शक्तियों का जिस प्रकार वितरण किया गया है उससे स्पष्ट है कि संविधान निर्माताओं का उद्देश्य केंद्र सरकार को अधिक से अधिक शक्तियाँ प्रदान करना था इसीलिए संख्या और महत्व दोनों ही दृष्टि से संघ सूची काफी बड़ी है। उल्लेखनीय बात यह है कि जो शक्तियाँ राज्यों को दी गई हैं उनमें भी निम्न परिस्थितियों में संसद कानून बना सकती है :

(i) राष्ट्रीय हित

संविधान के अनुच्छेद 249 के अनुसार यदि राज्य सभा उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के 2/3 बहुमत से यह प्रस्ताव पारित कर दे कि राष्ट्रीय हित में यह आवश्यक है कि संसद राज्य सूची में दिए गए किसी विषय पर कानून बनाए तो संसद उस विषय के संबंध में कानून बना सकती है। ऐसे कानून की अधिकतम अवधि एक वर्ष होगी जिसे बाद में एक अन्य संकल्प के द्वारा एक वर्ष तक और बढ़ाया जा सकता है।

(ii) आपातकालीन स्थिति में

अनुच्छेद 250 के अनुसार आपातकाल उद्घोषणा की स्थिति में संसद राज्य सूची के किसी विषय पर कानून बना सकेगी जो आपात उद्घोषणा के 6 महीने बाद तक लागू रहेगा।

(iii) राज्यों की माँग पर

संविधान के अनुच्छेद 252 के अनुसार यदि दो या दो से अधिक राज्यों के विधानमण्डल एक प्रस्ताव

पारित करके संसद से यह अनुरोध करें कि संसद राज्य सूची में दिए गए किसी विषय पर कानून बनाए तो संसद उस विषय पर कानून बनाने के लिए सक्षम होगी। इस प्रकार का कानून उन राज्यों में ही लागू हो सकेगा जिन्होंने इसके लिए अनुरोध किया था या तो राज्य बाद में उक्त कानून को एक प्रस्ताव पारित करके अंगीकार कर लें।

(iv) अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों को लागू करने के लिए

अनुच्छेद 253 के अनुसार संसद को किसी अन्तराष्ट्रीय संधि या समझौते को लागू करने के उद्देश्य से राज्य सूची सहित किसी भी विषय पर कानून बनाने का अधिकार प्राप्त है।

(v) राज्य में सांविधानिक व्यवस्था असफल होने पर

संविधान के अनुच्छेद 356 के अधीन किसी राज्य में सांविधानिक तंत्र के विफल होने पर राष्ट्रपति संबंधित राज्य विधानमण्डल के समस्त अधिकार संसद को प्रदान कर सकता है।

(vi) अन्य विधायी प्रतिबंध

उपर्युक्त प्रावधानों के अतिरिक्त अनुच्छेद 304 (ख) के अनुसार राज्य सूची से संबंधित कुछ विधेयकों को राज्य-विधान मण्डल में प्रस्तुत करने से पूर्व राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति आवश्यक होती है। इसी प्रकार अनुच्छेद 200 के अनुसार राज्यपाल किसी भी विधेयक को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए आरक्षित कर सकता है। राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि वह बिना कारण बताए ऐसे किसी भी विधेयक को अस्वीकृत कर सकता है।

केंद्र और राज्यों के बीच विधायी शक्तियों के वितरण की उपर्युक्त योजना से स्पष्ट है कि केंद्रीय सरकार आसानी के साथ राज्य सूची में हस्तक्षेप कर सकती है, विशेषकर ऐसी परिस्थितियों में जब केंद्र और राज्यों में एक ही दल सत्ता में हो, या लोक सभा और राज्य सभा में एक ही राजनैतिक दल सत्तारूढ़ हो।

समवर्ती सूची भी व्यावहारिक रूप से केन्द्र के नियंत्रण में है क्योंकि यदि केंद्र और राज्य दोनों समवर्ती सूची में दिए गए किसी विषय पर कानून बनाते हैं तो केन्द्र सरकार द्वारा बनाया गया कानून मान्य होगा।

महत्वपूर्ण बात यह है कि अवशिष्ट शक्तियाँ केंद्र सरकार को दी गई हैं जिसका अर्थ यह है कि भविष्य में वैज्ञानिक और प्राविधिक विकास के परिणाम स्वरूप जैसे-जैसे राज्य का कार्यक्षेत्र विस्तृत होगा केंद्र की शक्तियाँ भी निरंतर बढ़ती रहेंगी। यह उल्लेखनीय है कि अमेरिकी संविधान में केवल केंद्र सरकार की शक्तियों का उल्लेख किया गया है और शेष शक्तियाँ राज्यों को दी गई हैं।

3.4 प्रशासनिक संबंध

संविधान के अनुच्छेद 256 से 263 तक केंद्र और राज्यों के बीच प्रशासनिक संबंधों का उल्लेख किया गया है। चूंकि संघ सरकार द्वारा बनाए गए कानून राज्यों की जनता पर ही लागू किए जाते हैं अतः संघीय कानूनों के कार्यान्वयन को सुनिश्चित करने के लिए केंद्र के पास पर्याप्त प्रशासकीय शक्तियों का होना भी आवश्यक है। इसके लिए संविधान में निम्न प्रावधान किए गए है :

(i) राज्यों की और संघ की बाध्यता

अनुच्छेद 256 में कहा गया है कि प्रत्येक राज्य की कार्यपालिका शक्ति का इस प्रकार प्रयोग किया जाएगा जिससे संसद द्वारा बनाई गई विधियों का अनुपालन सुनिश्चित हो सके। इस उद्देश्य के लिए

भारत सरकार को राज्यों को आवश्यक निर्देश देने का अधिकार होगा।

(ii) निदेश देने की शक्ति

संविधान द्वारा केंद्र को यह भी अधिकार दिया गया है कि वह राज्यों को यह निदेश दे सके कि राज्यों को अपनी कार्यपालिका-शक्ति का प्रयोग किस तरह करना चाहिए। यह उल्लेखनीय है कि संविधान के अनुच्छेद 365 में यह भी कहा गया है कि किसी राज्य द्वारा केंद्र सरकार के निर्देशों का पालन न करना उस राज्य में सांविधानिक तंत्र की विफलता समझा जाएगा अर्थात् उस राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू किया जा सकता है।

(iii) राज्यों को शक्ति प्रदान करना

राष्ट्रपति राज्य सरकारें अथवा उसके पदाधिकारियों को किसी ऐसे विषय से संबंधित कृत्य जिन पर संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार है, सौंप सकेगा।

(iv) राज्यों द्वारा संघ को कृत्य सौंपने की शक्ति

अनुच्छेद 258 में कहा गया है कि किसी राज्य का राज्यपाल, भारत सरकार की सहमति से उस सरकार को या उसके अधिकारियों को ऐसे किसी विषय से संबंधित कृत्य को, जिन पर उस राज्य की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार है, सशर्त या बिना शर्त सौंप सकेगा। इस प्रावधान को यदि इस परिप्रेक्ष्य में देखा जाए कि राज्यपाल केंद्र के एजेन्ट की तरह होता है, अतः केंद्र सरकार बड़ी आसानी से किसी भी कार्य को, जिसमें उसकी रुचि हो, ग्रहण कर सकती है और इस प्रकार राज्यों के प्रशासनिक मामलों को प्रत्यक्ष रूप से नियंत्रित कर सकती है।

(v) अखिल भारतीय सेवाएँ

केंद्र और राज्यों की अलग-अलग प्रशासनिक सेवाएँ और अलग-अलग लोक सेवा आयोग हैं। केंद्र द्वारा स्थापित अखिल भारतीय सेवाओं के पदाधिकारी ही राज्यों में उच्च प्रशासनिक पदों पर कार्य करते हैं और राज्य-प्रशासन के केंद्र बिन्दु होते हैं। इनके माध्यम से केंद्र सरकार राज्य-प्रशासन को बड़ी हद तक प्रभावित कर सकती है।

(vi) अन्तर्राज्यीय विवादों को हल करना

राज्यों के मध्य उठने वाले विवादों की जाँच करने और सलाह देने के लिए राष्ट्रपति एक अन्तर्राज्यीय परिषद् की स्थापना कर सकता है। इसी प्रकार संसद विधि द्वारा विभिन्न राज्यों के बीच उत्पन्न होने वाले जल-विवादों को हल करने के लिए कानून द्वारा उपबंध कर सकती है।

3.5 वित्तीय संबंध

संविधान द्वारा केंद्र और राज्यों के बीच वित्तीय स्रोतों का भी विभाजन किया गया है जिसे निम्न वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

(अ) आय के साधन

(i) संघ द्वारा लगाए जाने वाले और राज्यों द्वारा इकट्ठा किए जाने वाले कर

कुछ ऐसे टैक्स हैं जो संघ सरकार द्वारा लगाए जाते हैं लेकिन उनको अलग-अलग राज्य अपने अपने भू-भाग में वसूल करते हैं। इन करों के अन्तर्गत स्टाम्प कर, एक्साइज कर जो औषधि और श्रृंगार प्रसाधन पर लगाए जाते हैं, सम्मिलित हैं।

(ii) क़र जो संघ द्वारा लगाए और वसूल किए जाते हैं किन्तु राज्यों को दे दिए जाते हैं

कुछ कर ऐसे हैं जिन्हें संघ सरकार लगाती भी है और वसूल भी करती है किन्तु यह सारी राशि संबंधित राज्य को दे दी जाती है। उदाहरण के लिए रेलवे, समुन्द्र या वायुमार्ग द्वारा ले जाये जाने वाला सामान व यात्रियों पर सीमान्त कर, रेल भाड़े पर कर इत्यादि।

(iii) संघ द्वारा लगाए और वसूल किए गए क़र, किन्तु राज्यों का उसमें भागीदार होना

कुछ कर ऐसे हैं जो केंद्र सरकार द्वारा लगाए तथा वसूल किए जाते हैं किन्तु राज्य उनमें भागीदार होते हैं। जैसे आयकर भारत सरकार द्वारा लगाया और वसूल किया जाता है लेकिन इसका निश्चित प्रतिशत राज्यों को भी मिलता है।

(iv) संघ द्वारा राज्यों को अनुदान

उपर्युक्त वित्त साधनों के अतिरिक्त केंद्र सरकार आर्थिक अनुदान के रूप में राज्यों की सहायता करती है। जैसे पीड़ितों की सहायता एवं निर्वासितों की पुनर्स्थापना तथा आर्थिक संकट आदि की दशा में केंद्र सरकार संबंधित राज्यों को अनुदान के रूप में सहायता कर सकती है। संघ सरकार को आवश्यकता पड़ने पर राज्यों को उधार देने का भी अधिकार प्राप्त है।

(ब) व्यय की मदें

संघ सरकार की व्यय की मदें हैं : सेना, डाक, तार, रेलवे, शासन संबंधी व्यय, विकास योजनाएँ तथा राज्यों की आर्थिक सहायता इत्यादि।

राज्य सरकार की व्यय की मदें हैं : शिक्षा का प्रसार; कृषि की उन्नति; सार्वजनिक स्वास्थ्य की रक्षा; अस्पताल आदि।

3.6 न्यायिक संबंध

भारतीय संविधान द्वारा किए गए शक्ति-विभाजन को संघीय न्यायपालिका संरक्षण प्रदान करती है। सर्वोच्च न्यायालय केंद्र और राज्यों के बीच किए गए शक्ति-विभाजन की व्याख्या अथवा स्पष्टीकरण करता है।

राष्ट्रपति राज्यों के उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति करता है, राज्यों के उच्च न्यायालयों के निर्णयों के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय में अपील की जा सकती है, राज्यों के बीच उत्पन्न होने वाले विवादों का निपटारा उच्चतम न्यायालय द्वारा किया जाता है। उच्चतम न्यायालय के निर्णयों को नजीर के रूप में उच्च न्यायालय स्वीकार करते हैं।

भारतीय संविधान द्वारा शक्ति-विभाजन की उपर्युक्त योजना के विश्लेषण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि विधायनी, प्रशासकीय, न्यायिक तथा आर्थिक सभी क्षेत्रों में राज्यों को सीमित शक्तियां दी गई हैं और जान-बूझ कर राज्यों को कमजोर स्थिति में रखा गया है। जो शक्तियाँ राज्यों को दी गई हैं उनमें भी केंद्र सरकार हस्तक्षेप कर सकती है। आर्थिक दृष्टि से भी राज्य सरकारें केंद्र पर आश्रित हैं।

प्रशासनिक क्षेत्र में विभिन्न सांविधानिक प्रावधानों के द्वारा तथा राज्यपाल के माध्यम से केंद्र सरकार का राज्यों पर नियंत्रण स्थापित किया गया है। भारतीय संघ में राज्यों की इतनी कमजोर स्थिति को दृष्टि में रखते हुए ही कुछ आलोचकों ने राज्यों की तुलना नगरमहापालिकाओं से की है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि सांविधानिक कारक केंद्र को शक्तिशाली बनाने के पक्ष में रहे हैं और उन्होंने एक अत्यधिक शक्तिशाली केंद्र की स्थापना की है जिसका शरीर तो संघात्मक है

किन्तु आत्मा एकात्मक है।

3.7 दल प्रणाली और केंद्र-राज्य संबंध

संविधान द्वारा स्थापित की गई संघीय योजना को कतिपय संविधानेत्तर कारकों ने और ज्यादा केन्द्रीकृत बना दिया है। इन कारकों में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका दल प्रणाली की रही है।

1952 के प्रथम चुनाव से 1967 तक भारत में कॉंग्रेस दल का राजनैतिक एकाधिकार रहा। कुछ राज्यों को छोड़कर, केंद्र और राज्यों में कॉंग्रेस दल को पूर्ण बहुमत मिलता रहा और पूरे देश का शासन कॉंग्रेस दल के हाथों में रहा। परिणाम यह हुआ कि दलीय अनुशासन के कारण राज्य केंद्र के कठोर नियंत्रण में कार्य करते रहे। राज्य में कौन मुख्यमंत्री होगा, किन्हें राज्य-मंत्रिपरिषद् में शामिल किया जाएगा; प्रदेश कॉंग्रेस के कौन पदाधिकारी होंगे, यह सब केंद्र ही तय करता था। यही नहीं केंद्र से राज्यों के लिए मुख्यमंत्री भी भेजे जाते रहे और जनता द्वारा निर्वाचित विधान सभा के सदस्य खामोश तमाशाई बने रहे।

केंद्र के वर्चस्व का दूसरा कारण दल का नेतृत्व और सरकार का नेतृत्व एक ही व्यक्ति के हाथ में होना था। नेहरू स्वयं या उनका निकटतम व्यक्ति कॉंग्रेस दल के अध्यक्ष पद पर भी रहे और प्रधानमंत्री भी। इसलिए व्यक्तित्व-उपासन का तत्व जड़ पकड़ता गया जो श्रीमती गाँधी के कार्यकाल में अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। कॉंग्रेस दल से आन्तरिक, जनतंत्र धीरे-धीरे समाप्त हो गया। ऐसी कठोर परिस्थितियों में कॉंग्रेस-शासित राज्यों के लिए यह संभव नहीं था कि वे अपनी आन्तरिक स्वतंत्रता या स्वायत्तता की माँग कर सकें। यही कारण था कि अधिकांश राज्य-सरकारें केंद्र के एजेण्ट के रूप में कार्य करती रहीं। यद्यपि कुछ राज्यों के नेतृत्व ने केंद्र के बढ़ते हुए हस्तक्षेप का विरोध किया लेकिन इनकी संख्या बहुत कम थी। जिन राज्यों में गैर-कॉंग्रेसी सरकारें बनीं, जैसे पश्चिम बंगाल या केरल उन के द्वारा स्वायत्तता की जोरदार माँग की गई और केंद्र का जमकर विरोध भी किया गया किन्तु पर्याप्त समर्थन न होने के कारण उनके विरोध का कोई ठोस परिणाम न निकला। जिन कॉंग्रेस-शासित राज्यों की तरफ से केंद्र की हस्तक्षेप-पूर्ण नीतियों का विरोध किया गया उन्हें भी 'परिवार के अन्दर के झगड़े' कहकर दबा दिया गया। संक्षेप में, स्वतंत्रता के बाद के 15 वर्षों तक केंद्र राज्यों पर शासन करता और एक दलीय आधिपत्य ने संविधान द्वारा स्थापित की गई संघीय योजना के स्वरूप को ही बदल दिया।

विगत 55 वर्षों का अनुभव यह बताता है कि केंद्र और राज्यों के संबंधों को निर्धारित करने में दल प्रणाली ने प्रत्यक्ष भूमिका अदा की है। जब भी केंद्र और राज्यों में एक ही दल की सरकार रही है, केंद्र सरकार का वर्चस्व रहा है और राज्य सरकारें कमजोर रही हैं।

लगभग यही स्थिति उस समय भी रही है जब केंद्र में समदलीय सरकार बनी और राज्यों में भिन्न दलों की सरकारों का निर्माण हुआ। इस काल में केंद्र और राज्यों के बीच तनाव तो रहा किन्तु केंद्र पर राज्यों की आर्थिक निर्भरता तथा कतिपय अन्य सांविधानिक प्रावधानों ने उन्हें केंद्र का सहयोग प्राप्त करने के लिए मजबूर कर दिया।

केंद्र और राज्यों के पारस्परिक संबंधों में आमूल परिवर्तन 1996 के बाद से आया जब केंद्र और राज्यों में साझा सरकारों का निर्माण प्रारंभ हुआ और राष्ट्रीय सरकार के निर्माण में क्षेत्रीय राजनैतिक दल भागीदार बन गए।

केंद्र और राज्यों के पारस्परिक संबंधो के परिवर्तित होते हुए स्वरूप का विस्तृत उल्लेख आगे के पृष्ठों में किया जाएगा। *(विस्तार के लिए देखें "केंद्र और राज्यों के पारस्परिक संबंध–एक समीक्षा")*

3.8 नियोजन आयोग और राष्ट्रीय विकास परिषद् की भूमिका

केंद्र और राज्यों के संबंधों को निर्धारित करने वाला दूसरा महत्वपूर्ण कारक है नियोजन आयोग। कांग्रेस सरकार ने पूरे देश के आर्थिक विकास के लिए केंद्रित योजना बनाने की नीति अपनाई और इस कार्य के लिए प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में 1950 में नियोजन आयोग की स्थापना की। नियोजन आयोग का संविधान में कोई उल्लेख नहीं है। सिद्धान्ततः नियोजन आयोग एक परामर्शदात्री संस्था है किन्तु व्यवहार में यह इतनी प्रभावशाली संस्था है कि अशोक चन्दा ने इसे देश का "आर्थिक मंत्रिमण्डल" कहा है। नियोजन आयोग राज्यों के आर्थिक विकास की योजनाएं बनाता है और उसके लिए धन का आबंटन करता है। राज्यों के आर्थिक संसाधन इतने सीमित हैं कि उन्हें केंद्र सरकार की दया पर आश्रित रहना पड़ता है। नियोजन आयोग के आर्थिक नियंत्रण के कारण राज्य सरकारें केंद्र से कोई बड़ा टकराव लेने की स्थिति में नहीं है। इस प्रकार नियोजन आयोग के माध्यम से केंद्र सरकार राज्यों पर प्रभावी नियंत्रण रखती है।

राष्ट्रीय विकास परिषद्

नियोजन आयोग की तरह ही राष्ट्रीय विकास परिषद् भी देश की आर्थिक नीतियों के निर्माण में प्रभावशाली भूमिका अदा करती है। राष्ट्रीय विकास परिषद् में सभी राज्यों के मुख्यमंत्री सदस्य होते हैं जिसे नियोजन आयोग द्वारा बनाई गई योजनाओं को अन्तिम रूप देना होता है। राष्ट्रीय विकास परिषद् आर्थिक विकास की नीतियांबनाने वाली शीर्षस्थ संस्था है। वास्तविकता यह है कि राज्यों के लिए विकास योजनाओं के संबंध में निर्णय राष्ट्रीय विकास परिषद् द्वारा लिए जाते हैं जो पूरी तरह केंद्रीय सरकार के नियंत्रण में कार्य करती है।

उपर्युक्त कारणों से केंद्र सरकार का राज्यों पर वर्चस्व लेकिन राज्यों की ओर से समय-समय पर केंद्रीय हस्तक्षेप का विरोध किया जाता रहा और उनके बीच किसी न किसी मुद्दे पर टकराव उत्पन्न होते रहे।

3.9 केंद्र और राज्यों के बीच टकराव के मुद्दे

संविधान द्वारा केंद्र और राज्यों के मध्य शक्तियों के विभाजन के बाद भी उनके बीच प्रारंभ से ही टकराव रहा भले ही वह असंतोष बहुत उभर कर सामने न आया हो। राज्यों को यह शिकायत तो रही ही कि संविधान द्वारा उन्हें जो शक्तियां दी गई हैं वह बहुत कम हैं और जो उनके आर्थिक संसाधन हैं वह भी इतने सीमित हैं कि राज्य सरकारें अपने दायित्व का ठीक ढंग से निर्वहन नहीं कर सकतीं। केंद्र द्वारा राज्यों के आन्तरिक मामलों में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से निरन्तर हस्तक्षेप किया जाता रहा जिसने राज्य-स्वायत्तता की मांग को जन्म दिया।

विगत 55 वर्षों में निम्न मुद्दे केंद्र और राज्यों के बीच तनाव के प्रमुख कारण रहे :

(i) राज्यपाल का पद

भारतीय संविधान के अनुसार राज्यपाल राज्य का मुखिया होता है जिसें राज्यों की शासन व्यवस्था में महत्वपूर्ण विधायिनी और कार्यकारिणी शक्तियाँ प्रदान की गई हैं। राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति के द्वारा की जाती है और वह उसी के प्रसाद पर्यन्त अपने पद पर कार्य करता है। राज्य विधानमण्डल को राज्यपाल को हटाने की शक्ति नहीं है जबकि केंद्र में संसद को महाभियोग द्वारा राष्ट्रपति को हटाने का अधिकार दिया गया है। राज्यपाल की नियुक्ति दलीय आधार पर केंद्र सरकार की पसंद से होती है और वह राज्य में केंद्र सरकार के एक एजेण्ट के रूप में कार्य करता है।

विगत दशकों में राज्यपाल की भूमिका अत्यधिक विवाद का विषय रही और राज्यों की तरफ से यह आरोप लगाया गया कि राज्यपाल केंद्र में सत्तारूढ़ दल के इशारे पर राजनैतिक पक्षपात के साथ कार्य करता है। विशेष रूप से मुख्यमंत्री की नियुक्ति, बहुमत-निर्धारण और राष्ट्रपति शासन की उद्घोषणा जैसे महत्वपूर्ण मामलों में राज्यपाल ने खुलकर केंद्र के इशारे पर काम किया है। इसी प्रकार राज्य विधान सभा का विघटन तथा अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपति शासन स्थापित करने में केंद्र सरकार ने राज्यपाल को एक उपकरण के रूप में प्रयोग किया है जिसका ज्वलंत उदाहरण 1977 में केंद्र में सत्तारूढ़ जनता पार्टी द्वारा आठ विधान सभाओं को राज्यपाल के द्वारा मात्र राजनैतिक कारणों से भंग कराना था। इसी के उत्तर में जब 1980 के चुनाव में कांग्रेस पार्टी पुनः सत्ता में आई तो उसने उन्हीं नौ गैर कांग्रेस-शासित राज्यों की विधानसभाओं को राज्यपाल से कहकर अनुच्छेद 356 के प्रावधानों के अनुसार भंग करा दिया। रुचिकर बात यह है कि राज्यपाल चाहे जिस दल का रहा हो वह सदैव विपक्ष की आलोचना का विषय रहा है। यह भी एक सत्य है कि अधिकांशतः राज्यपालों ने राजनैतिक निष्पक्षता का परिचय नहीं दिया है क्योंकि उनकी नियुक्ति दलीय आधार पर होती है और केंद्र में सत्ता परिवर्तन के साथ ही पाँच वर्ष की अवधि पूरी करने से पहले ही राज्यपाल भी बदल दिए जाते हैं जैसा कि हाल में यू0पी0ए0 सरकार ने भी किया है।

(ii) राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू करने के विरुद्ध राज्य सरकारों की तरफ से आवाज उठाई गई और अनुच्छेद 356 को संविधान से निकाल देने अथवा उसके प्रयोग की स्पष्ट दशाओं और सीमाओं को निश्चित करने की माँग की गई। वास्तविकता यह है कि अनुच्छेद 356 जो आपातकालीन उपबंधों का भाग है, उसे राजनैतिक उपकरण के रूप में इस्तेमाल किया गया। ऐसे भी उदाहरण हैं जब विधानसभा में पूर्ण बहुमत रखने वाली सरकार को नेतृत्व परिवर्तन करने के लिए राज्यपाल द्वारा भंग करा दिया गया।

(iii) केंद्र सरकार तथा राज्यों के बीच टकराव का एक अन्य मुद्दा केंद्र द्वारा राज्यों में सेना भेजने का है। 1968 में केंद्रीय कर्मचारियों की देश-व्यापी हड़ताल हुई और कुछ स्थानों पर स्थिति काफी गंभीर हो गई। केंद्र सरकार ने केरल सरकार की अनुमति के बिना केरल में केंद्र सरकार के कार्यालयों की रक्षा के लिए वहाँ सी0आर0पी0 भेज दी जिसका केरल सरकार ने घोर विरोध किया। केंद्र की इस कार्यवाही के प्रतिक्रिया स्वरूप केरल सरकार ने हड़ताली कर्मचारियों के विरुद्ध दायर किए गए सारे मुकदमों को वापस ले लिया। इसी प्रकार पश्चिम बंगाल में दुर्गापुर और काशीपुर में फैली अव्यवस्था को नियंत्रित करने के लिए केंद्र सरकार ने वहाँ सी0आर0पी0 भेज दी। इसका पश्चिम बंगाल की सरकार की ओर से कड़ा विरोध किया गया।

शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित करने के नाम पर अनुच्छेद 355 के अधीन केंद्र सरकार राज्यों के आन्तरिक प्रशासन में हस्तक्षेप करती रही है जिससे राज्यों में बड़ा असंतोष रहा है।

(iv) केंद्र और राज्यों के मध्य तनाव का एक महत्वपूर्ण मुद्दा आर्थिक संसाधनों के विभाजन का है। *राज्य सरकारों की यह शिकायत है कि उनके आर्थिक संसाधन बहुत ही सीमित हैं जिसके कारण वे केंद्र सरकार से बराबर ऋण अथवा अनुदान लेने के लिए विवश रहते हैं। केंद्र सरकार संसाधनों के* वितरण और आर्थिक अनुदान देने के मामले में दलीय आधार पर पक्षपात करती है।

(v) राज्यों की यह शिकायत है कि नियोजन आयोग केंद्र सरकार की इच्छानुसार, क्षेत्रीय विभिन्नताओं, स्थानीय समस्याओं तथा आवश्यकताओं पर ध्यान दिए बिना पूरे देश के लिए योजनाएँ बनाता है और उन्हें कार्यान्वित करने के लिए राज्यों पर दबाव डालता है। इस स्थिति से क्षुब्ध होकर 1969 में राष्ट्रीय विकास परिषद् की बैठक में पश्चिम बंगाल और केरल के मुख्यमंत्रियों ने चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के प्रारूप को अस्वीकार कर दिया था। राज्यों की यह माँग रही है कि नियोजन-निर्माण में उन्हें वास्तव में

भागीदार बनाया जाए। दूसरी ओर केंद्र सरकार को यह शिकायत रही है कि नियोजन तथा विकास के संबंध में राज्य सरकारें अपेक्षाकृत उदासीन रही हैं। यह भी देखा गया कि अनेक मामलों में राज्य सरकारों ने केंद्र के आदेशों अथवा बनाई हुई नीतियों को स्वीकार तो कर लिया लेकिन उनको कार्यान्वित करने में उदासीनता दिखाई।

3.10 केंद्र और राज्यों के संबंधों का पुनर्निरीक्षण-सरकारिया आयोग

1967 के चुनाव के बाद पश्चिम बंगाल, तमिलनाडु, उड़ीसा, पंजाब आदि राज्यों की तरफ से स्वायत्तता की मांग की गई और यह कहा गया कि केंद्र-राज्य संबंधों का पुनर्निर्धारण और उनके बीच शक्तियों का पुनर्वितरण किया जाए। 19 अगस्त 1969 को तमिलनाडु की तत्कालीन डी०एम०के०सरकार ने विधानसभा के तीन सदस्यों की एक समिति गठित की जिसे केंद्र-राज्य संबंधों पर पुनर्विचार करके आवश्यक संस्तुतियाँ करने का कार्य सौंपा गया। इस कमेटी के अध्यक्ष डॉ० राजमन्नार थे। समिति ने केंद्र और राज्यों के बीच संविधान द्वारा किए गए वर्तमान शक्ति-विभाजन में संशोधन करने के कुछ महत्वपूर्ण सुझाव दिए। स्वाभाविक है कि इन संस्तुतियों को केंद्र की कांग्रेस सरकार द्वारा गम्भीरता से नहीं लिया गया।

यह उल्लेखनीय है कि जनता पार्टी के शासनकाल में केंद्र-राज्य संबंधों के पुनर्निरीक्षण करने और राज्यों को स्वायत्तता देने का कोई प्रयास नहीं किया गया जबकि इसी पार्टी के कुछ घटक दल कांग्रेस के शासन काल में राज्यों की स्वायत्तता के अग्रदूत रहे थे।

1980 के चुनाव में केंद्र में फिर काँग्रेस पार्टी की सरकार की स्थापना हुई। गैर-काँग्रेसी सरकारों की तरफ से स्वायत्तता की मांग फिर शुरू हुई। 1983 में केंद्र सरकार ने न्यायमूर्ति रणजीत सिंह सरकारिया की अध्यक्षता में एक तीन-सदस्यीय आयोग की नियुक्ति की जिसे केंद्र-राज्य संबंधों को सुधारने और स्वायत्तता की माँग के विभिन्न पक्षों पर विचार करने का कार्य सौंपा गया। अकाली दल और तेलगूदेशम पार्टी ने केंद्र को केवल चार विषय, सुरक्षा, विदेश-संबंध, संचार तथा मुद्रा-व्यवस्था देने का सुझाव दिया और शेष विषय राज्यों को देने की मांग की। सरकारिया आयोग ने लगभग पाँच वर्षों के विचार-विमर्श के उपरान्त 1987 में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया।

सरकारिया आयोग का विचार था कि केंद्र और राज्यों के संबंधों में सुधार लाने के लिए किसी संरचनात्मक परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है। समस्या जो भी है वह संविधान के वर्तमान उपबंधों को ठीक ढंग से लागू करने तथा स्वस्थ संसदीय परम्पराओं को सुरक्षित रखने की है। आयोग ने स्पष्ट रूप से कहा कि भारत की परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुए केंद्र सरकार को शक्तिशाली बनाना अत्यधिक आवश्यक है। "निःसंदेह हमें मजबूत केंद्र की सख्त जरूरत है इसके बिना तो मानो सब कुछ बिखर जाएगा।" *(इंडिया टुडे 29.2.1988)* आयोग ने कहा कि "संघवाद एक स्थिर संस्थात्मक अवधारणा से कहीं ज्यादा पारस्परिक सहयोग पर आधारित कार्यात्मक व्यवस्था का नाम है।

सरकारिया आयोग ने राज्यों में राज्यपाल की नियुक्ति; बहुमत-निर्धारण की प्रक्रिया, राज्यों में सांविधानिक संकट की उद्घोषणा; केंद्र द्वारा राज्यों में सेना भेजना आदि मुद्दों पर सविस्तार विचार किया। आयोग की कुछ महत्वपूर्ण संस्तुतियाँ इस प्रकार थीं–

1. सक्रिय राजनीतिज्ञों को राज्यपाल के पद पर न नियुक्त किया जाए। यदि किसी राज्य में वह दल सत्ता में नहीं है जो केंद्र में सत्तारूढ़ है तो उस राज्य में ऐसे व्यक्ति को राज्यपाल न बनाया जाए जो केंद्र में सत्तारूढ़ दल का सदस्य है।

2. अनुच्छेद 151 में यह व्यवस्था कर देना चाहिए कि राज्यपाल की नियुक्ति के मामले में संबंधित राज्य के मुख्यमंत्री से परामर्श करना आवश्यक होगा। आसाधारण परिस्थितियों के अतिरिक्त, राज्यपाल को उसकी निर्धारित अवधि (पाँच वर्ष) से पहले नहीं हटाया जाना चाहिए। यदि उससे पहले राज्यपाल को हटाना है तो उक्त मामले को एक परामर्शदात्री समिति के समक्ष रखना होगा।

3. राज्य विधान सभाओं में बहुमत-निर्धारण के विषय में सरकारिया आयोग ने यह संस्तुति की कि, विधानसभा में सबसे बड़े राजनैतिक दल को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया जाना चाहिए और 30 दिनों के अन्दर उसे सदन में अपना बहुमत सिद्ध करना चाहिए। बहुमत में होने या न होने का निर्णय सदन में ही किया जाना चाहिए।

4. आयोग ने अनुच्छेद 356 को अन्तिम उपकरण के रूप में कुछ सीमाओं के साथ केवल असाधारण परिस्थितियों में ही प्रयोग किए जाने का सुझाव दिया।

5. अनुच्छेद 355 के.अधीन राज्यों में सेना भेजने के अधिकार का प्रयोग संबंधित राज्य से परामर्श करने के बाद ही किया जाना चाहिए।

6. राज्यों के आर्थिक संसाधनों में वृद्धि के लिए सरकारिया आयोग ने किसी मौलिक परिवर्तन का सुझाव नहीं दिया। उसने कहा कि केंद्र और राज्यों के बीच आर्थिक संसाधनों के पुनर्वितरण के प्रश्न पर विचार करने के लिए विशेषज्ञों की एक समिति का गठन किया जाना चाहिए।

विपक्षी दलों ने सरकारिया आयोग की संस्तुतियों को निराशाजनक बताया। लगभग दो दशक का समय गुज़र जाने के बाद भी सरकारिया आयोग की संस्तुतियों को कार्यान्वित नहीं किया गया। केंद्र और राज्यों के बीच विवाद के प्रमुख मुद्दे जैसे राज्यपाल की नियुक्ति-विमुक्ति; बहुमत-निर्धारण का प्रश्न; अनुच्छेद 356 का प्रयोग; केंद्र पर राज्यों की दिनोंदिन बढ़ती निर्भरता आदि आज भी उसी तरह बने हुए हैं। इस पूरे प्रकरण में ध्यान देने योग्य बात यह है कि एक दलीय आधिपत्य की समाप्ति और संविद सरकारों के निर्माण के बाद भी केंद्र और राज्य संबंधों में सुधार लाने के लिए कोई ठोस कदम नहीं उठाया गया। वही राजनैतिक दल जो कल तक राज्यों की स्वायत्तता का झंडा उठाए हुए थे सत्ता में आने के बाद उन माँगों को भूल गए।

3.11 केंद्र-राज्य संबंध–एक समीक्षा

विगत पाँच दशकों में केंद्र और राज्यों के बीच संबंधों का स्वरूप बदलता रहा जबकि संविधान द्वारा स्थापित की गई संघीय योजना अपरिवर्तित रही। राज्यों की ओर से स्वायत्तता की माँग और संघीय-योजना में परिवर्तन के विभिन्न सुझावों के बाद भी सांविधानिक प्रावधानों में कोई परिवर्तन नहीं किया गया किन्तु दल-प्रणाली ने संघीय व्यवस्था के कार्यान्वयन को बहुत ज्यादा प्रभावित किया। केंद्र और राज्यों में सत्ता-परिवर्तन के साथ ही केंद्र-राज्य संबंधों में भी बदलाव आता रहा।

1950 से 1967 तक पूरे देश में (कुछ राज्यों को छोड़कर) कांग्रेस का एकछत्र शासन रहा। नेहरू के प्रभावशाली नेतृत्व ने केंद्र और राज्यों को मजबूती से एकता के सूत्र में बाँधे रखा और उनके बीच जो भी मतभेद उत्पन्न हुए उन्हें पार्टी-संगठन के स्तर पर हल कर लिया गया। योजना आयोग तथा राष्ट्रीय विकास परिषद् ने केंद्र के प्रभुत्व को बढ़ा दिया। व्यावहारिक रूप से अधिकांश राज्य-सरकारें केंद्र के इशारों पर काम करती रहीं। परिणाम स्वरूप राज्य अपनी सांविधानिक शक्तियों के प्रयोग करने में भी स्वतंत्रता से कार्य न कर सके। एक-दलीय आधिपत्य ने शक्ति-केंद्रीकरण को और ज्यादा बढ़ा दिया। इसीलिए इसे केंद्रीकृत संघवाद का काल कहा जाता है।

1967 के आम चुनाव में दलीय दृष्टि से राजनीति का नक्शा बदल गया। कांग्रेस का एकछत्र शासन

समाप्त हुआ और आठ राज्यों में गैर-कांग्रेसी मिश्रित सरकारों का निर्माण हुआ। बंगाल, पंजाब, तमिलनाडु आदि राज्यों से स्वायत्तता की माँग तो उठी किन्तु केंद्र पर उसका कोई विशेष असर न हुआ। साझा सरकारें आपसी मतभेदों के कारण जल्दी ही बिखर गईं। नेहरू के बाद केंद्र में नेतृत्व का गंभीर संकट उत्पन्न हुआ; कांग्रेस दो टुकड़ों में विभाजित हो गई। कांग्रेस-शासित राज्यों के मुख्यमंत्रियों ने केंद्रीय नेतृत्व के खिलाफ सर उठाना शुरू किया। इन परिस्थितियों में स्वयं केंद्र की कांग्रेस-सरकार के लिए कांग्रेस-शासित राज्यों और गैर-कांग्रेस-शासित राज्यों दोनों ही के सहयोग की आवश्यकता बढ़ गई। एक ओर केंद्र में कांग्रेस दल में आन्तरिक टकराव और नेतृत्व का संकट था। दूसरी ओर राज्यों में साझा-सरकारें अपने-अपने अस्तित्व के लिए संघर्षरत थीं। इसलिए केंद्र और राज्यों के बीच वैचारिक विरोध के अतिरिक्त कोई ऐसा टकराव नहीं हुआ जिसके कारण कोई बड़ा सांविधानिक संकट उत्पन्न हुआ हो। वास्तविकता यह है कि 1967 से 1971 का काल कमजोर केंद्र और कमजोर राज्य वाले संघ का चित्र प्रस्तुत करता है। केंद्र में गुटों में बंटी कांग्रेस, सशक्त नेतृत्व की तलाश में थी और राज्यों में साझा सरकारें जीवित रहने के लिए प्रयासरत थीं। 1967–71 का काल केंद्र और राज्यों के बीच गम्भीर टकराव का काल होता यदि राज्यों में स्थिर सरकारें होती या केंद्र में कांग्रेस पार्टी आन्तरिक संकट का शिकार न होती। रजनी कोठारी का कहना है कि "वास्तव में गैर-कांग्रेसी मुख्यमंत्रियों से निभाव केंद्रीय कांग्रेस सरकार के लिए ज्यादा आसान सिद्ध हुआ बजाए कांग्रेस मुख्यमंत्रियों के जो कांग्रेस दल और केंद्रीय सरकार के मामलों में भी दखल देने की कोशिश करते थे, क्योंकि वे अपने को केवल मुख्यमंत्री नहीं, कांग्रेस का अखिल भारतीय नेता भी मानते थे। केंद्र और राज्यों के बीच विभिन्न विवादों के बावजूद दोनों ही अपनी-अपनी कमजोरियों और मजबूरियों के कारण एक दूसरे से टक्कर लेने की स्थिति में न थे अतः इस काल (1967–71) को कुछ लोगों ने सहयोगी संघवाद कहा है।

1971 से 1977 तक का काल एकात्मक संघवाद का युग कहा जाता है। 1971 के चुनाव में श्रीमती गाँधी के नेतृत्व में फिर पूरे देश में कांग्रेस पार्टी का राजनैतिक एकाधिकार स्थापित हो गया। श्रीमती गाँधी ने चुनाव में न केवल विपक्षी दलों को पराजित किया वरन् कांग्रेस के अन्दर से उभरी नई पार्टी (कांग्रेस संगठन) को भी बुरी तरह हराया। श्रीमती गाँधी एक सशक्त नेता के रूप में उभरीं जिनका पार्टी-संगठन और सरकार दोनों पर वर्चस्व स्थापित हो गया। उन्होंने देश की राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन करना चाहा जिसके लिए 42वें संशोधन के रूप में एक लघु-संविधान बनाया गया; न्यायपालिका की शक्तियों में कटौती की गई, राज्य की सरकारों का इच्छानुसार गठन और पुनर्गठन किया गया, और पूरी संसदीय व्यवस्था व्यवहार में 'प्रधानमंत्रीय व्यवस्था' में परिवर्तित हो गई। अपने विरोधियों को दबाने के लिए श्रीमती गाँधी ने देश में आपात उद्घोषणा करा दी। इस राजनैतिक वातावरण में डरे और सहमें हुए राज्य केंद्र से कोई टकराव लेने की स्थिति में न रहे। संघीय व्यवस्था एकात्मक सरकार में परिवर्तित हो गई।

1977 के चुनाव के बाद केंद्र में पहली गैर-कांग्रेसी सरकार की स्थापना हुई। इस गठबंधन सरकार में लगभग वे सभी गैर-कांग्रेसी दल शामिल थे जो सत्ता में आने से पहले राज्य स्वायत्तता के पक्षधर थे लेकिन सत्ता में आने के बाद वही नेता अपनी-अपनी कुर्सी बचाने के चक्कर में पड़ गए। मात्र दो साल की अवधि में तीन प्रधानमंत्री बदले और अंत में जनता सरकार का अंत हो गया। इस काल में अलग-अलग राज्यों में भिन्न-भिन्न दलों की सरकारें बनी जिन्होंने सामूहिक हितों के बजाए अपने-अपने हितों में केंद्र से सौदेबाजी शुरू कर दी। फलस्वरूप केंद्र और राज्यों के संबंध में कोई एक प्रतिमान विकसित न हो सका।

1980 से 1989 तक के काल में कांग्रेस के राजनैतिक एकाधिकार की पुनर्स्थापना हुई। 1979 में जनतापार्टी की सरकार के खत्म हो जाने और केवल दो वर्ष के अन्तराल के बाद 1980 के चुनाव में

श्रीमती गाँधी की भारी जीत से लगभग सभी गैर काँग्रेसी राजनैतिक दलों का मनोबल खत्म हो गया। देश के अधिकांश राज्यों में पुनः काँग्रेस सरकारें अस्तित्व में आई। श्रीमती गाँधी के चमत्कारी नेतृत्व और राजीव गाँधी के युवा नेतृत्व ने राज्यों को केंद्र के नियंत्रण में रखा। केंद्र और राज्यों के बीच सहयोग रहा हो या न रहा हो किन्तु केंद्र की दृढ़ राजनैतिक स्थिति के कारण राज्य सरकारें किसी सौदेबाजी की स्थिति में न थी।

1989 के बाद से केंद्र राजनैतिक दृष्टि से कमजोर होना शुरू हुआ। जनता दल की साझा सरकार परस्पर विरोधी विचारधाराओं के बीच समन्वय करने का एक असफल प्रयास था। 1991 में गठित नरसिहाराव की काँग्रेस सरकार अल्पमत की सरकार थी जिसने समझौते की नीति के सहारे पाँच वर्ष की अवधि पूरी कर ली।

1996 के चुनाव के बाद से वास्तव में सौदेबाजी वाली संघ व्यवस्था तथा देश में साझा सरकार का युग प्रारंभ हो गया। केंद्र में गैर काँग्रेसी दलों की साझा सरकारें अस्तित्व में आयीं। इन गठबंधनों में क्षेत्रीय राजनैतिक दलों की निर्णायक भूमिका रही। 1996 से 2004 के बीच गठित गैर-काँग्रेसी मिश्रित सरकारों में एक दर्जन से ज्यादा राजनैतिक दल शामिल रहे। संघ सरकार इन्हीं दलों के प्रसाद पर्यन्त बनती और टूटती रही। इस राजनैतिक परिदृश्य में संघीय व्यवस्था की दिशा ही बदल गई। आन्तरिक अंतर्विरोध के कारण केंद्र सरकार कमजोर होती गई और राज्य सरकारें शक्तिशाली हो गई। केंद्र सरकार के निर्माण और विघटन की शक्ति क्षेत्रीय दलों के पास आ गई। इन परिस्थितियों में "समझौते की राजनीति" का प्रारंभ हुआ। राज्य सरकारें अपना समर्थन देने के लिए केंद्र से सौदेबाजी करने लगीं। सामयिक राजनैतिक स्वार्थ के लिए राजनैतिक दलों ने अपनी राजनैतिक वैचारिकी का परित्याग कर दिया। रूठने और मनाने की राजनीति का प्रारंभ हुआ। तृणमूल काँग्रेस जैसे 2–3 सदस्यों वाले दल ने भी सरकार से समर्थन वापस लेने की धमकी दी। तमिलनाडु की मुख्यमंत्री जयललिता को मनाने के लिए प्रधानमंत्री ने अपना प्रतिनिधि भेजा। छोटे-छोटे क्षेत्रीय राजनैतिक दलों ने केंद्र से सौदेबाज़ी शुरू कर दी।

2004 के चुनाव के बाद कांग्रेस पार्टी ने पहली बाद राष्ट्रीय स्तर पर साझा सरकार का निर्माण किया। इस सरकार में एक और वामपंथी दल हैं जो हर मामले में अपना दबाव बनाते हैं और दूसरी ओर छोटे-छोटे दल हैं जो अपने हितों के लिए निरन्तर सौदेबाजी में लगे हैं। हाल में बिहार मे राष्ट्रीय जनता दल के नेता, लालू प्रसाद के दबाव के कारण ही केंद्र ने वहां राष्ट्रपति शासन की उद्घोषणा की जबकि यू0पी0ए0 सरकार के एक अन्य घटक दल के नेता राम विलास पासवान इसका घोर विरोध कर रहे थे।

वर्तमान परिस्थितियों में जो संघीय व्यवस्था विकसित हो रही है उसमें केंद्र भी कमजोर है और राज्य भी कमजोर है। केंद्रीय सरकार इस कारण कमजोर है कि उस का अस्तित्व ही छोटे-छोटे राजनैतिक दलों की दया पर निर्भर करता है; राज्य इसलिए शक्तिशाली नहीं हो पाए कि उनमें एकता और मतैक्य नहीं है। वे अपने-अपने स्वार्थ के लिए खुद आपस में लड़ रहे हैं। इस प्रकार सौदेबाजी दो तरह की हो रही है–एक ओर राज्यों में आपस में और दूसरी ओर केंद्र और राज्यों के बीच। रुचिकर बात यह है कि इस सौदेबाजी में माँगने वाले और देने वाले एक ही लोग हैं अर्थात् राज्यों में सत्तारूढ़ दल जो केंद्र से अधिक शक्तियों की माँग कर रहे हैं वही केंद्र सरकार के घटक दल भी हैं।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि भारत की संघीय व्यवस्था संविधान और संविधान बनाने वालों के मन्तव्य के विपरीत दिशा में विकसित हो रही है। यदि निकट भविष्य में सुसंगठित राष्ट्रीय दलों का विकास न हुआ तो भारतीय संघ एक ढीले संघ में परिवर्तित हो सकता है।

3.12 सारांश

भारतीय संविधान के 11वें भाग में केंद्र और राज्यों के पारस्परिक संबंधों का सविस्तार उल्लेख किया गया है। संविधान द्वारा अपनाई गई शक्ति-विभाजन की मूल योजना में ही राज्यों को सीमित शक्तियाँ दी गई हैं। रूचिकर बात यह है कि जो शक्तियाँ राज्यों को दी गई हैं उनमें भी, कुछ परिस्थितियों में, केंद्र सरकार को हस्तक्षेप करने का अधिकार दिया गया है। इस प्रकार संविधान एक ऐसे संघ की स्थापना करता है जिसमें केंद्रीकरण की प्रवृत्तियाँ प्रधान रूप से पाई जाती हैं।

केंद्र और राज्यों की सांविधानिक स्थिति को कतिपय संविधानेत्तर कारकों ने बहुत ज्यादा प्रभावित किया है। इनमें दल-प्रणाली और नियोजन आयोग की भूमिका उल्लेखनीय है। संविधान लागू होने के बाद से 1996 तक (कुछ वर्षों को छोड़कर) लगभग 25 वर्षों तक सत्तारूढ़ कांग्रेस दल ने राज्यों को अपने दबाव में रखा और केंद्र सरकार का राज्यों पर वर्चस्व स्थापित रहा।

1996 के बाद से साझा सरकारों का युग प्रारंभ हुआ। केंद्र और अधिकांश राज्यों में साझा सरकारों का निर्माण हुआ। क्षेत्रीय राजनैतिक दलो की सहायता के बगैर राष्ट्रीय दलों के लिए सरकार बनाना असंभव हो गया। इन परिस्थितियों में केंद्र सरकार अपने अस्तित्व के लिए राज्यों पर और राज्य अपने विकास के लिए केंद्र पर निर्भर हो गए। दोनों एक दूसरे के सहयोग के लिए आगे आए लेकिन अपने-अपने राजनैतिक हितों की पूर्ति के लिए। इस प्रकार केंद्र और राज्यों के बीच सौदेबाजी का युग प्रारंभ हो गया।

नियोजन आयोग संपूर्ण देश के लिए विकास योजनाएँ बनाता है और केंद्र तथा राज्यों के बीच आर्थिक साधनों का वितरण करता है। राज्य आर्थिक दृष्टि से पूरी तरह केंद्र पर आश्रित हैं अतः यदि उन्हें नियोजन आयोग से कुछ पाना है तो उसके लिए उन्हें केंद्र का समर्थन प्राप्त करना होगा।

केंद्र और राज्यों के बीच राजनैतिक समीकरण बदल रहे हैं। राज्यों में भिन्न-भिन्न दलों की सरकारें होने के कारण अंतर्राज्यीय टकराव बढ़े हैं। केंद्र सरकार अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए राज्यों के साथ कठोरता का व्यवहार नहीं कर सकती। इस प्रकार एक दलीय आधिपत्य के अन्त के बाद से अब तक केंद्र सरकार कमजोर हुई है और क्षेत्रीय राजनैतिक दलों की सौदेबाजी की क्षमता में वृद्धि हुई है। केंद्र और राज्यों के संबंधों में यह आमूल परिवर्तन संविधानेत्तर कारकों के कारण, विशेषकर बहुदलीय प्रणाली के तेजी से विकसित होने के कारण हुआ है। केंद्र-राज्य संबंधों में बढ़ती हुई अनिश्चितता दूरी संघीय व्यवस्था के लिए कोई अच्छी बात नहीं है।

केंद्र और राज्यों के बीच वर्तमान में हो रही सौदेबाजी का स्वरूप 1967–1971 के बीच की सौदेबाजी से बिल्कुल भिन्न है। पहले यह सौदेबाजी केंद्र में सत्तारूढ़ कांग्रेस और राज्यों में सत्तारूढ़ गैर-कांग्रेसी दलों के बीच थी। 1996 के बाद विकसित होने वाली सौदेबाजी में मांगने वाले और देने वाले दोनों ही एक हैं क्योंकि राज्यों की साझा सरकारों के गैर-कांग्रेसी घटक दल की केंद्र की साझा सरकार में भी भागीदार हैं। यह एक दिलचस्प स्थिति है।

3.13 संदर्भ ग्रन्थ/उपयोगी पुस्तकें

1. Santhanam. K; Union State relations in India.
2. Setalvad, M.C; Union and State relations under the Constitutions.
3. Kothari, Rajni; Politics in India.
4. Thakur, Ramesh; The Government and Politics of India.

3.14 संबंधित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. भारत में केंद्र और राज्यों के विधायनी तथा प्रशासनिक संबंधों का विवेचन कीजिए।
2. केंद्र-राज्य संबंधों पर दल-प्रणाली के प्रभाव का परीक्षण कीजिए।
3. सरकारिया आयोग की प्रमुख संस्तुतियों का वर्णन कीजिए।

लघु-उत्तरीय प्रश्न

1. भारतीय संविधान में केंद्र और राज्यों के बीच शक्ति-विभाजन की क्या योजना अपनाई गई है?
2. भारतीय संविधान के असंघीय तत्व क्या हैं?
3. किन परिस्थितियों में केंद्र सरकार को राज्य-सूची में दिए गए विषयों पर कानून बनाने का अधिकार है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. भारतीय संविधान में अवशिष्ट शक्तियाँ किसके पास हैं?
   (A) केंद्र
   (B) राज्य
   (C) केंद्र औ राज्य दोनों के पास
   (D) किसी के पास नहीं
2. नई अखिल भारतीय सेवाओं के निर्माण करने का अधिकार किसके पास है?
   (A) राष्ट्रपति
   (B) लोकसभा
   (C) राज्यसभा
   (D) संघ लोक सेवा आयोग
3. निम्न में से कौन सा कथन सही नहीं है?
   (A) केंद्र सरकार केवल संघ सूची पर कानून बना सकती है।
   (B) राज्य सरकारें केवल राज्य सूची पर कानून बना सकती हैं।
   (C) समवर्ती सूची पर केवल संघ सरकार कानून बना सकती है।
   (D) अवशिष्ट शक्तियाँ केंद्र सरकार के पास हैं।

3.15 प्रश्नोत्तर

1. (A)
2. (C)
3. (C)

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय

MAPS-107

भारतीय शासन और राजनीति

खण्ड

2

भारतीय संविधान - वैचारिक तत्व

इकाई 4

संविधान की उद्देशिका, मूल अधिकार और मूल कर्तव्य 5

इकाई 5

राज्य के नीति-निदेशक सिद्धान्त 35

इकाई 6

संविधान-संशोधन और सामाजिक परिवर्तन 50

विशेषज्ञ समिति

प्रो. आर.के. मणि त्रिपाठी अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष दीन दयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय गोरखपुर	विषय विशेषज्ञ
प्रो. एल.डी. ठाकुर अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष राजनीतिशास्त्र विभाग लखनऊ विश्वविद्यालय लखनऊ	विषय विशेषज्ञ
प्रो. एस.एम. सईद राजनीतिशास्त्र विभाग लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ	विषय विशेषज्ञ
डॉ. मंजूलिका श्रीवास्तव रीडर, इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय नई दिल्ली	दूरस्थ शिक्षा विशेषज्ञ
प्रो. एस. के. द्विवेदी राजनीति शास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय लखनऊ	सम्पादक

परामर्श समिति

प्रो. केदार नाथ सिंह यादव, कुलपति	अध्यक्ष
डॉ. हरीश चन्द्र जायसवाल, वरिष्ठ परामर्शदाता	कार्यक्रम संयोजक
प्रो. के. पी. सिंह, वरिष्ठ परामर्शदाता	सदस्य
डॉ. अर्जुन तिवारी, वरिष्ठ परामर्शदाता	सदस्य
प्रो. ए.यन. द्विवेदी, वरिष्ठ परामर्शदाता	सदस्य
डॉ. रत्नाकर शुक्ला, कुलसचिव	सचिव

PGPS-04 :– भारतीय शासन और राजनीति

लेखक मण्डल

खण्ड एकः	**प्रो. एस.एम. सईद**, राजनीति शास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ	3 इकाई
खण्ड दोः	**प्रो. एस.एम. सईद**, राजनीति शास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ	3 इकाई
खण्ड तीनः	**प्रो. बी.के. तिवारी**, राजनीति शास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ	4 इकाई
खण्ड चारः	**डॉ. वी.के. राय, रीडर**, राजनीति शास्त्र विभाग, इला. विश्वविद्यालय, इलाहाबाद	3 इकाई
खण्ड पाँचः	**डॉ. एम. शाहिद, रीडर**, राजनीति शास्त्र विभाग, इला. विश्वविद्यालय, इलाहाबाद	4 इकाई

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालब, इलाहाबाद

सर्वाधिकार सुरक्षित, इस कार्य का कोई भी अंश उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की लिखित अनुमति के बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुति अनुमति नहीं है।

दूरस्थ शिक्षा परिषद नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित

खण्ड 2 का परिचय : भारतीय संविधान – वैचारिक तत्व

भारतीय संविधान किसी एक राजनैतिक विचारधारा का प्रतीक न होकर विभिन्न विचारधाराओं का अद्‌भुत सम्मिश्रण है। संविधान के मूल में व्यक्तिवाद, उदारवाद, समाजवाद, गाँधीवाद, मानवतावाद, राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रवाद के तत्त्व स्पष्ट रूप से विद्यमान हैं जिनकी प्रतिध्वनि संविधान की उद्देशिका में महसूस की जा सकती है। उद्देशिका में जन-संप्रभुता; लोकतंत्र, गणतंत्र, स्वतंत्रता, समानता, सामाजिक न्याय, समाजवाद, पंथ-निरपेक्षता आदि का उल्लेख किया गया है जो हमारी सांविधानिक व्यवस्था की आधारिक विशेषताएँ हैं। इनमें से कुछ सिद्धान्तों को संविधान के भाग 3 में मूल अधिकारों के रूप में मान्यता दी गई है और कुछ आदर्शों को भाग 4 में राज्य के नीति-निदेशक सिद्धान्तों के रूप में स्थान दिया गया है। यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि अधिकारों का अस्तित्व कर्तव्यों के बिना संभव नहीं है। इसीलिए भारतीय संविधान में नागरिकों के कर्तव्यों का भी उल्लेख किया गया है। इस प्रकार संविधान की उद्देशिका और संविधान का भाग 3 और भाग 4 एक दूसरे के पूरक हैं, उनके बीच एक अटूट संबंध है।

कोई भी सांवधानिक व्यवस्था या संविधान स्थिर नहीं होता; सामाजिक परिवर्तनों के अनुरूप ही संविधान में भी परिवर्तन होता रहता है। यही कारण है कि विश्व के सभी संविधानों में संविधान को संशोधित करने की प्रक्रिया का उल्लेख पाया जाता है। भारतीय संविधान के अध्याय 33 में संविधान में संशोधन करने की प्रक्रिया का उल्लेख किया गया है।

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से प्रस्तुत खण्ड 2 को तीन इकाइयों में विभाजित किया गया है। पहली इकाई में संविधान की उद्देशिका के विश्लेषणात्मक विवेचन के उपरान्त मूल अधिकारों और मूल कर्त्तव्यों के विभिन्न पक्षों का आलोचनात्मक परीक्षण किया जाएगा।

संविधान के भाग 4 में उल्लिखित नीति-निदेशक सिद्धान्तों की प्रकृति, स्वरूप उनकी उपयोगिता और कार्यान्वयन का विवेचना इस खण्ड की दूसरी इकाई में किया जाएगा।

विगत 55 वर्षों में भारतीय संविधान में किए गए संशोधनों ने राजनैतिक तंत्र तथा सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था को एक नई दिशा दी है और शासन-व्यवस्था के विभिन्न घटकों के पारस्परिक संबंधों को पुनर्परिभाषित किया है। तीसरी इकाई में इन्हीं बिन्दुओं पर चर्चा की जाएगी।

इकाई–4 संविधान की उद्देशिका, मूल अधिकार और मूल कर्त्तव्य

इकाई की रुपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 भारतीय संविधान की उद्देशिका का स्रोत

4.3 संविधान की उद्देशिका का स्वरूप

4.4 उद्देशिका का महत्व

4.5 मूल अधिकार और उनकी प्रकृति

4.6 संविधान द्वारा प्रदत्त मूल अधिकार

4.7 संपत्ति का अधिकार प्रारम्भ से वर्तमान तक

4.8 मूल अधिकारों में संशोधन–संविधान का मूल संरचना सिद्धान्त

4.9 मूल कर्त्तव्य

4.10 सारांश

4.11 संदर्भ ग्रन्थ/उपयोगी पुस्तकें

4.12 संबंधित प्रश्न

4.13 प्रश्नोत्तर

4.0 उद्देश्य

इस अध्याय का उद्देश्य संविधान के उपर्युक्त तीन पक्षों–प्रस्तावना, मूल अधिकार और मूल कर्त्तव्यों का विस्तृत विवेचन करना है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

- भारतीय संविधान की उद्देशिका का विश्लेषण कर सकेंगे,
- उद्देशिकता के महत्त्व व उसकी वैधानिक स्थिति पर विचार प्रकट कर सकेंगे,
- नागरिकों को दिए गए मूल अधिकारों का स्वरूप और उन पर सांविधानिक प्रतिबंध का उल्लेख कर सकेंगे,
- नीति-निदेशक सिद्धान्तों के बीच संबंध पर टिप्पणी कर सकेंगे,
- 1976 में किए गए 42वें संशोधन के द्वारा संविधान में जोड़े गए नागरिको के मूल कर्त्तव्यों की प्रकृति तथा महत्त्व की आलोचनात्मक व्याख्या कर सकेंगे।

4.1 प्रस्तावना

प्रत्येक पुस्तक के प्रारंभ में एक प्राक्कथन होता है जिसमें पुस्तक के विषय-वस्तु, उसके उद्देश्य, उसके क्षेत्र तथा उसके उपागम आदि का संक्षिप्त उल्लेख किया जाता है। यह प्राक्कथन पुस्तक का

सार होता है जिसे पढ़कर पुस्तक के विषय में प्रारंभिक जानकारी मिल सकती है। ठीक इसी तरह लगभग सभी संविधानों के प्रारम्भ में एक 'प्रस्तावना' होती है जिसमें शासन-व्यवस्था के मूल आधार, उसके दर्शन, उसके स्वरूप तथा उसके लक्ष्य आदि का उल्लेख किया जाता है। संविधान की प्रस्तावना संपूर्ण सांविधानिक व्यवस्था का परिचय कराती है।

भारतीय संविधान की उद्देशिका में भी उन मूल सिद्धान्तों और आदर्शों का उल्लेख पाया जाता है जिनके आधार पर सांविधानिक व्यवस्था का निर्माण किया गया है। उद्देशिका में उल्लिखित नागरिक स्वतंत्रताओं को सविस्तार संविधान के भाग 3 में नागरिकों के मूल अधिकारों के रूप में समाहित किया गया है। चूंकि अधिकारों का अस्तित्व बिना कर्त्तव्यों के संभव नहीं है इसलिए संविधान में नागरिकों के मूल कर्त्तव्यों का भी उल्लेख किया गया है। इस प्रकार उद्देशिका, मूल अधिकार और मूल कर्तव्य एक सांविधानिक श्रृंखला की रचना करते हैं।

4.2 भारतीय संविधान की उद्देशिका का स्त्रोत

संविधान की उद्देशिका को संविधान की आत्मा कहा जाता है। डॉ0 सुभाष काश्यप के अनुसार, "संविधान राष्ट्र का मूलभूत अधिनियम है। वह राज्य के विभिन्न अंगों का गठन कर उन्हें शरीर देता है, शक्ति देता है। उसके शरीर गठन के पीछे अंगों की व्यवस्था के पीछे एक प्रेरणा होती है, एक आत्मा होती है जिसको शब्द रूप मिलता है प्रस्तावना में।"[1] *(काश्यप, सुभाषः लोकतंत्र समीक्षा, अप्रैल-जून 2969; पृ0 99)* भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने बेरूबारी विवाद में निर्णय देते हुए कहा था कि "प्रस्तावना संविधान-निर्माताओं के आशय को स्पष्ट करने वाली कुंजी है।"

भारतीय संविधान की उद्देशिका का आधार जवाहरलाल नेहरू द्वारा तैयार किया गया वह "उद्देश्य प्रस्ताव" है जिसे उन्होंने 13 दिसम्बर 1946 को संविधान-निर्मात्री सभा में प्रस्तुत किया था। इस प्रस्ताव में स्वतंत्र भारत के लिए बनाए जाने वाले संविधान के मूल-सिद्धान्तों और शासन व्यवस्था की एक रूपरेखा प्रस्तुत की गई थी। यह एक प्रकार का घोषणा-पत्र था जिसमें यह बताया गया था कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हम किस प्रकार के शासनतंत्र को स्थापित करेंगे, हमारा लक्ष्य क्या है और हमें किधर जाना है। संविधान-निर्मात्री सभा ने आठ दिनों तक 'उद्देश्य-प्रस्ताव' पर विचार-विमर्श करने के उपरान्त 22 जनवरी 1946 को उसे स्वीकार किया। यह उद्देश्य-प्रस्ताव ही संविधान की प्रस्तावना का मूल स्रोत था। स्वयं जवाहरलाल नेहरू ने यह कहा था कि संविधान की प्रस्तावना एक प्रकार से '**उद्देश्य प्रस्ताव**' में ही निहित है। इसी उद्देश्य प्रस्ताव के परिप्रेक्ष्य में संविधान की उद्देशिका तैयार की गई जिसे प्रारूप समिति ने फरवरी 1948 में और संविधान-निर्मात्री सभा ने 17 अक्टूबर 1948 को अन्तिम रूप से स्वीकार किया।

4.3 संविधान की उद्देशिका का स्वरूप

मूल संविधान की प्रस्तावना 81 शब्दों से निर्मित थी। 1976 में संविधान के 42वें संशोधन, द्वारा उसमें 'समाजवादी', 'पंथ-निरपेक्ष' और 'अखण्डता' शब्दों को जोड़ दिया गया। इस संशोधन के बाद संविधान की प्रस्तावना का वर्तमान स्वरूप निम्नवत है–

*"हम भारत के लोग, भारत को एक **संपूर्ण प्रभुत्व-संपन्न समाजवादी***

***पंथनिरपेक्ष लोकतांत्रिक गणराज्य** बनाने के लिए, तथा उसके समस्त*

नागरिकों को

सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय,

विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की ***स्वतंत्रता,***

प्रतिष्ठा और अवसर की ***समता***

प्राप्त *कराने के लिए,*

तथा *उन सब में*

व्यक्ति *की गरिमा और राष्ट्र की एकता*

गैर *अखण्डता सुनिश्चित करने वाली* ***बन्धुता***

बढ़ाने *के लिए*

दृढ़संकल्प होकर **अपनी इस संविधान सभा में** आज तारीख 26 नवम्बर 1949 ई0 (मिती मार्गशीर्ष **शुक्ला** सप्तमी, संबत् दो हजार छः विक्रमी) को **एतदद्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।**

संविधान की उद्देशिका यह बताती है कि संविधान किसके द्वारा, किस लिए और कब बनाया गया? **अध्ययन** की सुविधा की दृष्टि से प्रस्तावना को चार भागों में विभाजित किया जा सकता है[1]–
(Siwach, J.R.; Dynamics of Indian Government and Politics; 1985, p. 11.)

1. सत्ता का स्रोत
2. राज्य और सरकार का स्वरूप
3. शासन व्यवस्था के लक्ष्य
4. संविधान का अधिनियमन

1. सत्ता का स्रोत

संविधान की प्रस्तावना "हम भारत के लोग" शब्दों से प्रारम्भ होती है जो इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि भारतीय संविधान का स्रोत जनता है और राजनैतिक सत्ता अन्तिम रूप से जनता में निहित है जिसका प्रयोग करते हुए जनता ने स्वेच्छा से संविधान का निर्माण अथवा अपनी पसंद की शासन व्यवस्था को स्थापित किया है। प्रस्तावना के अन्तिम भाग में भी इसी तथ्य की पुष्टि की गई है कि (हम भारत के लोग)"...इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।" इससे इस तथ्य का बोध होता है कि संविधान किसी वैदेशिक सत्ता या किसी वर्ग विशेष द्वारा भारतवासियों पर आरोपित नहीं किया गया है वरन् जनता ने स्वयं इसे बनाया है, इसे स्वीकार किया है और स्वयं अपने को दिया है अर्थात् अपने ऊपर लागू किया है। दूसरे शब्दों में जनता शासक भी है और शासित भी।

2. राज्य और सरकार का स्वरूप

प्रस्तावना का दूसरा भाग इस बात को निश्चित करता है कि राज्य और सरकार का स्वरूप क्या होगा। इसे बताने के लिए प्रस्तावना में पाँच शब्दों में प्रयोग किया गया है–संपूर्ण प्रभुत्व-संपन्न समाजवादी पंथनिरपेक्ष लोकतांत्रिक गणराज्य।

(i) **संपूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न** शब्द से इस बात का बोध होता है कि भारत अपने आन्तरिक और बाह्य मामलों में पूरी तरह स्वतंत्र होगा। संविधान प्रभु संपन्न व्यक्तियों से निर्मित प्रभु संपन्न राज्य की स्थापना करता है।

(ii) **समाजवादी** शब्द से तात्पर्य यह है कि संविधान ऐसी शासन व्यवस्था को स्थापित करता है

जिसमें उत्पादन के साधनों का प्रयोग सामाजिक हित में किया जाए और आर्थिक शोषण का अन्त करके हर व्यक्ति को जीविकोपार्जन की सुविधाएँ उपलब्ध कराई जाएंगी। समाजवाद का स्वरूप भले ही कुछ हो इस घोषणा से यह तो स्पष्ट ही कर दिया गया है कि भारत एक पूंजीवादी राज्य न होगा जहाँ एक वर्ग दूसरे वर्ग का और एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का शोषण करता है।

(iii) **पंथनिरपेक्ष** शब्द को जोड़कर यह सुनिश्चित किया गया है कि भारत में राज्य का अपना कोई धर्म न होगा। दूसरे शब्दों में संविधान धर्मतंत्र का निषेध करता है। यद्यपि इस देश में एक धर्म विशेष के मानने वालों की जनसंख्या 80 प्रतिशत से अधिक है लेकिन संविधान ने धर्मतंत्र का तिरस्कार करते हुए धर्मनिरपेक्षता के आदर्श को स्वीकार किया है। यह उल्लेखनीय है कि भारत पहला देश है जिसके संविधान की उद्देशिका में पंथ निरपेक्ष शब्द का प्रयोग किया। फ्रांस के 1946 के संविधान में अनुच्छेद 1 में इसका प्रयोग हुआ था।

(iv) **लोकतंत्र** शब्द से केवल सरकार के स्वरूप का ही नहीं वरन् एक विशेष प्रकार की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था का भी बोध होता है। लोकतांत्रिक शब्द का अभिप्राय यह है कि समानता और स्वतंत्रता के सिद्धान्तों पर आधारित सरकार जनता के द्वारा निर्वाचित और जनता के प्रति उत्तरदायी होगी। विस्तृत अर्थों में इसमें सामाजिक और आर्थिक समानता का भाव भी छिपा हुआ।

(v) **गणराज्य** से तात्पर्य यह है कि देश का प्रधान जनता द्वारा एक निश्चित अवधि के लिए प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होगा, यह वंशानुगत नहीं हो सकता।

सामान्यतया यह समझा जाता है कि अगर कोई राज्य गणतंत्रात्मक है तो वह अनिवार्य रूप से लोकतंत्रात्मक भी होगा अर्थात् यदि देश का प्रधान निर्वाचित हैं तो विधान मण्डल भी जनता द्वारा निर्वाचित होगा। लेकिन इसके विपरीत भी हो सकता है। जैसे इंग्लैंड में सरकार लोकतांत्रिक हैं किन्तु इंग्लैंड गणतंत्र नहीं है क्योंकि वहाँ देश का प्रधान राजा या रानी होता है जो पैतृक आधार पर शासन सत्ता प्राप्त करता है। इसी प्रकार यह भी हो सकता है कि देश का प्रधान तो जनता द्वारा निर्वाचित हो किन्तु विधानमंडल निर्वाचित न हो। यही कारण है कि प्रस्तावना में लगभग एक सा अर्थ रखने वाले दो शब्दों का प्रयोग किया गया है जो इस बात का द्योतक है कि संविधान बनाने वाले भारत में लोकतंत्र और गणतंत्र दोनों को स्थापित करना चाहते थे।

3. शासन व्यवस्था के लक्ष्य

प्रस्तावना में शासन व्यवस्था के निम्न लक्ष्य बताए गए हैं–

(i) न्याय-सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक

प्रस्तावना में सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय देने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। सामाजिक न्याय का अर्थ यह है कि सभी नागरिकों को उनके धर्म, जाति, वर्ग आदि के आधार पर भेदभाव किए बिना, अपने विकास के समान अवसर उपलब्ध हों और समाज के दुर्बल वर्गों का शोषण न किया जाए। आर्थिक न्याय से अभिप्राय यह है कि उत्पादन के साधनों का इस तरह वितरण किया जाए कि कोई व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का शोषण न कर सके और उत्पादन के साधनों का सार्वजनिक हित में प्रयोग किया जाए। सामाजिक और आर्थिक न्याय की स्थापना के लिए राज्य के नीति-निदेशक सिद्धान्तों (अनुच्छेद 38 और 39) में विशेष रूप से निर्देश दिए गए हैं। अनुच्छेद 38 में कहा गया है कि "राज्य ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना और संरक्षण करके लोक-कल्याण की उन्नति का प्रयास करेगा, जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय भविष्य की सभी संस्थाओं को

अनुप्रमाणित करे।" सर्वोच्च न्यायालय ने अपने एक निर्णय में कहा है कि उद्देशिका, अनुच्छेद 38 के परिप्रेक्ष्य में, अनुच्छेद 21 में दिए गए जीवन के अधिकार के अन्तर्गत सामाजिक न्याय का भी समावेश होता है, अतः सामाजिक न्याय एक मूल अधिकार है।[1] *(अशोक कुमार गुप्ता बनाम उत्तर प्रदेश, ए०आई०आर० (1997) 5 एस०सी०पृ० 211)*

नीति-निदेशक सिद्धान्तों के अन्तर्गत अनुच्छेद 39 में संपत्ति के न्यायपूर्ण वितरण, उत्पादन-साधनों का सर्वसाधारण के हित के लिए प्रयोग समान कार्य के लिए समान वेतन स्त्रियों और बच्चों के हितों के संरक्षण आदि के लिए विस्तृत प्रावधान किए गए हैं। यह अनुच्छेद आर्थिक जनतंत्र की स्थापना करता है और इसी कारण इसे मूल अधिकारों पर प्राथमिकता प्रदान की गई है। (अनुच्छेद 31 सी०)

राजनैतिक क्षेत्र में सभी नागरिकों की समान भागीदारी के लिए वयस्क मताधिकार दिया गया है और सभी नागरिकों को यह अधिकार प्राप्त है कि वे किसी भी राजनैतिक पद के लिए चुनाव लड़ सकते हैं।

(ii) स्वतंत्रता–विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की

उद्देशिका में सभी नागरिकों को विचार अभिव्यक्ति विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता देने का आश्वासन दिया गया है। इस लक्ष्य को पूरा करने के लिए संविधान के भाग 3 के अनुच्छेद 19 (1) (क) और अनुच्छेद 25–28 में इन स्वतंत्रताओं को मूल अधिकारों रूप में मान्यता दी गई है।

(iii) समानता–प्रतिष्ठा और अवसर की

संविधान में दिए गए मूल अधिकारों में नागरिकों को समानता का अधिकार प्रदान किया गया है। इसके अन्तर्गत अनुच्छेद 14 में कानून के समक्ष समानता और विधियों को समान संरक्षण की व्यवस्था की गई है। अनुच्छेद 15 में धर्म, मूलवंश, जाति आदि के आधार पर विभेद का प्रतिषेध किया गया है। अनुच्छेद 16 में सरकारी नौकरियों में सभी को समान अवसर देने और अनुच्छेद 17 में छुआछूत खत्म करने का प्रावधान किया गया है। कानून की दृष्टि में प्रत्येक नागरिक की हैसियत समान है और किसी को भी एक दूसरे के मुकाबले में कोई विशेषाधिकार प्राप्त नहीं है।

(iv) व्यक्ति की गरिमा, राष्ट्र की एकता, अखण्डता तथा बंधुता

उद्देशिका की इन पंक्तियों में दो प्रमुख लक्ष्य राष्ट्र की एकता तथा अखण्डता निर्धारित किए गए हैं और इनकी प्राप्ति के लिए दो आदर्शों "व्यक्ति की गरिमा तथा बन्धुत्व" का उल्लेख किया गया है। वास्तव में यह चारों अवधारणाएँ एक दूसरे के पूरक हैं।

'अखण्डता' शब्द संविधान के 42 वें संशोधन द्वारा जोड़ा गया था जो एकता शब्द से भिन्न है। अखण्डता से तात्पर्य है भू-भागीय एकता (Territorial unity) अर्थात् देश के विभिन्न क्षेत्र एक दूसरे से जुड़े रहे, वे देश से अलग न होने पाएँ। यह स्मरणीय है कि अतीत में भारतीय संघ के कुछ राज्य में संघ से अलग होकर पृथक प्रभुसंपन्न राज्य बनाने की माँग उठाई जा चुकी है। इसीलिए मूल अधिकारों के अन्तर्गत राष्ट्र-विरोधी गतिविधियों को रोकने का प्रावधान किया गया है।[1] साथ ही मूल कर्त्तव्यों वाले भाग में भी यह कहा गया है कि प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य है कि वह "भारत की प्रभुता, एकता और अखण्डता की रक्षा करे और उसे अक्षुण्ण बनाए रखे।"[2] संक्षेप में, अखण्डता का अर्थ है कि देश भौगोलिक दृष्टि से अटूट रहे; बिखरने न पाए।

एकता शब्द का साधारण अर्थ यह है कि देश के विभिन्न क्षेत्रों में रहने वाले विभिन्न भागों और जातियों के लोग आपस में मिल-जुल कर रहें। इस प्रकार की एकता उत्पन्न करने के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक नागरिक को अधिकार और सुविधाएँ समान रूप से और सम्मानपूर्वक दी जाएँ तथा किसी

व्यक्ति के स्वाभिमान और गरिमा को ठेस न पहुँचने पाए। हर व्यक्ति को यह महसूस हो कि वह इस प्रभुता संपन्न राज्य की एक अभिन्न इकाई है।

'व्यक्ति की गरिमा' शब्द के अन्तर्गत व्यक्ति की प्रधानता का विचार निहित है और यह सर्वाधिकारी राज्य का निषेध करता है। इस विचारधारा के अनुसार राज्य व्यक्ति के लिए है, व्यक्ति राज्य के लिए नहीं। संविधान की प्रारूप समिति के एक सदस्य के0 एम0 मुन्शी के अनुसार "व्यक्ति की गरिमा" शब्द हीगल के उस सिद्धान्त का खण्डन करता है कि राज्य कोई अलौकिक शक्ति है जिसका लक्ष्य व्यक्ति से स्वतंत्र रहकर और व्यक्ति को पीछे छोड़कर मात्र अपने अस्तित्व को बनाए रखना है। वास्तव में व्यक्ति राज्य के हाथों में कोई उपकरण नहीं है, राज्य व्यक्ति के लिए है और उसका कर्तव्य यह है कि वह प्रत्येक नागरिक क़ा आदर करे और ऐसी परिस्थितियों का सृजन करे जिसमें हर व्यक्ति स्वतंत्रतापूर्वक अपना विकास कर सके।

यदि सभी व्यक्ति एक दूसरे का परस्पर आदर करेंगे तो स्वाभाविक रूप से उनमें बंधुत्व की भावना उत्पन्न होगी। यह भावना कि हम सब एक ही राष्ट्र का अंग हैं, पूरे देश को एकता के सूत्र में बाँध देगा। इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए मूल कर्त्तव्यों में यह कहा गया है कि प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य है कि वह "भारत के सभी लोगों में समरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का निर्माण करे जो धर्म, भाषा, और प्रदेश या वर्ग पर आधारित सभी भेदभाव से परे हो...।"[1] (अनुच्छेद 51क (ङ))

बंधुत्व की भावना को बढ़ावा देने के लिए एक नागरिकता दी गई है, राज्यों की अलग-अलग नागरिकता नहीं है। स्वतंत्रता के मूल अधिकार के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को देश के किसी भाग में आने-जाने, निवास करने अथवा बसने की स्वतन्त्रता प्रदान की गई है।

4. संविधान का अधिनियमन

प्रस्तावना के अन्त में संविधान को अंगीकृत करने का उल्लेख किया गया है। इसमें कहा गया है कि ("हम भारत के लोग")...दृढ़ संकल्प होकर अपनी इस संविधान सभा में आज तारीख 26 नवम्बर 1949 ई... को एतद् द्वारा इस संविधान को अंगकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।" यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि संविधान 26 नवम्बर 1949 को अंगीकृत किया गया था और उसी दिन अनुच्छेद 394 तथा उसमें उल्लिखिंत 15 अन्य अनुच्छेद लागू कर दिए गए थे। संविधान के शेष उपबन्ध 26 जनवरी 1950 को लागू किए गए।

4.4 उद्देशिका का महत्त्व

भारतीय संविधान की प्रस्तावना को संविधान की आत्मा कहा गया है। संविधान-निर्मात्री सभा के एक सदस्य के0 एम0 मुंशी ने प्रस्तावना को "संविधान की राजनीतिक कुण्डली" कहा था जिसका अर्थ यह था कि संविधान की वास्तविकताएँ और उसकी मूल विशेषताएँ एवं दर्शन प्रस्तावना में परिलक्षित होता है। संविधान की प्रस्तावना संविधान की व्याख्या का आधार प्रस्तुत करती है। यह संविधान का दर्पण है जिसमें पूरे संविधान की तस्वीर दिखाई देती है, यह संविधान का चेहरा है जिससे संविधान की पहचान होती है।

संविधान की प्रस्तावना संविधान का अंग है या नहीं इस प्रश्न पर काफी विवाद रहा है। संविधान-निर्मात्री सभा की कार्यवाही को देखने से यह पता चलता है कि संविधान-निर्माताओं ने इसे संविधान के अंग के रूप में स्वीकार किया था। यह उल्लेखनीय है कि पूरे संविधान पर विचार करने के बाद अन्त में उद्देशिका पर विचार किया गया था। उस समय कुछ सदस्यों द्वारा यह प्रस्ताव लाया गया कि उद्देशिका पर किसी अन्य तिथि पर विचार किया जाए जिसे अस्वीकार करते हुए सभापति ने कहा कि

"द्वितीय पाठन में संपूर्ण संविधान एक साथ पारित करना होगा और उद्देशिका संविधान का एक अंग है इसलिए उद्देशिका को आगे के लिए टाला नहीं जा सकता।"[1] (सी0ए0डिबेट्स, खण्ड 10, पृ0 429)

उद्देशिका को मतदान के लिए रखते समय सभापति ने फिर कहा :

"प्रश्न यह है कि उद्देशिका संविधान का अंग है।" संविधान सभा ने इस प्रस्ताव को पारित कर दिया।[2] (पूर्वोक्त पृ0 456) इससे स्पष्ट है कि संविधान सभा ने उद्देशिका को संविधान के अभिन्न अंग के रूप में स्वीकार किया था।

उद्देशिका और संविधान के बीच क्या संबंध है, इस विषय में न्यायपालिका का दृष्टिकोण परिवर्तित होता रहा है। 1960 में बेरूबारी मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने यह स्पष्ट रूप से कहा था कि 'उद्देशिका संविधान के प्रावधानों द्वारा सरकार को दी गयी सामान्य शक्तियों का स्रोत नहीं है।"[3] (ए0आई0आर0 960, एस0सी0 845–58) दूसरे शब्दों में उद्देशिका संविधान का अंग नहीं है। सज्जन सिंह बनाम राजस्थान के मुकदमें में दिए गए निर्णय में न्यायधीश हिदायतुल्ला ने प्रस्तावना के महत्व पर प्रकाश डालते हुए कहा था कि बेरूबारी मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय ने यह दृष्टिकोण अपनाया था कि प्रस्तावना संविधान का अंग नहीं है। किन्तु "कुछ अर्थों में यह संविधान का अंग है और कुछ अर्थों में नहीं। हमारी प्रस्तावना अपनी प्रकृति की दृष्टि से अमेरिकी संविधान की प्रस्तावना के बजाए अमेरिका की स्वतंत्रता-घोषणा पत्र के ज्यादा निकट है। यह कोई शक्ति प्रदान नहीं करती लेकिन यह संविधान को एक दिशा और उद्देश्य प्रदान करती है जिसकी अभिव्यक्ति भाग III और IV में पाई जाती है।[1] (Markandan K.C., The Preamble, p. 80.)

1976 में केशवानन्द बनाम केरल राज्य के मुकदमें में सर्वोच्च न्यायालय ने यह दृष्टिकोण प्रतिपादित किया कि प्रस्तावना संविधान का अंग है और इसमें संविधान की मूल विशेषताएँ उल्लिखित हैं। इस मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने "संविधान की मूल संरचना सिद्धान्त" का प्रतिपादन करते हुए यह निर्णय दिया कि संसद पूरे संविधान में संशोधन कर सकती है किन्तु वह संविधान के मूल ढाँचे को नहीं बदल सकती। इसी क्रम में सर्वोच्च न्यायालय ने यह कहा कि संविधान का मूल ढाँचा किन सिद्धान्तों पर आधारित है इसका उल्लेख प्रस्तावना में है। अतः प्रस्तावना को संशोधित नहीं किया जा सकता। भारतीय संविधान की प्रस्तावना की एक प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें ईश्वर अथवा किसी पारलौकिक शक्ति का कोई संदर्भ या प्रार्थना रूपी किसी वाक्य का प्रयोग नहीं किया गया है। इसमें प्रेरणा स्रोत के रूप में किसी बलिदानी पुरुष या दार्शनिक का नाम अथवा अपने इतिहास या उन परिस्थितियों का कोई उल्लेख नहीं किया गया जिनमें संविधान की रचना की गई। इसके विपरीत आस्ट्रेलिया कामनवेल्थ के संविधान-अधिनियम की प्रस्तावना में "ईश्वर के आशीर्वाद" शब्द का प्रयोग किया गया था। ब्राजील के 1946 के संविधान में "ईश्वर के संरक्षण में", क्यूबा के 1940 के संविधान में "ईश्वर की कृपा" शब्द का प्रयोग किया गया था। इसी प्रकार 1947 के चीन गणराज्य के संविधान की प्रस्तावना में "डाक्टर सन यात-सेन के उपदेशों के अनुसार" शब्दों का प्रयोग किया गया था। 1949 में निर्मित हँगरी गणराज्य के संविधान में उक्त संविधान के निर्माण से पूर्व की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का संक्षेप में संदर्भ दिया गया है।

भारतीय संविधान के प्रस्तावना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि अत्यधिक संक्षिप्त होते हुए भी उन समस्त आदर्शों और सिद्धान्तों का उल्लेख करती है जो हमारे संविधान की आधारशिला हैं।

4.5 मूल अधिकार और उनकी प्रकृति

मूल अधिकारों से तात्पर्य उन अधिकारों से है जो किसी देश के संविधान द्वारा अपने नागरिकों को

स्पष्ट रूप से प्रदान किए जाते हैं। चूँकि संविधान देश का सर्वोच्च और मौलिक कानून होता है इसलिए इसमें वर्णित अधिकारों को भी मौलिक अधिकार कहा जाता है। मूल अधिकारों का उद्देश्य नागरिकों को ऐसी सुविधाएँ प्रदान करना है जो व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यक हैं। संविधान में मूल अधिकारों का उल्लेख करने का उद्देश्य विधानमण्डल और कार्यपालिका के अनुचित हस्तक्षेप में नागरिक स्वतंत्रताओं की रक्षा करना है। संविधान में नागरिकों के अधिकारों का उल्लेख इस कारण भी किया जाता है कि वे सत्तारूढ़ दल की दया का पात्र और दलगत राजनीति का विषय न बनने पाएँ। भारत के सर्वोच्च न्यायालय के एक पूर्व मुख्य न्यायाधीश सुब्बाराव का कहना है कि मौलिक अधिकार परम्परागत प्राकृतिक अधिकारों का दूसरा नाम है। अर्थात् यह ऐसे अधिकार हैं जो व्यक्ति के स्वभाव में निहित हैं और जिनके अभाव में व्यक्ति अपना विकास नहीं कर सकता। उदाहरण के लिए बगैर स्वतंत्रता के व्यक्ति अपनी प्राकृतिक क्षमताओं के अनुसार अपने व्यक्तित्व का पूर्णरूप से विकास नहीं कर सकता। दूसरे शब्दों में मूल अधिकारों में ऐसे अधिकारों का समावेश होता है जो व्यक्ति के प्राकृतिक विकास के लिए अपरिहार्य होते हैं।

आधुनिक संविधानों में अमेरिका का संविधान विश्व का सबसे पहला लिखित संविधान है। अमेरिका की संविधान-निर्मात्री सभा में इस बात पर मतभेद रहा कि संविधान में नागरिकों के मूल अधिकारों का वर्णन किया जाए या न किया जाए। अन्ततः मूल संविधान में नागरिकों के अधिकारपत्र को सम्मिलित नहीं किया गया। लेकिन संविधान के प्रारूप के अनुमोदन के समय ही यह मांग की गई कि मूल अधिकारों को संविधान में समाहित किया जाए। परिणामस्वरूप 1791 में संविधान में एक साथ दस संशोधन करके मूल अधिकारों को संविधान का अटूट अंग बना दिया गया। अमेरिका के संविधान के बाद बनने वाले विश्व के अधिकांश संविधानों में नागरिकों के अधिकारों का उल्लेख पाया जाता है।

भारत के संविधान के भाग 3 में अनुच्छेद 12 से 35 तक अत्यधिक विस्तृत रूप से नागरिकों के मूल अधिकारों का उल्लेख किया गया है। प्रारम्भ के दो अनुच्छेद (12 तथा 13) मूल अधिकारों के संबंध में कुछ सामान्यताओं का निर्धारण करते हैं; शेष अनुच्छेदों में नागरिकों के विशिष्ट अधिकारों का उल्लेख किया गया है। भारतीय संविधान में दिए गए मूल अधिकार केन्द्र तथा राज्य सरकारों के अतिरिक्त सभी स्थानीय स्वशासन की इकाइयों तथा प्राधिकारियों के विरुद्ध भी लागू होते हैं। अर्थात् शासनसत्ता-धारक कोई भी संस्था कोई ऐसा आदेश नहीं दे सकती जो नागरिकों के मूल अधिकारों का हनन करता हो।

यह कहा जा सकता है कि भारतीय संविधान में मूल अधिकारों को समाहित किए जाने का विचार अमेरिकी संविधान से लिया गया है लेकिन इस संदर्भ में भारतीय संविधान की कुछ अपनी विलक्षणताएँ हैं–

1. अमेरिका में संविधान में वर्णित मूल अधिकारों के अतिरिक्त भी नागरिक ऐसे अधिकारों का दावा कर सकते हैं जो उनके स्वाभाविक विकास के लिये आवश्यक हों। प्राकृतिक अधिकारों का सहारा लेकर अमेरिका में न्यायपालिका नागरिकों के मूल अधिकारों को निरन्तर विस्तृत करती रहीं है लेकिन भारत में नागरिक केवल उन्हीं अधिकारों को लागू करने का दावा कर सकते हैं जो स्पष्ट रूप से उन्हें संविधान द्वारा प्रदान किए गए हैं।

2. भारतीय संविधान द्वारा दिए गए मूल अधिकार निर्बाध नहीं हैं। यह स्वाभाविक है कि किसी भी नागरिक को किसी भी अधिकार के असीमित रूप से प्रयोग करने की छूट नहीं दी जा सकती अन्यथा सामाजिक व्यवस्था ही छिन्न-भिन्न हो जाएगी। वास्तविक स्वतंत्रता उचित प्रतिबंधों में ही निहित होती है। अतएव भारतीय संविधान में मूल अधिकारों के साथ ही स्वयं संविधान में उन प्रतिबंधों का भी उल्लेख किया गया है जो

इन अधिकारों पर सरकार द्वारा लगाए जा सकते हैं। इसका लाभ यह है कि सरकार मनमाने ढंग से मूल अधिकारों को प्रतिबंधित नहीं कर सकती। अमेरिका के संविधान में मूल अधिकारों पर प्रतिबंधों का उल्लेख नहीं किया गया है।

3. अमेरिका की तरह भारत में भी न्यायपालिका को न्यायिक पुनरावलोकन का अधिकार देकर उसे सामान्य रूप से संविधान का संरक्षक बनाया गया है। लेकिन मूल अधिकारों को विशेष संरक्षण देने के उद्देश्य से स्वयं मूल अधिकारों में ही एक अधिकार 'संवैधानिक उपचारों का अधिकार' भी दिया गया है। संविधान के अनुच्छेद 32 के अनुसार सरकार द्वारा किसी मूल अधिकार के अतिक्रमण किए जाने की दशा में नागरिक को न्यायपालिका की सहायता लेने का अधिकार दिया गया है। इसका अर्थ यह है कि मूल अधिकारों के पीछे न्यायिक शक्ति है और नागरिकों को अपने मूल अधिकारों को लागू कराने के लिए न्यायपालिका से सहायता प्राप्त करने का मूल अधिकार उपलब्ध हैं। दूसरे शब्दों में, एक ओर नागरिक, अधिकार के रूप में न्यायालय से अपने अधिकारों को लागू करने की माँग कर सकता है और दूसरी ओर न्यायपालिका का यह सांविधानिक कर्तव्य है कि वह मूल अधिकारों का संरक्षण करे।

4. संविधान के आपातकालीन उपबंधों में यह प्रावधान किया गया था कि राष्ट्रीय आपात की स्थिति में नागरिकों के मूल अधिकार स्थगित हो जाएंगे। किन्तु 1978 में किए गए 44वें संशोधन के द्वारा यह व्यवस्था की गई है कि अनुच्छेद 20–21 के द्वारा दिया गया जीवन और दैहिक स्वतंत्रता का अधिकार आपातकाल में भी स्थगित नहीं किया जा सकता। अमेरिका में मूल अधिकारों के स्थगन का कोई प्रावधान संविधान में नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अमेरिका की तुलना में भारत में मूल अधिकारों का क्षेत्र कुछ सीमित किन्तु सुनिश्चित है।

संविधान के अनुच्छेद 13 में यह घोषणा की गई है कि ''राज्य कोई ऐसी विधि नहीं बनाएगा जो इस भाग द्वारा दिए गए अधिकारों को छीनती या न्यून करती हो और इस खण्ड के उल्लंघन में बनी प्रत्येक विधि उल्लंघन की मात्रा तक शून्य होगी।'' उक्त प्रावधान साधारण विधियों पर मूल अधिकारों की सर्वोच्चता स्थापित करता है और सरकार की विधायी शक्तियों को प्रतिबंधित करता है।

4.6 संविधान द्वारा प्रदत्त मूल अधिकार

मूल संविधान में नागरिकों के सात अधिकारों का उल्लेख किया गया था लेकिन 1978 में किए गए 44वें संशोधन के द्वारा संपत्ति के अधिकार को मूल अधिकारों के अध्याय से निकाल दिया गया है अर्थात् अब संपत्ति का अधिकार मूल अधिकार नहीं रहा।

भारतीय संविधान के भाग 3 में नागरिकों को निम्नलिखित अधिकार प्रदान किए गए हैं–

1. समानता का अधिकार–अनुच्छेद 14 से 18 तक
2. स्वतंत्रता का अधिकार–अनुच्छेद 19 से 22 तक
3. शोषण के विरुद्ध अधिकार–अनुच्छेद 23 से 24 तक
4. धर्म की स्वतंत्रता का अधिकार–अनुच्छेद 25 से 28 तक
5. संस्कृति और शिक्षा संबंधी अधिकार–अनुच्छेद 29 से 30 तक *
6. सांविधानिक उपचारों का अधिकार–अनुच्छेद 32 से 35 तक

*44वें संशोधन द्वारा मूल संविधान के अनुच्छेद 31 द्वारा दिया गया संपत्ति का अधिकार समाप्त कर दिया गया है।

1. समानता का अधिकार

संविधान के अनुच्छेद 14 से 18 तक 'समानता का अधिकार' के अन्तर्गत निम्नलिखित अधिकार प्रदान किए गए हैं–

1. कानून के समक्ष समानता (अनुच्छेद 14)
2. भेदभाव का प्रतिषेध (अनुच्छेद 15)
3. सार्वजनिक सेवाओं में अवसर की समानता (अनुच्छेद 16)
4. अस्पृश्यता का अन्त (अनुच्छेद 17)
5. उपाधियों का अन्त (अनुच्छेद 18)

(अ) कानून के समक्ष समानता :

संविधान के अनुच्छेद 14 में कहा गया है कि "राज्य, भारत के क्षेत्र में किसी भी व्यक्ति को कानून के समक्ष समानता से अथवा कानून के समान संरक्षण से वंचित नहीं करेगा।" संविधान का उक्त प्रावधान इंग्लैंड में प्रवर्तित विधि के शासन' का ही दूसरा रूप है अर्थात् संविधान के अनुसार, कोई भी व्यक्ति कानून से ऊपर नहीं है। सभी व्यक्ति देश के साधारण कानूनों के आधीन हैं और राज्य किसी भी व्यक्ति को कोई विशेषाधिकार नहीं देगा। दूसरे शब्दों में कानून की ओर से मिलने वाली सुविधाएँ सभी नागरिकों के लिए समान रूप से उपलब्ध रहेंगी।

समानता के अधिकार का यह अर्थ नहीं है कि हर व्यक्ति को हर मामले में एक जैसा बना दिया जाए। ऐसा करना न तो स्वाभाविक है और न ही व्यावहारिक, क्योंकि हर व्यक्ति अपनी प्राकृतिक क्षमताओं की दृष्टि से समान नहीं होता। समानता का वास्तविक अर्थ है 'समानों में समानता' अर्थात् एक ही प्रकार की योग्यता रखने वालों के बीच उनके धर्म, जाति, आदि के आधार पर कोई विभेद न किया जाए।

यह तथ्य सर्वविदित है कि समाज के विभिन्न वर्गों की अपनी अलग-अलग समस्याएँ और आवश्यकताएँ होती हैं जिनके अनुसार राज्य को अलग-अलग प्रकार के कानूनों का निर्माण करना पड़ता है। उदाहरण के लिए अध्यापकों, श्रमिकों, व्यापारियों, वकीलों, डाक्टरों आदि की अपनी अलग-अलग समस्याएँ होती हैं जिनके निवारण के लिए राज्य पृथक-पृथक कानूनों का निर्माण करता है, किन्तु इससे समानता के सिद्धान्त की अवहेलना नहीं होती। भारत का संविधान विधायी वर्गीकरण को मान्यता प्रदान करता है जिसका अर्थ यह है कि यदि समाज का कोई वर्ग या उप-वर्ग अपनी प्रकृति या परिस्थिति की दृष्टि से भिन्न हो तो उसके लिए अलग कानून बनाया जा सकता है। जैसे केंद्र सरकार के कर्मचारियों और राज्य सरकार के कर्मचारियों का वेतन या सेवा शर्तें भिन्न-भिन्न हो सकती हैं, सरकारी अस्पताल के डाक्टरों के प्राइवेट प्रैक्टिस करने पर प्रतिबंध लगाया जा सकता है लेकिन प्राइवेट अस्पताल के डाक्टरों को इसकी छूट दी जा सकती है। इसे विधायी वर्गीकरण कहा जाता है। समानता के सिद्धान्त का अतिक्रमण उस समय होगा जब एक ही वर्ग या श्रेणी के लोगों के बीच अतार्किक आधार पर मनमाने ढंग से विभेद किया जाए। जैसे यह नियम बनाया जाए कि सरकारी अस्पताल के वे डाक्टर जिनका रंग गोरा है वे प्राइवेट प्रेक्टिस कर सकते हैं और जो काले हैं वे प्रैक्टिस नहीं कर सकते तो यह वर्गीकरण अतार्किक तथा अवैधानिक होगा।

विधानमण्डल द्वारा विधायी वर्गीकरण के अनेक आधार हो सकते हैं जैसे भौगोलिकता, ऐतिहासिकता,

आयु, स्थान, काल, विधि का उद्देश्य इत्यादि। विधायी वर्गीकरण की कुछ शर्तें निर्धारित की गई हैं **जिनमें** दो बातें अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं–

1. विधायी वर्गीकरण का वास्तविक तथा तथ्यपूर्ण आधार होना चाहिए।
2. वर्गीकरण का तर्क संगत संबंध उस उद्देश्य से होना चाहिए जिसकी पूर्ति के लिए कानून विशेष का निर्माण किया गया है। उदाहरण के लिए संविधान में 18 वर्ष की आयु से कम आयु के लोगों को मताधिकार नहीं दिया गया है। इस प्रकार समाज का दो वर्गों (वोटर और गैर वोटर) में विभाजन का एक निश्चित, तथ्यात्मक तथा अतार्किक आधार है। 18 वर्ष की शर्त के पीछे यह विचार निहित है कि इस आयु तक पहुँचने के बाद व्यक्ति में सोच-समझ कर निर्णय लेने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है। लेकिन यदि वोट का अधिकार देने के लिए यह शर्त लगा दी जाए कि यह अधिकार केवल उन व्यक्तियों को दिया जाएगा जिनका कद छः फुट का हो तो वर्गीकरण का यह आधार हास्यास्पद होगा क्योंकि मताधिकार के सही ढंग से प्रयोग करने की समझ उत्पन्न करने में मात्र कद की कोई भूमिका नहीं होती। पाँच फुट या उससे कम कद के व्यक्ति में भी सोच-समझ कर वोट डालने की वही क्षमता हो सकती है जो छः फुट के कद वाले व्यक्ति में है।

सर्वोच्च न्यायालय ने अनेक मामलों में यह मत व्यक्त किया है कि विधायी वर्गीकरण समानता के सिद्धान्त के प्रतिकूल नहीं है। न्यायालय ने यहाँ तक कहा है कि ऐसा कानून भी संवैधानिक होगा जो केवल एक व्यक्ति पर लागू किया जाए यदि वह व्यक्ति अथवा संस्था कुछ विशेष कारणों अथवा भिन्न परिस्थितियों के कारण अन्य व्यक्तियों अथवा संस्थाओं से भिन्न हो। ऐसे व्यक्ति को एक वर्ग समझा जायेगा।[1] (वी0एन0शुक्ला; दि कांस्टीट्यूशन आफ इंडिया, पृ0 29)

(ब) भेदभाव का प्रतिषेध :

सामाजिक समानता स्थापित करने के उद्देश्य से संविधान के अनुच्छेद 15 में यह कहा गया है कि "राज्य, किसी नागरिक के विरुद्ध केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्म-स्थान अथवा इनमें से किसी एक के आधार पर कोई विभेद नहीं करेगा।" इसी अनुच्छेद में यह भी स्पष्ट किया गया है कि उपर्युक्त आधार पर कोई भी नागरिक दुकानों, सार्वजनिक भोजनालयों, होटलों तथा सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों में प्रवेश अथवा पूर्ण या आंशिक रूप से राज्य-विधि से पोषित अथवा साधारण जनता के उपयोग के लिए समर्पित कुओं, तालाबों, स्नान घाटों, सड़कों तथा सार्वजनिक समागम स्थानों के उपयोग से वंचित नहीं किया जाएगा।"

उपर्युक्त अनुच्छेद 15 के दो अपवाद हैं–(1) राज्य स्त्रियों और बच्चों के लिए विशेष सुविधाएँ दे सकता है, (2) शैक्षिक एवं सामाजिक दृष्टि से पिछड़े हुए वर्गों, अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के हित के लिए विशेष व्यवस्था की जा सकती है। यह प्रावधान 1951 में किए गए प्रथम संशोधन के द्वारा संविधान में जोड़ा गया है।

(स) सार्वजनिक सेवाओं में नियुक्ति का समान अवसर :

संविधान के अनुच्छेद 16 में राज्य के अधीन समस्त पदों पर नियुक्ति के मामले में सभी नागरिकों को समान अवसर दिए जाने की घोषणा की गई है और इस संबंध में नागरिकों के बीच उनके धर्म, जाति, मूलवंश, लिंग आदि के आधार पर भेदभाव करना वर्जित ठहराया गया है। लेकिन इस अनुच्छेद में भी यह स्पष्ट कर दिया गया है कि संसद को किसी सेवा के लिए आवास-योग्यता अथवा कोई अन्य अर्हताएँ निश्चित करने का अधिकार होगा। विभिन्न सेवाओं में समाज के पिछड़े वर्गों के लिए स्थानों

का आरक्षण करना समानता के सिद्धान्त का अतिक्रमण न समझा जाएगा।

(द) अस्पृश्यता का अन्तः

भारतीय समाज में पाई जाने वाली एक कुरीति–'अस्पृश्यता' का अन्त करने के लिए संविधान के अनुच्छेद 17 में उसे अवैधानिक घोषित किया गया है और छुआछूत करने वालों को दण्ड देने का प्रावधान किया गया है।

(य) उपाधियों का अन्त :

अंग्रेजी शासनकाल में संपत्ति के आधार पर विभिन्न प्रकार की उपाधियाँ (जैसे 'सर, 'राये बहादुर', 'राये साहब' 'खाँ' आदि) दी जाती थीं जो सामाजिक असमानता को उत्पन्न करती थीं। संविधान ने सैनिक तथा शैक्षिक उपाधियों को छोड़कर राज्य द्वारा किसी अन्य आधार पर उपाधियाँ देना वर्जित ठहराया है। 1977 में जनता सरकार ने कांँग्रेस सरकार द्वारा शुरु की गई भारतरत्न, पद्मभूषण, पद्मश्री जैसी उपाधियों को भी समाप्त कर दिया था किन्तु 1980 में कांग्रेस पार्टी के पुनः सत्तारूढ़ होने पर फिर से इन उपाधियों को देना शुरु कर दिया गया है।

2. स्वतंत्रता का अधिकार

संविधान के अनुच्छेद 19 से 22 तक स्वतंत्रता के अधिकार का सविस्तार वर्णन किया गया है।

इन अनुच्छेदों द्वारा नागरिकों के विकास के लिए आवश्यक सभी स्वतंत्रताएँ प्रदान की गई हैं लेकिन ये असीमित नहीं है। स्वयं अनुच्छेद 19 में ही सरकार को इन स्वतंत्रताओं पर विवेकसम्मत प्रतिबंध लगाने की शक्ति प्रदान की गई है। यह निर्धारित करना न्यायपालिका का काम है कि सरकार द्वारा लगाया कौन सा प्रतिबंध विवेक सम्मत है और कौन नहीं। स्वयं विवेक सम्मत शब्द से इस बात का बोध होता है कि उसे स्वेच्छाचारी तथा आवश्यकता से अधिक न होना चाहिए। इस प्रकार न तो स्वतंत्रता का अधिकार असीमित है और न ही उन पर असीमित प्रतिबंध ही लगाए जा सकते हैं।

संविधान के 42वें संशोधन द्वारा संविधान में अनुच्छेद 31 डी0 जोड़कर संसद को यह अधिकार दिया गया था कि वह किसी राष्ट्रविरोधी गतिविधि तथा राष्ट्रविरोधी संस्था को प्रतिबंधित कर सकती है। इस शक्ति का जिस तरह सत्तारूढ़ दल के द्वारा दुरुपयोग किया गया उसको दृष्टि में रखते हुए जनता पार्टी की सरकार ने 43वें संशोधन द्वारा उपर्युक्त अनुच्छेद को निरस्त कर दिया।

उपर्युक्त प्रतिबन्धों के साथ अनुच्छेद 19 में निम्नलिखित व्यक्तिगत स्वतंत्रताओं का उल्लेख किया गया है–

(i) वाक् एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता (अनुच्छेद 19 ए)

(ii) शान्तिपूर्ण एवं बिना शस्त्र धारण किए सम्मेलन की स्वतंत्रता (अनुच्छेद 19 बी)

(iii) समुदाय तथा संघ बनाने की स्वतंत्रता (अनुच्छेद 19 सी)

(iv) भारतीय राज्य क्षेत्र में अबाध भ्रमण की स्वतंत्रता (अनुच्छेद 19 डी0)

(v) भारतीय क्षेत्र के किसी भाग में निवास करने तथा बसने की स्वतंत्रता (अनुच्छेद 19 इ) *

* 'संपत्ति अर्जित करने की स्वतंत्रता'–संविधान के 44वें संशोधन द्वारा यह अधिकार निकाल दिया गया।

(vi) कोई वृत्ति, आजीविका या कारोबार करने की स्वतंत्रता (अनुच्छेद 19 जी)।

(i) अनुच्छेद 19 (ए) में दी गई वाक् स्वतंत्रता तथा विचारों को अभिव्यक्त करने की स्वतंत्रता में कुछ अन्य स्वतंत्रताएँ भी निहित हैं। अमेरिका के संविधान में दी गई नागरिक स्वतंत्रताओं में प्रेस की स्वतंत्रता का भी स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है किन्तु भारतीय संविधान में इसका उल्लेख नहीं है। रोमेश थापर बनाम स्टेट आफ मद्रास;[1] (ए0आई0आर0 1950, एस0सी0 124) बृजभूषण बनाम स्टेट आफ दिल्ली[2] (वही, पृ0 129) तथा सकल पेपर्स बनाम यूनियन आफ इंडिया[3] (ए0आई0आर0 1962, एस0सी0 305) के मुकदमों में न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि विचार व्यक्त करने की स्वतंत्रता में ही प्रेस की स्वतंत्रता भी निहित है। इसका अर्थ यह है कि किसी भी नागरिक को अपने विचारों को लिखित या मौखिक रूप में व्यक्त करने का अधिकार है। यही नहीं उपर्युक्त अधिकार में विचारों के प्रचार और परिचालन की स्वतंत्रता भी निहित है। 'रोमेश थापर बनाम मद्रास राज्य' के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने मद्रास सरकार के उस कानून को अवैध घोषित किया जिसके द्वारा बम्बई से प्रकाशित होने वाले 'क्रास रोड' नामक समाचार पत्र के मद्रास में आने और बेंचने पर प्रतिबंध लगाया गया था। न्यायालय ने कहा कि परिचालन की स्वतंत्रता के बिना प्रेस की स्वतंत्रता का कोई महत्त्व ही न रह जाएगा।[4] (ए0आई0आर0 1950, एस0सी0 594) किसी प्रकाशन या समाचार पत्र पर पूर्व-सेंसर लगाना भी प्रेस की स्वतंत्रता को प्रतिबंधित करने के समान है और अन्ततः वाक् स्वतंत्रता और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अतिक्रमण है।[1] (वही पृ0 129)

संविधान के अनुसार वाक् एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर सरकार द्वारा निम्न आधारों पर विवेक सम्मत प्रतिबंध लगाया जा सकता है–

(1) राज्य की सुरक्षा (2) विदेशी राज्यों के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध (3) सार्वजनिक व्यवस्था (4) सदाचार व नैतिकता (5) न्यायालय का अपमान (6) मान-हानि (7) हिंसा-प्रोत्साहन। संविधान के 16वें संशोधन के अनुसार भारत के किसी भाग को उससे पृथक करने संबंधी प्रचार पर भी राज्य रोक लगा सकता है।

(ii) सामूहिक रूप से अपने विचारों के प्रचार और आदान-प्रदान करने के लिए नागरिकों को बिना शस्त्र धारण किए शान्तिपूर्ण ढंग से सभा या सम्मेलन करने की स्वतंत्रता दी गई है। लेकिन सार्वजनिक सुरक्षा की दृष्टि से राज्य द्वारा इस स्वतंत्रता पर भी प्रतिबंध लगाया जा सकता है।

(iii) संविधान द्वारा नागरिकों को समुदाय एवं संघ बनाने की भी स्वतंत्रता दी गई है किन्तु सार्वजनिक व्यवस्था और नैतिकता की दृष्टि से इसे भी प्रतिबंधित किया जा सकता है।

(iv) सभी नागरिकों को भारत राज्य क्षेत्र में आने-जाने की स्वतंत्रता प्रदान की गई है किन्तु सार्वजनिक हित और अनुसूचित जन जातियों के हितों की रक्षा के लिए इसे भी सीमित किया जा सकता है।

(v) संविधान ने नागरिकों को राज्य के किसी भी भाग में निवास करने एवं बसने की भी स्वतंत्रता दी है किन्तु सार्वजनिक हित तथा अनुसूचित जन जातियों के हितों के लिए राज्य द्वारा इस स्वतंत्रता पर भी प्रतिबंध लगाया जा सकता है।

(vi) नागरिकों के आर्थिक विकास की दृष्टि से उन्हें वृत्ति, व्यापार, उपजीविका या कारोबार की स्वतंत्रता प्रदान की गई है किन्तु अन्य स्वतंत्रताओं की तरह इस पर भी राज्य द्वारा कुछ प्रतिबंध लगाए जा सकते हैं। राज्य सार्वजनिक हित में किसी भी व्यवसाय या उद्योग को अपने नियंत्रण में ले सकता है तथा वृत्ति, व्यवसाय एवं कारोबार संबंधी शर्तें या अर्हताएँ निर्धारित कर सकता है।

संविधान के अनुच्छेद 20, 21 और 22 में सरकार के अनुचित हस्तक्षेप से नागरिकों की व्यक्तिगत **स्वतंत्रता को सुरक्षित** रखने के अनेक प्रावधान किए गए हैं जो निम्नवत् हैं–

(अ) अपराधों के लिए दोषसिद्धि के विषय में संरक्षण

संविधान के अनुच्छेद 20 में कहा गया है कि कोई भी व्यक्ति किसी अपराध के लिए दोषी नहीं ठहराया जाएगा जबतक अपने अपराधारोपित क्रिया के समय किसी प्रवृत्त विधि का अतिक्रमण न किया हो और न वह उससे अधिक दण्ड का पात्र होगा जो उसे अपराध करने के समय प्रवृत्त विधि के अधीन दिया जा सकता था। इसी अनुच्छेद में यह भी कहा गया है कि "कोई भी व्यक्ति एक ही अपराध के लिए एक बार से अधिक अभियोजित और दंडित नहीं किया जाएगा तथा किसी अपराध में अभियोजित किसी व्यक्ति को स्वयं अपने विरुद्ध साक्षी होने के लिए बाध्य नहीं कियां जाएगा।"

उपर्युक्त अनुच्छेद 'विधि के शासन' के सिद्धान्त को मान्यता देते हुए निम्न बातों का निर्धारण करता है–

(1) किसी भी व्यक्ति को तभी दंडित किया जा सकता है जब उसने कोई ऐसा कार्य किया हो जोकि उस कार्य के करने के समय लागू कानून के अनुसार अपराध था अर्थात् भूतलक्षी प्रभावकारी विधि[1] *(किसी ऐसे कार्य को जो उसके करने के समय लागू कानूनों के अनुसार अपराध नहीं था बाद में कानून बनाकर उस कार्य को अपराध घोषित करके उसे अतीत से लागू करना भूतलक्षी प्रभावकारी विधि कहलाता है।)* का निर्माण करके किसी को सजा नहीं दी जा सकती।

(2) किसी व्यक्ति को उससे अधिक सजा नहीं दी जा सकती जितनी कि अपराध करने के समय लागू कानून द्वारा निर्धारित की गयी थी।

(3) किसी व्यक्ति को एक ही अपराध के लिए एक बार से अधिक दंडित नहीं किया जा सकता।

(4) किसी व्यक्ति को अपने ही विरुद्ध गवाही देने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता।

(ब) प्राण तथा दैहिक स्वतंत्रता का संरक्षण

संविधान के अनुच्छेद 21 में कहा गया है 'किसी भी व्यक्ति को उसके प्राण या दैहिक स्वतंत्रता से, कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से वंचित नहीं किया जा सकता।" वास्तव में यह अधिकार कार्यकारिणी की शक्तियों को प्रतिबंधित करता है और इस बात का आश्वासन देता है कि किसी कानून के अधीन किसी व्यक्ति की स्वतंत्रता को प्रतिबंधित करने के लिए उस प्रक्रिया को भी अपनाया जाना आवश्यक है जो कानून ने निर्धारित की है। कार्यकारिणी स्वेच्छाचारी ढंग से किसी व्यक्ति की स्वतंत्रता में हस्तक्षेप नहीं कर सकती।

अनुच्छेद 21 में प्रयुक्त 'प्राण' शब्द का अर्थ मात्र अस्तित्व नहीं। किसी व्यक्ति के शरीर के किसी अंग को काट देना या नष्ट करना भी इस शब्द की परिधि में आता है।[1] (वी0एन0शुक्ला; दि कांस्टिट्यूशन आफ इंडिया, 1972 पृष्ठ 85)

उपर्युक्त अनुच्छेद में दिए गए प्राण तथा दैहिक स्वतंत्रता के अधिकार में कोई हस्तक्षेप एक निश्चित कानून के प्राधिकार तथा उस कानून द्वारा निर्धारित प्रक्रिया को अपनाकर ही किया जा सकता है।

यह तथ्य उल्लेखनीय है कि पिछले दशक में न्यायपालिका ने मौलिक अधिकारों और नीति-निदेशक सिद्धान्तों के बीच सामंजस्य स्थापित करने में सक्रिय भूमिका अदा की है। न्यायपालिका ने विभिन्न मुकदमों और जनहित याचिकाओं का निस्तारण करते हुए एक ओर मूल अधिकारों के क्षेत्र को विस्मृत किया है और दूसरी ओर नीति-निदेशक सिद्धान्तों को कार्यान्वित किए जाने पर बल दिया है।

संविधान के अनुच्छेद 21 में दिए गए जीवन के मूल अधिकार की न्यायपालिका ने विस्तृत व्याख्या की है और यह दृष्टिकोण प्रतिपादित किया है कि "जीवन का अधिकार" केवल भौतिक अस्तित्व का

अधिकार नहीं है। यह अधिकार मानव गरिमा के साथ जीने का है और जो कुछ इसके लिए आवश्यक है वह सब इस अधिकार में शामिल है। जैसे पर्याप्त आहार, कपड़े, रहने का स्थान, लिखने-पढ़ने, स्वतंत्रता से घूमने आदि की सुविधाएं मूल अधिकार हैं।[1] (ए0आई0आर0 1981, एस0सी0 746 (फ्रांसिस कोरेली बनाम दिल्ली संघ राज्य क्षेत्र)) कुछ अन्य मामलों में सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि स्वास्थ्य और चिकित्सा सुविधा[2] (उपभोक्ता शिक्षण एवं शोध केन्द्र बनाम भारत संघ (1997) 5 एस0सी0 201) पर्यावरण की रक्षा[3] (वीरेन्द्र गौर बनाम हरियाणा राज्य (1995) 3 एस0सी0 42) तथा सामाजिक न्याय[4] (अशोक कुमार गुप्ता बनाम उत्तर प्रदेश, एस0सी0 577), अनुच्छेद 21 द्वारा प्रदत्त जीवन के अधिकार के अन्तर्गत सम्मिलित हैं। इस प्रकार न्यायपालिका ने मूल अधिकारों की विस्तृत व्याख्या करके नीति-निदेशक सिद्धान्तों को मूल अधिकारों के रूप में मान्यता प्रदान की है। दूसरी ओर संसद ने 42वें और 44वें संशोधनों द्वारा कुछ नए नीति-निदेशक सिद्धान्तों को भाग 4 में जोड़ा है।

(स) शिक्षा का अधिकार

संविधान के 86वें संशोधन द्वारा अनुच्छेद 21 ए0 को संविधान में जोड़कर शिक्षा का अधिकार प्रदान किया गया है। इस अनुच्छेद में कहा गया है कि राज्य छह से चौदह वर्ष की आयु के सभी बालकों को निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा, उसी प्रकार की रीति से जैसा राज्य विधि अनुसार निर्धारित करे, देने की व्यवस्था करेगा।

(द) गिरफ्तारी और निरोध से संरक्षण

संवधान का अनुच्छेद 22 बंदी किए जाने के विरुद्ध संरक्षण प्रदान करता है और कार्यकारिणी की स्वेच्छारिता से बचाव के लिए निम्न उपबंध करता है–(1) गिरफ्तार किए जाने वाले व्यक्ति को उसकी गिरफ्तारी का कारण बताना होगा।

(2) उसे 24 घंटों के अन्तर्गत किसी निकटतम मजिस्ट्रेट के सामने प्रस्तुत करना होगा और बिना किसी दण्डाधिकारी के आदेश के उसे 24 घण्टे से ज्यादा हिरासत में नहीं रखा जा सकता।

(3) उसे अपनी पसंद के वकील से परामर्श करने तथा अपनी प्रतिरक्षा करने के अधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता।

अनुच्छेद 22 द्वारा प्रावधानित संरक्षण अन्य-देशीय शत्रुओं तथा उस व्यक्ति को प्राप्त न होंगे जिसे निवारक निरोध के अन्तर्गत बंदी बनाया गया हो। संविधान के अनुच्छेद 22 के उपखण्ड 4 से 7 तक निवारक विरोध के संबंध में सविस्तार विवेचना की गई है। निवारक विरोध का अर्थ है किसी घटना के घटित होने से पूर्व ऐसी कार्रवाई करना जिससे वह घटना घटित न होने पाए। इसका उद्देश्य किसी व्यक्ति को अपराध करने से रोकना है।

संविधान के अनुसार निवारक निरोध के अधीन किसी भी व्यक्ति को दो मास से अधिक नजरबंद नहीं रखा जा सकता।[1] (मूल संविधान में यह अवधि तीन महीने थी जिसे 44वें संशोधन द्वारा दो महीने कर दिया गया है।) यदि इससे अधिक अवधि के लिए नजरबंद रखना आवश्यक हो तो इस मामले को एक परामर्शदात्री बोर्ड के समक्ष रखना होगा। उक्त परामर्शदात्री बोर्ड की नियुक्ति समुचित उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की संस्तुति के अनुसार की जाएगी। इस बोर्ड का अध्यक्ष उच्च न्यायालय का कोई सेवारत न्यायाधीश होगा। अध्यक्ष के अतिरिक्त इसमें कम से कम दो अन्य सदस्य होंगे जो न्यायालय के सेवारत अथवा अवकाश प्राप्त न्यायाधीश होंगे।[2] (संविधान के 44वें संशोधन द्वारा प्रावधानित) निरुद्ध व्यक्ति को उसकी गिरफ्तारी का कारण यथाशीघ्र बताया जाना चाहिए और उसे अपनी नजरबंधी के विरुद्ध अभ्यावेदन करने का अवसर देना चाहिए। इसमें कोई संदेह नहीं कि

नागरिकों की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए 44वें संशोधन के द्वारा निवारक निरोध के विषय में महत्वपूर्ण सुधार किए गए हैं।

संविधान के अनुच्छेद 22(7) के अधीन संसद ने पहला निवारक निरोध अधिनियम 1950 में पारित किया था जो 1969 तक चलता रहा। 1969 में संसद में अपेक्षित बहुमत न होने के कारण इस अधिनियम की अवधि नहीं बढ़ाई जा सकी और वह समाप्त हो गया। तत्पश्चात् 1971 में राष्ट्रपति ने 'आन्तरिक सुरक्षा व्यवस्था अध्यादेश (Maintenance of Internal Security Act –MISA) जारी किया जिसने बाद में अधिनियम का रूप धारण किया। इस अधिनियम के अनुसार परामर्शदात्री बोर्ड की सलाह के बिना किसी भी व्यक्ति को 21 माह तक नजरबंद रखा जा सकता था। 1975 में आपातकाल के दौरान 'मीसा' का खुलकर दुरुपयोग किया गया। संविधान के 44वें संशोधन (1978) द्वारा निवारक निरोध कानून के दुरुपयोग को रोकने के लिए महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गए। उक्त संशोधन के प्रतिकूल होने के कारण मीसा स्वयं रद्द हो गया।

1980 में सरकार ने राष्ट्रीय सुरक्षा अध्यादेश जारी किया जो बाद में कानून (NSA) में परिवर्तित हो गया। इस अधिनियम के अन्तर्गत निरोध की तिथि से 10 दिन के अन्दर बंदी बनाए जाने के आधार बताए जाने तथा निरुद्ध व्यक्ति द्वारा अपनी नजरबंदी को न्यायालय में चुनौती देने का अधिकार दिया गया है। पंजाब में उत्पन्न हुए आतंकवाद से निपटने के लिए जून 1984 में उक्त अधिनियम को और भी कठोर बना दिया गया।

1985 में पंजाब, कश्मीर और अन्य राज्यों में बढ़ रहे आतंकवाद को कुचलने के लिए 'आतंकवाद एवं विध्वंसक गतिविधियाँ (निरोधक अधिनियम) (Terrorist and Disruptive Activities Act–TADA) पारित किया गया।

आर्थिक क्षेत्र में 'राष्ट्रीय सुरक्षा' कानून की श्रेणी का एक कानून 'विदेशी मुद्रा संरक्षण व सरकारी निरीक्षण अधिनियम, 19 दिसम्बर 1974 को लागू किया गया।

निवारक विरोध के प्रावधान की संविधान-निर्मात्री सभा में कठोर आलोचना की गई थी और इसे नागरिक स्वतंत्रता के लिए अत्यधिक घातक बताया गया था। उक्त प्रावधान के अधीन संसद द्वारा समय-समय पर बनाए गए अधिनियमों का जिस प्रकार राजनैतिक कारणों से दुरुपयोग किया गया उससे भी निवारक निरोध की व्यवस्था के दोष स्पष्ट हो जाते हैं।

3. शोषण के विरुद्ध अधिकार

संविधान के अनुच्छेद 23 और 24 में शोषण के विरुद्ध अधिकार दिया गया है। अनुच्छेद 23 में मानव दुर्व्यापार (traffic in human beings) बेगार तथा अन्य प्रकार के बलात् श्रम (forced labour) को दण्डनीय अपराध घोषित किया गया है। मानव क्रय-विक्रय का अर्थ स्त्री और पुरुषों को वस्तुओं के समान खरीदना या बेचना है। इसमें स्त्रियों तथा बच्चों के साथ अनैतिक व्यवहार करना भी शामिल है।[1] *(ए0आई0आर0 1953 कलकत्ता, पृ0 522)*

यद्यपि संविधान ने बलात् श्रम को अवैधानिक घोषित किया है किन्तु इस संबंध में राज्य को कुछ छूट दी गई है। अनुच्छेद 23 (2) के अनुसार राज्य सार्वजनिक प्रयोजन से नागरिकों को अनिवार्य या बाध्य-सेवा के लिए मजबूर कर सकता है। इसका अर्थ यह है कि सैनिक सेवाओं अथवा राष्ट्रीय विकास के लिए आवश्यक सेवाओं के लिए किसी भी व्यक्ति को उसकी इच्छा के विरुद्ध कार्य करने के लिए बाध्य किया जा सकता है। लेकिन प्रतिबंध यह है कि बाध्य-सेवाएँ लेते समय राज्य नागरिकों के बीच उनके धर्म, मूलवंश, जाति आदि के आधार पर कोई भेदभाव नहीं करेगा।[2] *(अनुच्छेद 23 (2))*

अनुच्छेद 24 में बालश्रम को अवैधानिक घोषित किया गया है। इसमें कहा गया है कि 14 वर्ष से कम

आयु के बच्चों को किसी कारखाने, खान, या जोखिम भरे कार्य में नहीं लगाया जाएगा।

उपर्युक्त प्रावधानों का उद्देश्य गरीबों, श्रमिकों स्त्रियों और बच्चों के शोषण को रोकना और फलस्वरूप उनके समुचित विकास के रास्ते खोलना है।

4. धर्म की स्वतंत्रता

संविधान के अनुच्छेद 25 से 28 तक धर्म-विषयक निम्नलिखित स्वतंत्रताएँ प्रदान की गई हैं–

(i) *अन्तःकरण की तथा किसी धर्म को अबाध रूप से मानने, आचरण और प्रचार करने की स्वतंत्रता*

अनुच्छेद 25 के अनुसार सभी व्यक्तियों को समान रूप से अन्तःकरण की स्वतंत्रता और अपनी इच्छानुसार किसी भी धर्म को मानने, आचरण करने तथा उसका प्रचार करने का अधिकार दिया गया है जो इस बात का द्योतक है कि भारत एक पंथनिरपेक्ष राज्य है। सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य के आधार पर राज्य द्वारा धार्मिक स्वतंत्रता पर भी विवेकसम्मत प्रतिबंध लगाए जा सकते हैं।

(ii) *धार्मिक कार्यों के प्रबंध की स्वतंत्रता*

संविधान ने प्रत्येक धार्मिक समूह को धार्मिक संस्थाओं की स्थापना तथा पोषण करने, अपने धार्मिक मामलों का प्रबंध करने अथवा धर्मार्थ उद्देश्यों के लिए चल या अचल संपत्ति के अर्जन तथा स्वामित्व का तथा विधि के अनुसार संपत्तिं का संचालन करने का अधिकार प्रदान् किया है। किसी धर्म विशेष के हितों को बढ़ावा देने के लिए राज्य द्वारा कोई कर देने के लिए बाध्य न किया जाएगा।

(iii) *सरकारी संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा या धार्मिक उपासना में उपस्थित होने के विषय में स्वतंत्रता*

राज्य-निधि से पूरी तरह पोषित किसी शिक्षा-संस्था में कोई धार्मिक शिक्षा नहीं दी जाएगी। लेकिन उन शिक्षा संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा दी जा सकती है जिनका प्रशासन तो राज्य करता हो लेकिन उसकी स्थापना किसी ऐसे धर्मस्थ अथवा न्यास के अधीन की गई हो जिसके अनुसार उस संस्था में धार्मिक शिक्षा देना अनिवार्य हो। राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त या आर्थिक सहायता प्राप्त किसी शिक्षा संस्था में किसी व्यक्ति को किसी धर्म विशेष की शिक्षा ग्रहण करने के लिए या धार्मिक उपासना में उपस्थित होने के लिए बाध्य नहीं किया जाएगा।[1] *(अनुच्छेद 28)*

संविधान की उपर्युक्त धाराएँ भारत के धर्मनिरपेक्ष राज्य होने की प्रतीक हैं और वे ऐसी परिस्थितियों का सृजन करती हैं जिनमें प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्रता के साथ किसी भी धर्म का पालन कर सके।

5. संस्कृति और शिक्षा संबंधी अधिकार

अल्प-संख्यकों के हितों की विशेष रूप से सुरक्षा प्रदान करने के लिए संविधान के अनुच्छेद 29–30 में सांस्कृतिक तथा शिक्षा-संबंधी अधिकार प्रदान किए गए हैं। अनुच्छेद 29 में कहा गया है कि "भारत के राज्य-क्षेत्र अथवा उसके किसी भाग के निवासी नागरिकों के किसी वर्ग को, जिसकी अपनी विशेष भाषा, लिपि या संस्कृति है, उसे बनाए रखने का अधिकार होगा।" इसी अनुच्छेद में यह भी घोषित किया गया है कि "राज्य के द्वारा पोषित अथवा राज्य-निधि से सहायता पाने वाली किसी शिक्षा-संस्था में प्रवेश से किसी भी नागरिक को केवल धर्म, मूलवंश, जाति, भाषा अथवा इनमें से किसी के आधार पर वंचित नहीं किया जाएगा।"

अनुच्छेद 30 के अनुसार धर्म या भाषा पर आधारित अल्प-संख्यक वर्गों को अपनी रुचि की शिक्षा संस्थाएँ खोलने और उनका प्रशासन करने का अधिकार दिया गया है।[2] *(अनुच्छेद 30 (1))* यह भी कहा गया है कि शिक्षा संस्थाओं को आर्थिक सहायता देने के मामले में सरकार इस आधार पर विभेद न करेगी कि वह संस्था धर्म या भाषा पर आधारित किसी अल्प-संख्यक वर्ग के प्रबंध में है।[3] *(अनुच्छेद 30 (2))*

अनुच्छेद 29–30 को लेकर सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष समय-समय पर विवाद आते रहे हैं। इन मुकद्दमें में सर्वोच्च न्यायालय ने आमतौर से अल्प-संख्यकों के हितों को संरक्षण देने पर बल दिया है और उपर्युक्त विशेषाधिकारों को प्रतिबंधों से मुक्त माना है। सिद्धराज भाई बनाम गुजरात के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने यह स्वीकार किया कि अनुच्छेद 30 (1) द्वारा दिया गया अधिकार निर्बाध है और अनुच्छेद 19 की तरह यह अनुच्छेद युक्तसंगत प्रतिबन्धों का पात्र नहीं है।"[1] *(ए0आई0आर0 1963 एस0सी0पृ0 540)* सर्वोच्च न्यायालय का यह कहना था कि यदि सार्वजनिक हित के नाम पर सरकार किसी अल्प-संख्यक शिक्षा संस्था को अपने नियंत्रण में ले लेती है तो इससे अनुच्छेद 30 (1) अर्थहीन हो जाएगा। यह उल्लेखनीय है कि संविधान में लगभग सभी महत्वपूर्ण अधिकारों पर प्रतिबंध लगाने का स्पष्ट प्रावधान किया गया है किन्तु अल्प-संख्यकों को दिए गए संस्कृति और शिक्षा-संबंधी अधिकारों पर कोई प्रतिबंध लगाने की बात नहीं कही गई है। इस दृष्टि से अनुच्छेद 29–30 को अन्य मूल अधिकारों पर प्राथमिकता दी गई है।

6. सांविधानिक उपचारों का अधिकार

संविधान में दिए गए मूल अधिकारों का कोई महत्व ही न होता यदि इन्हें लागू करने की कोई व्यवस्था न की जाती। अनुच्छेद 32 नागरिकों को 'सांविधानिक उपचारों का अधिकार प्रदान करता है जिसका प्रयोग करके वे अपने अधिकारों को न्यायपालिका की सहायता से सुरक्षित रख सकते हैं। यह उल्लेखनीय हैं कि न्यायालय द्वारा मूल अधिकारों को कार्यान्वित कराने का अधिकार भी स्वयं मूल अधिकारों में सम्मिलित है। अतः यह अधिकार उतना ही मौलिक और अमूल्य है जितना कि अन्य मूल अधिकार। वास्तविकता यह है कि अपने मूल अधिकारों की सुरक्षा के लिए न्यायपालिका की सहायता लेना जहाँ नागरिकों का अधिकार है वहीं यह न्यायपालिका का सांविधानिक कर्त्तव्य भी है कि वह नागरिकों के मूल अधिकारों को सुरक्षित रखने के लिए तत्पर रहे। पूर्व मुख्य न्यायाधीश पातंजलि शास्त्री के शब्दों में, सर्वोच्च न्यायालय अपने उत्तरदायित्व के कारण जो उसको सौंपा गया है, इन अधिकारों को संरक्षित रखने की प्रार्थना करने वाले किसी प्रार्थना पत्र को स्वीकार करने से इंकार नहीं कर सकता।[1] *(ए0आई0आर0 1950 एस0सी0पृ0 125)*

अनुच्छेद 32 के द्वारा प्रदान किए गए उपर्युक्त अधिकार का अर्थ यह है कि कोई भी नागरिक विधानमण्डल द्वारा बनाए गए किसी कानून या कार्यकारिणी के किसी आदेश या निर्णय को न्यायालय में इस आधार पर चुनौती दे सकता है कि वह संविधान की किसी धारा के प्रतिकूल है। यदि परीक्षणोपरान्त न्यायालय यह पाता है कि वह कानून या आदेश किसी मूल अधिकार का अतिक्रमण करता है या संविधान की किसी अन्य धारा के विरुद्ध है तो उसे लागू होने से रोक सकता है। न्यायपालिका की इस शक्ति को न्यायिक पुनरावलोकन कहा जाता है।

इस नकारात्मक नियंत्रण के अतिरिक्त, संविधान के अनुच्छेद 32 (2) में मूल अधिकारों को कार्यान्वित करने के उद्देश्य से सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों को निम्नलिखित रिटें जारी करने का अधिकार प्रदान किया गया है–

1. बंदी प्रत्यक्षीकरण प्रलेख (Writ of Habeas Corpus)

यह प्रलेख अवैध ढंग से बंदी बनाए गए किसी व्यक्ति को न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत करने के लिए

जारी किया जाता है। यदि न्यायालय यह पाता है कि उस व्यक्ति को बन्दी बनाए जाने का कारण विधिपूर्ण नहीं है तो वह उसे रिहा करने का आदेश जारी कर सकता है। यह प्रलेख सरकारी अधिकारियों के अतिरिक्त निजी संगठनों तथा साधारण व्यक्तियों के विरुद्ध भी जारी किया जा सकता है।

2. परमादेश प्रलेख (*Writ of Mandamus*)

इसके द्वारा किसी व्यक्ति अथवा संस्था को उसके सार्वजनिक दायित्वों तथा कर्त्तव्यों का पालन न करने की दशा में उन्हें अपने विधिवित कार्यों का सम्पादन करने के लिए आदेश दिया जाता है।

3. उत्प्रेषण प्रलेख (*Writ of Certiorari*)

यह प्रलेख सर्वोच्च न्यायालय अथवा किसी उच्च न्यायालय के द्वारा किसी निम्न न्यायालय तथा अर्द्ध न्यायिक संस्था को जारी करते हुए उसे यह आदेश दिया जाता है कि वह अपने विचाराधीन किसी मामले को संबंधित अभिलेखों सहित उच्च न्यायालय के पास सुनवाई के लिए भेज दे। ऐसा उस समय किया जाता है जब कोई न्यायालय अथवा प्राधिकरण क्षेत्राधिकार के बिना अथवा अपने क्षेत्राधिकार से बाहर जाकर अथवा प्राकृतिक सिद्धान्त के विरुद्ध कार्य कर रहा हो या अपने नियत क्षेत्राधिकार का प्रयोग करने से इंकार कर रहा हो।

4. प्रतिषेध प्रलेख (*Writ of Prohibition*)

यह प्रेलख सर्वोच्च न्यायालय अथवा उच्च न्यायालय द्वारा निम्न न्यायालयों तथा अर्ध-न्यायिक संस्थाओं को आदेश देता है कि वह किसी विचाराधीन मामले में अपने यहाँ कार्रवाई रोक दे क्योंकि यह मामला उनके अधिकार-क्षेत्र से बाहर है।

उत्प्रेषण प्रलेख और प्रतिषेध प्रलेख में मूल अन्तर यह है कि प्रतिषेध प्रलेख उस समय जारी किया जाता है जब निम्न न्यायालय में किसी ऐसे मामले की कार्रवाई लंबित हो जिसकी सुनवाई करने का अधिकार उसे नहीं है। इस रिट को जारी करके न्यायालय को उस मामले में आगे कार्रवाई करने से रोक दिया जाता है।

उत्प्रेषण प्रलेख उस समय जारी किया जाता है जब किसी मामले में क्षेत्राधिकार न होते हुए भी निम्न न्यायालय ने निर्णय दे दिया हो। इस प्रलेख के जारी होने के बाद वह मामला संबंधित अभिलेखों सहित उच्च न्यायालय को भेज दिया जाता है और निम्न न्यायालय का निर्णय निरस्त समझा जाता है।

5. अधिकार-पृच्छा (*Writ of Quo-Warranto*)

यह प्रलेख किसी व्यक्ति को कोई ऐसा सार्वजनिक पद ग्रहण करने से रोकने के लिए जारी किया जाता है जिस पद को ग्रहण करने के लिए वह विधि के अनुसार अर्ह नहीं है। उस पद को उस समय एक रिक्त घोषित किया जा सकता है जब तक न्यायालय द्वारा उसका निर्णय न हो जाय।

उपर्युक्त रिटों को जारी करने का अधिकार सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालय दोनों को ही प्रदान किया गया है। न्यायपालिका इन रिटों का प्रयोग करके नागरिकों की स्वतंत्रता तथा अधिकारों को सरकार तथा साधारण व्यक्तियों द्वारा किए जाने वाले अतिक्रमणों से बचाती है। संविधान के अनुच्छेद ! के महत्व पर प्रकाश डालते हुए डा0 अम्बेडकर ने संविधान निर्मात्री सभा में कहा था कि "यदि ई मुझसे यह पूछे कि संविधान का वह कौन सा अनुच्छेद है जिसके बिना संविधान शून्य प्रायः हो जाएगा तो इस अनुच्छेद को छोड़कर मैं किसी और अनुच्छेद की ओर संकेत नहीं कर सकता। यह तो संविधान का हृदय तथा आत्मा है।"[1] *(सी0ए0डी0; खण्ड 7, पृ0 953)*

4.7 संपत्ति का अधिकार–प्रारंभ से वर्तमान तक

मूल संविधान के अनुच्छेद 19 (एफ) में नागरिकों को संपत्ति अर्जित करने की स्वतंत्रता दी गई थी और संपत्ति को सरकार के अनुचित हस्तगत से बचाने के लिए अनुच्छेद 31 में संपत्ति के अधिकार को मूल अधिकार के रूप में स्वीकार किया गया था। मूल संविधान के अनुच्छेद 31 में मुख्य रूप से दो बातें कही गई थीं।

1. कोई भी व्यक्ति विधि के प्राधिकार के बिना अपनी संपत्ति से वंचित नहीं किया जायेगा।
2. सार्वजनिक हित में सरकार द्वारा हस्तगत की जाने वाली किसी भी व्यक्तिगत संपत्ति को बिना प्रतिकर दिए हुए न लिया जाएगा।

संपत्ति का अधिकार प्रारंभ से ही विवाद का विषय रहा। संविधान लागू होने के तुरन्त बाद ही विभिन्न राज्यों में पारित किए गए भूमि-सुधार संबंधी कानून, विशेषकर जमींदारी उन्मूलन कानूनों की संवैधानिकता को न्यायपालिका में चुनौती दी गई और इनके संपत्ति के अधिकार के प्रतिकूल होने का दावा किया गया। परिणामस्वरूप 1951 में संविधान में प्रथम संशोधन किया गया और अनुच्छेद 31ए और 31बी के रूप में दो नए प्रावधान जोड़कर न्यायपालिका द्वारा उठाई गई आपत्तियों का निराकरण कर दिया गया।

अनुच्छेद 31 के विषय में दूसरा विवाद 'प्रतिकर' शब्द को लेकर उठा। श्रीमती बेला बनर्जी बनाम पश्चिम बंगाल के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने यह कहा कि "यद्यपि यह सत्य है कि विधानमण्डल को यह स्वविवेकीय शक्ति दी गई है कि वह राज्य द्वारा हस्तगत की गई किसी संपत्ति के स्वामी को प्रतिकर देने के सिद्धान्तों का निश्चय करे, किन्तु इन सिद्धान्तों को ऐसा होना चाहिए कि उसके अधीन जो भी धनराशि दी जा रही है वह वास्तव में प्रतिकर हो, अर्थात् वह धनराशि उस संपत्ति के यथार्थ मूल्य के बराबर हो जिससे व्यक्ति विशेष को वंचित किया गया है।"*(ए0आई0आर0, 1954 एस0सी0पृ0 170)* इस निर्णय के बाद संविधान में चौथा संशोधन किया गया जिसके द्वारा अनुच्छेद 31 (2) में यह प्रावधान कर दिया गया कि निजी संपत्ति को हस्तगत करने वाले किसी कानून द्वारा निर्धारित किया गया प्रतिकर उचित है अथवा नहीं, यह प्रश्न न्यायालय में नहीं उठाया जा सकता।

1964 में संविधान के 17वें संशोधन के द्वारा अनुच्छेद 31 ए (2) के क्षेत्र को पुनः विस्तृत किया गया।

संविधान लागू होने के बाद वर्षों तक संपत्ति के मूल अधिकार के संबंध में विधानमण्डल और न्यायपालिका के बीच कोई प्रत्यक्ष टकराव उत्पन्न नहीं हुआ क्योंकि न्यायपालिका ने संसद को मूल अधिकारों में संशोधन करने से कभी नहीं रोका। समस्या उस समय से उत्पन्न हुई जब 1967 में गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य के मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय ने यह दृष्टिकोण प्रतिपादित किया कि संसद मूल अधिकारों में संशोधन नहीं कर सकती। जुलाई 1969 में सर्वोच्च न्यायालय ने 14 बैंकों का राष्ट्रीयकरण करने वाले अध्यादेश को और 1970 में देश के भूतपूर्व रियासतों के नरेशों को प्राप्त 'प्रिवीपर्सेज' को समाप्त करने वाले अध्यादेश को संपत्ति के मूल अधिकार के प्रतिकूल होने के कारण असंवैधानिक घोषित कर दिया। इन निर्णयों से सरकार और न्यायपालिका के बीच गम्भीर टकराव की स्थिति उत्पन्न हो गई। सरकार ने यह आरोप लगाया कि मूल अधिकारों के नाम पर न्यायपालिका सरकार की समाजवादी नीतियों के कार्यान्वयन में बाधा उत्पन्न कर रही है। 1971 के मध्ययावधि चुनाव में कांग्रेस पार्टी भारी बहुमत से विजयी हुई। नई संसद ने संविधान में अनेक संशोधन करके संसद की सर्वोच्चता स्थापित करने का प्रयास किया। 1971 में संविधान के 24वें संशोधन द्वारा अनुच्छेद 368 में यह स्पष्ट कर दिया गया कि संसद मूल अधिकारों में भी संशोधन कर सकती है।

1975–76 में किए गए 42वें संशोधन ने संसद की संशोधन-शक्ति को और बढ़ा दिया और अनुच्छेद 368 में यह प्रावधान कर दिया गया कि संसद द्वारा संविधान में किए गए किसी भी संशोधन को किसी भी न्यायालय में किसी भी आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती। इसी संशोधन द्वारा अनुच्छेद 31 में एक नई धारा 31 डी जोड़ी गई जिसके द्वारा संपत्ति के अधिकार को पुनः प्रतिबंधित किया गया। इस नए प्रावधान के अनुसार 'राष्ट्र विरोधी गतिविधियों के नाम पर नागरिकों को उनकी व्यक्तिगत संपत्ति से वंचित किया जा सकता था।[1] *(43वें संशोधन द्वारा अनुच्छेद 31 डी0 को समाप्त कर दिया गया।)*

संपत्ति के अधिकार में निरन्तर संशोधन करने के बाद भी उसे आर्थिक समानता स्थापित करने में बाधक महसूस किया गया। अतः 1978 में जनता पार्टी की सरकार ने 44वें संशोधन के द्वारा संपत्ति के अधिकार को मूल अधिकार के अध्याय से निकाल दिया और अब संपत्ति का अधिकार नागरिकों का मूल अधिकार नहीं रहा। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि संविधान ने संपत्ति के अधिकार का बिल्कुल ही अन्त कर दिया है, यह अब भी एक सांविधानिक अधिकार है।

संविधान के 44वें संशोधन द्वारा संविधान के भाग 12 में 'संपत्ति का अधिकार' शीर्षक के अधीन एक नया अध्याय 4 जोड़ दिया गया है जिसमें केवल एक अनुच्छेद 300 है। इसमें कहा गया है कि "कोई व्यक्ति विधि के प्राधिकार के बिना अपनी संपत्ति से वंचित नहीं किया जाएगा।" यह प्रावधान अक्षरशः पूर्ववर्ती अनुच्छेद 31 (1) के समान है। **अन्तर केवल** यह है कि उसे भाग 3 (मूल अधिकारों वाले अध्याय) से निकाल कर संविधान में एक अन्य स्थान पर रख दिया गया है।

संपत्ति के अधिकार को मूल अधिकारों की श्रेणी या सूची से निकाल देने का परिणाम यह है कि अब सरकार किसी भी निजी संपत्ति को मात्र एक कानून बनाकर हस्तगत कर सकती है। इसका अर्थ यह हुआ कि व्यक्तिगत संपत्ति के हस्तगन के मामले में न्यायपालिका का क्षेत्राधिकार अत्यधिक सीमित हो गया और विधानमण्डल की शक्तियां बहुत बढ़ गईं। निजी संपत्ति पूर्णतया सरकार की दया का पात्र बन गई। संसद में बहुमत में होने के कारण मंत्रिपरिषद् किसी निजी संपत्ति को हस्तगत करने का कानून आसानी से बनवा सकती है। यह उल्लेखनीय है कि जब तक संपत्ति का अधिकार मूल अधिकारों में सम्मिलित रहा उस समय तक निजी संपत्ति को हस्तगत करने वाले कानून की संवैधानिकता को न्यायालय में इस आधार पर चुनौती दी जा सकती थी कि वह संपत्ति के मूल अधिकार का अतिक्रमण करता है। अब संसद के लिए इस प्रकार का कानून बनाने में कोई कठिनाई नहीं होगी।

संविधान में संपत्ति का अधिकार अब भी मौजूद है लेकिन अब यह मूल अधिकार नहीं है, मात्र एक वैधानिक अधिकार है। संविधान में इस अधिकार के बने रहने का एक लाभ यह है कि कार्यकारिणी (प्रशासन) स्वेच्छाचारी ढंग से किसी व्यक्ति की संपत्ति को हस्तगत नहीं कर सकती जब तक कि ऐसा कानून विधानमण्डल द्वारा पारित न किया जाए। चूँकि विधानमण्डल जनता द्वारा निर्वाचित होता है अतः यह अपेक्षा की जाती है कि जनता के प्रतिनिधि निजी संपत्ति के हस्तगन के मामले में अपनी शक्ति का दुरुपयोग नहीं करेंगे।

4.8 मूल अधिकारों में संशोधन–संविधान का मूल संरचना सिद्धान्त

मूल संविधान में भाग 3 में दिए गए मौलिक अधिकारों के संशोधन के संबंध में कोई स्पष्ट बात **नहीं** कही गई थी। इसलिए इस प्रश्न पर काफी विवाद रहा कि संसद मूल अधिकारों में संशोधन कर सकती है या नहीं।

मूल अधिकारों में संशोधन का प्रश्न सबसे पहले 1951 में 'शंकरी प्रसाद बनाम भारत सरकार' के मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष उठाया गया। यह मुकदमा संविधान के प्रथम संशोधन के विरुद्ध दायर किया गया था जिसके द्वारा अनुच्छेद 31 (संपत्ति का अधिकार) को संशोधित किया गया था। मूल अधिकारों में संशोधन-विषयक दूसरा मामला 1964 में 'सज्जन सिंह तथा अन्य बनाम राजस्थान राज्य' के मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत किया गया। यह मुकदमा भी संपत्ति के मूल अधिकार (अनुच्छेद 31) में 17वें संशोधन के द्वारा किए गए परिवर्तनों के विरुद्ध किया गया था। इसमें भी प्रार्थियों की ओर से यह तर्क दिया गया था कि संसद मूल अधिकारों में संशोधन करने के लिए सक्षम नहीं है अतः 17वाँ संशोधन असंवैधानिक है।

उपर्युक्त दोनों मुकदमों में संसद द्वारा मूल अधिकारों में संशोधन करने की शक्ति को चुनौती देते हुए, मुख्य रूप से यह तर्क दिया गया कि संविधान का अनुच्छेद 13 (2) जो भाग 3 का प्रारंभिक अनुच्छेद है, में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि राज्य कोई ऐसा कानून नहीं बनाएगा जो इस भाग में दिए अधिकारों में कटौती या उनका अतिक्रमण करता हो। इस अनुच्छेद में प्रयुक्त 'शब्द कोई भी कानून' (Any law) के अन्तर्गत साधारण विधियाँ और संशोधन-विधियाँ दोनों ही सम्मिलित हैं। अतः संसद संविधान में कोई ऐसा संशोधन नहीं कर सकती जो इस भाग में दिए गए अधिकारों के प्रतिकूल है।

सर्वोच्च न्यायालय ने उपर्युक्त दोनों मामलों में यह निर्णय दिया कि संसद मूल अधिकारों में संशोधन कर सकती है। इस दृष्टिकोण के पक्ष में मुख्य रूप से निम्न तर्क दिए गए :

1. अनुच्छेद 368 का शीर्षक 'संविधान में संशोधन' है जिससे इस बात का बोध होता है कि संपूर्ण संविधान में संशोधन करने की प्रक्रिया इसी अनुच्छेद में दी हुई है। चूँकि यह अनुच्छेद संसद को संविधान के भाग 3 (मूल अधिकारों) में संशोधन करने से मना नहीं करता अतः यह स्वाभाविक परिणाम निकलता है कि मूल अधिकारों में संशोदन करने का अधिकार संसद में निहित है।

2. संविधान के अनुच्छेद 368 खण्ड 2 के परन्तुक में जिन अनुच्छेदों का उल्लेख किया गया है उनमें संशोधन करने के लिए कम से कम आधे राज्य-विधानमण्डलों की स्वीकृति आवश्यक ठहरायी गई है। चूँकि इस परन्तुक में भाग 3 उल्लिखित नहीं है अतः इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मूल अधिकारों में संशोधन केवल संसद कर सकती है, उसके लिए राज्य-विधानमण्डलों के अनुमोदन की भी आवश्यकता नहीं है।

3. अनुच्छेद 13 (2) में प्रयुक्त 'कानून' शब्द के अन्तर्गत सांविधानिक संशोधनों का समावेश नहीं होता, यह केवल साधारण विधियों पर ही लागू होता है।

4. स्वयं अनुच्छेद 368 जो संविधान में संशोधन करने की प्रक्रिया को निर्धारित करता है, संसद द्वारा संशोधित किया जा सकता है। संसद इसमें संशोधन करके मूल अधिकारों में संशोधन करने की शक्ति स्पष्ट रूप से अपने को प्रदान कर सकती है।

5. यदि मूल अधिकारों में संशोधन करने का अधिकार संसद को देना संविधान-निर्माताओं का उद्देश्य न होता तो वह अनुच्छेद 368 से संविधान के भाग 3 को उसी तरह निकाल सकते थे जैसा कि अनुच्छेद 4 (2) के विषय में किया गया है। *(संविधान के अनुच्छेद 2–3 में संसद को कानून बनाकर नए राज्यों का प्रवेश या स्थापना करने, वर्तमान राज्यों के क्षेत्रों, नामों, सीमाओं आदि में परिवर्तन करने की शक्ति दी गई है। अनुच्छेद 4 (2) में यह घोषणा की गई है कि "पूर्वोक्त प्रकार की कोई विधि अनुच्छेद 368 के प्रयोजनों के लिए इस संविधान का संशोधन नहीं समझी जाएगी।")*

उपर्युक्त दोनों निर्णयों के विपरीत 1967 में गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य मामले में मुख्य न्यायाधीश सुब्बाराव तथा अन्य न्यायाधीशों ने यह निर्णय दिया कि संसद मूल अधिकारों में संशोधन नहीं कर सकती। अपने इस निर्णय के पक्ष में सर्वोच्च न्यायालय ने निम्नलिखित तर्क दिए :

1. प्रत्येक सांविधानिक संशोधन एक कानून होता है अतः वह भी अनुच्छेद 13 (2) में प्रयुक्त 'विधि' शब्द के अन्तर्गत आता है। इसका अर्थ यह है कि यदि कोई संशोधन-विधि भी मूल अधिकारों के प्रतिकूल है तो वह भी अनुच्छेद 13 (2) के उपबंध के अनुसार अवैध समझा जाएगा।

2. मुख्य न्यायाधीश सुब्बाराव ने यह कहा कि मूल अधिकारों को संविधान के सामान्य उपबंधों के संदर्भ में देखना चाहिए। वास्तव में मूल अधिकार संविधान की प्रस्तावना में निहित आदर्शों का ही विस्तृत रूप हैं और संसद की पहुँच से बाहर हैं।

3. संविधान स्वयं मूल अधिकारों पर कुछ प्रतिबंध लगाता है और उन परिस्थितियों का भी उल्लेख करता है जिनमें मूल अधिकारों का स्थगन किया जा सकता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उन प्रतिबंधों के अतिरिक्त संसद किसी भी दशा में मूल अधिकारों का अतिक्रमण नहीं कर सकती।

4. मुख्य न्यायाधीश ने यह कहा कि यदि जनता मूल अधिकारों में संशोधन चाहती है तो संसद को अनुच्छेद 245 तथा 248 और संघ सूची की 97वीं प्रविष्टि में दी गई शक्तियों का प्रयोग करके एक संविधान-निर्मात्री सभा या सम्मेलन बुलाने की व्यवस्था करनी चाहिए अथवा उस पर जनमत संग्रह कराना चाहिए।

5. न्यायालय ने कहा कि यह कहना गलत है कि अनुच्छेद 368 संसद को संविधान में संशोधन करने की शक्ति प्रदान करता है। वास्तव में यह संशोधन करने की प्रक्रिया का वर्णन करता है जैसा कि उसके हाशिये के शीर्षक से स्पष्ट है। संसद को संशोधन करने की शक्ति अनुच्छेद 245, 246 और 248 से प्राप्त होती है।

गोलकनाथ के मुकदमे में दिया गया निर्णय संसद की शक्तियों पर कुठाराघात था अतः सरकार की ओर से इसकी कटु आलोचना की गई और सर्वोच्च न्यायालय पर यह आरोप लगाया गया कि वह नीति-निदेशक सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप देने में बाधक हो रहा है।

1971 में लोकसभा के मध्यावधि चुनाव हुए जिसमें इंदिरा कांग्रेस को भारी बहुमत मिला। श्रीमती गाँधी न्यायपालिका के दृष्टिकोण से बहुत ज्यादा अप्रसन्न थीं अतः उन्होंने संसद की सर्वोच्चता स्थापित करने और न्यायपालिका की शक्तियों को सीमित करने का योजनाबद्ध कार्य शुरू कर दिया। नवम्बर 1971 में संविधान में 24वाँ संशोधन करके संसद को संविधान में संशोधन करने का असीमित अधिकार दे दिया गया। इस संशोधन द्वारा संविदान की उन कमियों को दूर कर दिया गया जिनके आधार पर गोलकनाथ के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने यह दृष्टिकोण प्रतिपादित किया था कि संसद मूल अधिकारों में संशोधन नहीं कर सकती। 24वें संशोधन के मुख्य प्रावधान इस प्रकार थे–

1. अनुच्छेद 13 में खण्ड 3 जोड़कर यह स्पष्ट कर दिया गया कि संविधान में किए जाने वाला कोई भी संशोधन अनुच्छेद 13 (2) में प्रयुक्त 'विधि' शब्द की परिधि में नहीं आता। अतः किसी संशोधन अधिनियम को अनुच्छेद 13 (2) की कसौटी पर नहीं जाँचा जा सकता।

2. अनुच्छेद 368 के हाशिया-शीर्षक को बदल कर 'संविधान का संशोधन करने की संसद की शक्ति और उसके लिए प्रक्रिया' कर दिया गया। इस तरह उस आपत्ति का

निराकरण कर दिया गया कि अनुच्छेद 368 संशोधन की प्रक्रिया निर्धारित करता है, संशोधन की शक्ति प्रदान नहीं करता।

3. अनुच्छेद 368 में एक नया खण्ड जोड़ दिया गया जिसमें यह कहा गया था कि "....संसद अपनी संविधानीय शक्ति का प्रयोग करते हुए संविधान के किसी उपबंध का परिवर्द्धन, परिवर्तन अथवा निरसन के रूप में संशोधन, इस अनुच्छेद में दी गई प्रक्रिया के अनुसार कर सकेगी।" इसका अर्थ यह था कि संसद मूल अधिकारों सहित सम्पूर्ण संविधान में संशोधन कर सकती है।

सांविधानिक संशोधनों पर राष्ट्रपति के नियंत्रण को समाप्त करने के लिए यह भी प्रावधान कर दिया गया कि राष्ट्रपति के लिए संशोधन-विधेयकों पर स्वीकृति देना अनिवार्य होगा। परिणामस्वरूप संविधान संसद की दया का पात्र बन गया।

संविधान का मूल संरचना सिद्धान्त

1972–73 में केशवनंद भारती द्वारा संविधान के 24वें, 25वें और 29वें संशोधनों को सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती दी गई और यह तर्क दिया गया कि इन संशोधनों से मूल अधिकारों का अतिक्रमण होता है। गोलकनाथ के मुकदमे में दिए गए अपने निर्णय के विपरीत इस मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने एक नया दृष्टिकोण अपनाया। न्यायालय के बहुमत ने यह निर्णय दिया कि उपर्युक्त समस्त संशोधन वैध हैं और संसद को मूल अधिकारों में संशोधन करने का अधिकार है किन्तु यह अधिकार असीमित नहीं है। मुख्य न्यायाधीश न्यायमूर्ति सीकरी सहित सात न्यायाधीशों ने संसद की संशोधन-शक्ति पर अन्तर्निहित सीमा की अवधारणा का प्रतिपादन किया। सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि संसद संविधान में कोई ऐसा संशोधन नहीं कर सकती जिससे संविधान के मूल ढाँचे या मूल संरचना को क्षति पहुंचती हो। दूसरे शब्दों में वह संविधान के मूल आधारों अथवा सिद्धान्तों को नहीं बदल सकती। 'संशोधन के नाम पर संविधान को नष्ट नहीं किया जा सकता।' मुख्य न्यायाधीश सीकरी ने मूल ढाँचा सिद्धान्त के प्रतिपादन में अग्रणी भूमिका अदा की। उनके अनुसार संविधान की मूल संरचना के अन्तर्गत निम्न सिद्धान्तों का समावेश होता है–

(1) संविधान की सर्वोच्चता (2) गणतंत्रीय और जनतंत्रीय प्रणाली (3) संविधान का धर्म-निरपेक्ष स्वरूप (4) विधानमण्डल, कार्यकारिणी तथा न्यायपालिका के बीच शक्ति पृथक्कीकरण (5) संविधान का संघीय स्वरूप

न्यायमूर्ति शैलेट और न्यायमूर्ति ग्रोवर ने 'मूल ढांचे' के अन्तर्गत, उपर्युक्त सिद्धान्तों के अतिरिक्त, देश की संप्रभुता, संविधान के भाग 3 में दिए गए मूल अधिकार तथा भाग 4 में वर्णित सिद्धान्तों को भी सम्मिलित किया।

न्यायमूर्ति हेगड़े तथा न्यायमूर्ति मुखर्जी ने कहा कि संविधान के मूल सिद्धान्तों का उल्लेख संविधान की प्रस्तावना में किया गया है। संसद इन सिद्धान्तों को नहीं बदल सकती। उदाहरण के लिए संसद संविधान के गणतंत्रीय स्वरूप को नहीं बदल सकती, नागरिक स्वतंत्रताओं का अन्त नहीं कर सकती, तथा धर्मतंत्र की स्थापना नहीं कर सकती।

न्यायमूर्ति जगमोहन रेड्डी ने कहा कि "हमारा संविधान रूपी भवन अनेक कड़ियों पर बना और टिका हुआ है उनमें से किसी एक के भी हटा देने से संविधान बैठ जाएगा।" उन्होंने संविधान के भाग 3 और 4 के सिद्धान्तों को संविधान की मूल संरचना का अंग स्वीकार किया क्योंकि, उनके अनुसार, इन्हीं में संविधान का दर्शन निहित है।

न्यायमूर्ति खन्ना ने उपर्युक्त न्यायधीशों के मत की पुष्टि करते हुए कहा कि 'यदि संविधान के मूल

ढाँचे को बरकरार रखा गया तो अन्य प्रावधानों को परिवर्तित करने के बाद भी यह प्रतीत होगा कि पुराना संविधान चल रहा है। उन्होंने कहा कि संशोधन का अर्थ ऐसे परिवर्तन से है जिससे संविधान की पहचान समाप्त न होने पाए।

उपर्युक्त मुकदमें में जिन छः न्यायाधीशों ने विमत-निर्णय दिया उनका यह कहना था कि संविधान में कुछ भी ऐसा नहीं है जिसे संविधान की अनिवार्य अथवा अपरिवर्तनीय विशेषताओं की संज्ञा दी जा सके। इन न्यायाधीशों का कहना था कि किसी स्पष्ट तथा निश्चित मापदण्ड के अभाव में यह कौन तय करेगा कि संविधान का कौन सा प्रावधान मौलिक है और कौन सा गौण। यदि संसद स्वयं इन मूल विशेषताओं का निर्धारण करती है तो न्यायपालिका उससे सहमत न होगी और यदि संसद उनका निश्चय नहीं करती तो उसकी संशोधन-शक्ति का अंत हो जाएगा।

न्यायमूर्ति मैथ्यू और न्यायमूर्ति पालेकर ने अन्तर्निहित सीमा सिद्धान्त का खण्डन करते हुए कहा कि संविधान के सिद्धान्तों को अनिवार्य अथवा महत्वपूर्ण और कम महत्वपूर्ण श्रेणियों में नहीं विभाजित किया जा सकता।

केशवनंद भारती के मुकदमे में दिए गए निर्णय के द्वारा न्यायपालिका ने अपनी खोई हुई शक्ति को पुनः प्राप्त कर लिया। संसद की संशोधन-शक्ति पर लगाए गए उपर्युक्त प्रतिबंध का अर्थ यह था कि किसी भी संशोधन को न्यायालय में इस आधार पर चुनौती दी जा सकती थी कि वह संविधान के मूल ढाँचे का अतिक्रमण करता है। इस प्रकार संविधान के मूल ढाँचे के नाम पर न्यायपालिका किसी भी संशोधन की संवैधानिकता का परीक्षण करने की सक्षम बन गयी।

1976 में संसद ने एक बार फिर संविधान में संशोधन करने की अप्रतिबंधित शक्ति अर्जित करने का प्रयास किया और संविधान के 42वें संशोधन के द्वारा मूल ढाँचे के नाम पर लगाए गए प्रतिबंध को हटा दिया।

संविधान के 42वें संशोधन द्वारा अनुच्छेद 368 में दो नई धाराएँ 368 (4) और 368 (5) जोड़ी गई। पहली धारा में यह कहा गया था कि "...कोई संशोधन किसी न्यायालय में किसी भी आधार पर प्रश्नगत नहीं किया जाएगा।" धारा 5 में यह घोषणा की गई थी कि "इस अनुच्छेद के अधीन संविधान के उपबंधों का परिवर्द्धन, परिवर्तन या निरसन के रूप में संशोधन करने के लिए संसद की संविधायी शक्ति पर किसी प्रकार का निर्बन्धन नहीं होगा।"

42वें संशोधन द्वारा एक ओर संसद की संविधान में संशोधन करने की शक्ति को फिर असीमित बना दिया गया और दूसरी ओर समस्त संशोधनों को न्यायिक पुनरावलोकन से मुक्त कर दिया। दूसरे शब्दों में 42वें संशोधन ने 'संविधान के मूल ढाँचा सिद्धान्त' का अन्त कर दिया।

1980 में मिनर्वा मिल्स के मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय ने 42वें संशोधन की उपर्युक्त दोनों धाराओं (368 (4) और 368 (5)) को निरस्त कर दिया। न्यायालय ने कहा कि इन प्रावधानों द्वारा संसद को संविधान में संशोधन करने की असीमित शक्ति देने और संशोधन को न्यायपालिका के क्षेत्राधिकार से बाहर कर देने से संविधान के मूल ढाँचे को आघात पहुँचाता है अतएव यह प्रावधान असंवैधानिक हैं। इस प्रकार न्यायपालिका ने 'मूल ढाँचा सिद्धान्त' को पुनर्जीवित करके संसद की संशोधन-शक्तियों को फिर सीमित कर दिया। वर्तमान स्थिति यह है कि संसद मूल अधिकार सहित पूरे संविधान में संशोधन कर सकती है लेकिन प्रत्येक संशोधन को न्यायपालिका में इस आधार पर चुनौती दी जा सकती है कि उससे संविधान के मूल ढाँचे का अतिक्रमण होता है। इस प्रकार संशोधनों के मामले में न्यायपालिका की प्रधानता पुनः स्थापित हो गई है।

4.9 मूल कर्त्तव्य

संविधान में नागरिकों के मूल कर्त्तव्यों का उल्लेख करना भारतीय संविधान के लिए अवश्य नई बात थी किन्तु यह कोई नया सांविधानिक प्रयोग नहीं था। अधिकांश साम्यवादी देशों जैसे सोवियत यूनियन, चीन, कोरिया, हंगरी आदि देशों तथा गैर-साम्यवादी देशों जैसे इटली, जापान, नीदरलैंड के संविधानों में भी मूल कर्तव्यों का उल्लेख पाया जाता है।

भारत के मूल संविधान में नागरिकों के कर्त्तव्यों का स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं किया गया था संभवतः इसका कारण यह था कि स्वयं संविधान में मूल अधिकारों के साथ ही उन दशाओं का भी उल्लेख किया गया है जिनमें किसी अधिकार को प्रतिबंधित किया जाता है। यह सीमाएँ या प्रतिबंध कर्तव्यों को जन्म देती हैं। ऐसा कहा जाता है कि अधिकार और कर्त्तव्य एक दूसरे के पूरक होते हैं, अतः अधिकारों में कर्तव्य निहित होते हैं और उनके संविधान में लिखे जाने की कोई आवश्यकता नहीं है। दूसरे यह कि स्वयं नागरिक होए से जहाँ एक व्यक्ति को कुछ अधिकार मिलते हैं वही निहित रूप से उसके कुछ कर्त्तव्य भी होते हैं। जैसे संविधान का पालन करना, देश की प्रभुता और एकता की रक्षा करना, राष्ट्रध्वज का सम्मान करना इत्यादि। संविधान लागू होने के 26 वर्षों बाद, 42वें संशोधन के द्वारा संविधान में निम्नलिखित मूल कर्त्तव्यों का उल्लेख किया गया है[1] *(संविधान में एक नया भाग 4क जोड़ा गया है जिसमें केवल एक अनुच्छेद 51क में मूल कर्तव्यों को समाहित किया गया।)*– संविधान के अनुच्छेद 51क में कहा गया है कि भारत के प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य होगा कि वह :

1. संविधान का पालन करे और उसके आदर्शों, संस्थाओं, राष्ट्रध्वज और राष्ट्रगान का आदर करे,
2. स्वतंत्रता के लिए हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रेरित करने वाले उच्च आदर्शों को संजोए रखे और उनका पालन करे,
3. भारत की प्रभुता, एकता और अखंडता की रक्षा करे और उसे अक्षुण्ण रखे,
4. देश की रक्षा करे और आह्वान किए जाने पर राष्ट्र की सेवा करें,
5. भारत के सभी लोगों में समरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का निर्माण करे जो धर्म, भाषा, प्रदेश और वर्ग पर आधारित सभी भेदभाव से परे हो, ऐसी प्रथाओं का त्याग करें जो स्त्रियों के सम्मान के विरुद्ध हो,
6. हमारी सामाजिक संस्कृति को गौरवशाली परम्परा का महत्व समझे और उसका परिरक्षण करे,
7. प्राकृतिक पर्यावरण की, जिसके अन्तर्गत वन, झील, नदी और वन्य जीव भी हैं, रक्षा करे और उनका संवर्द्धन करे तथा प्राणिमात्र के प्रति दयाभाव रखे;
8. वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन और सुधार की भावना का विकास करे,
9. सार्वजनिक सम्पत्ति को सुरक्षित रखे और हिंसा से दूर रहे;
10. व्यक्तिगत और सामूहिक गतिविधियों के सभी क्षेत्रों में उत्कर्ष की ओर बढ़ने का सतत् प्रयास करे जिससे राष्ट्र निरन्तर बढ़ते हुए प्रयत्न और उपलब्धि की नई ऊँचाइयों को छू ले;
11. जो माता-पिता या संरक्षक है या, जैसी भी स्थिति हो, छह और चौदह वर्ष की आयु के बीच का प्रतिपाल्य है, शिक्षा के लिए व्यवस्था करने का अवसर दिलाए।[1] *(संविधान के*

86वें संशोधन द्वारा जोड़ा गया।)

जैसा पहले इंगित किया जा चुका है, संविधान में उल्लिखित उपर्युक्त मूल कर्तव्यों में से कुछ ऐसे हैं जो नागरिकता के अधिकार में निहित होते हैं, कुछ ऐसे कर्तव्य बताए गए हैं जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मूल अधिकारों अथवा नीति-निदेशक सिद्धान्तों में मौजूद हैं। उदाहरण के लिए धर्म, भाषा, प्रदेश और वर्ग के आधार पर आपस में भेदभाव न करने का निर्देश अनुच्छेद 15 में दिया गया है। ऐतिहासिक स्थानों की सुरक्षा करने का दायित्व अनुच्छेद 40 में और प्राकृतिक पर्यावरण की रक्षा करने की बात अनुच्छेद 48ए में कही गई है। यह कहा जा सकता है कि मूल कर्तव्य प्रत्यक्ष रूप से नागरिकों के लिए हैं और नीति-निदेशक सिद्धान्त राज्य के लिए निर्धारित कर्तव्य हैं। यदि इन निदेशों के अनुरूप सरकार कानून बनाती है तो उनका पालन करना भी प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य होगा।

कुछ मूल कर्तव्य ऐसे हैं जो अत्यधिक अस्पष्ट, अनिश्चित तथा काल्पनिक प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए संविधान में कहा गया है कि नागरिक का यह कर्तव्य होगा कि वह "स्वतंत्रता के लिए हमारे *राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रेरित करने वाले उच्च आदर्शों को संजोए रखे और उनका पालन करे, हमारी* सामाजिक संस्कृति की गौरवशाली परम्परा का महत्व समझे और उसका परिरक्षण करे, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करे इत्यादि। इन कर्तव्यों में जिन सिद्धान्तों और अवधारणाओं का उल्लेख किया गया है वह बहुत कुछ व्यक्तिनिष्ठ (Subjective) हैं जिनका अर्थ हर व्यक्ति अपने-अपने ढंग से लगा सकता है।

संविधान में मूल कर्तव्यों को जोड़ने का मनोवैज्ञानिक महत्व अवश्य है। इन सिद्धान्तों का संविधान में उल्लेख कर देने से उनकी पवित्रता और मौलिकता बढ़ गई है। इसका सबसे बड़ा लाभ यह है कि संविधान का अंग होने के कारण इन कर्तव्यों के अनुरूप विधियाँ बनाने में विधानमण्डल को संविधान का बल मिल जाता है। यह कहा जा सकता है कि संविधान में मूल अधिकारों के उल्लेख करने का जो लाभ और महत्व है वही महत्व कर्तव्यों के वर्णन करने का है। जिस तरह नागरिक मूल अधिकारों के नाम पर सरकार से कुछ सुविधाओं की माँग करता है और न्यायालय के माध्यम से सरकार को ऐसे कार्यों के करने से रोकता है जो मूल अधिकारों के विपरीत हैं उसी प्रकार मूल कर्त्तव्यों के माध्यम से राज्य अपने नागरिकों से कुछ दायित्वों का निर्वहन करने के लिए दबाव डाल सकता है और न्यायपालिका की सहायता से उन्हें कार्यान्वित करा सकता है। मूल कर्तव्य संविधान के आदेश (Mandate) हैं जिनको कार्यान्वित कराने की जिम्मेदारी न्यायपालिका की उसी तरह है जैसे कि मूल अधिकारों की।

4.10 सारांश

भारत के संविधान की उद्देशिका में उन सिद्धान्तों और आदर्शों का उल्लेख किया गया है कि जिन पर पूरी सांविधानिक व्यवस्था आधारित है। संविधान की उद्देशिका संविधान का निचोड़ है। अतः संविधान की उद्देशिका का अध्ययन करके सांविधानिक व्यवस्था के विभिन्न आयामों की भलीभाँति समझा जा सकता है। मूल संविधान की उद्देशिका में जन-संप्रभुता, लोकतंत्र, गणतंत्र, स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व, सामाजिक और आर्थिक न्याय, आदि मूल्यवान सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया था। 42वें संशोधन द्वारा प्रस्तावना में 'समाजवाद', 'धर्मनिरपेक्षता' और 'अखण्डता' शब्दों को जोड़ दिया गया है जो संविधान के स्वरूप और लक्ष्य को और अधिक स्पष्ट करते हैं। प्रस्तावना संविधान का अंग है या नहीं, इस पर काफी वाद-विवाद रहा। 1973 में केशवानंद भारती के मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय ने स्पष्ट रूप से यह स्वीकार किया कि उद्देशिका संविधान का अंग है जिसमें संविधान की आधारिक विशेषताएँ उल्लिखित है। अतः संसद संविधान में कोई ऐसा संशोधन नहीं कर सकती जो उद्देशिका में

उल्लिखित किसी सिद्धान्त के प्रतिकूल हो। इस निर्णय के बाद वैधानिक दृष्टि से भी उद्देशिका का महत्व बहुत ज्यादा बढ़ गया है।

भारतीय संविधान ने जनतंत्रीय व्यवस्था के मूल्यों के अनुकूल नागरिकों को कुछ महत्त्वपूर्ण अधिकार दिए हैं जो संविधान के भाग 3 में मूल अधिकारों के रूप में उल्लिखित हैं। इन अधिकारों को विधानमण्डल और कार्यपालिका के अनुचित हस्तक्षेप से बचाने के लिए न्यायपालिका को इनका संरक्षक बनाया गया है। यदि विधानमण्डल कोई ऐसा कानून बनाता है या कार्यपालिका किसी ऐसी नीति का निर्माण करती है जो किसी मूल अधिकार का अतिक्रमण करती है तो न्यायपालिका उसे अवैध घोषित कर सकती है।

1967 में मूल अधिकारों में संशोधन के विषय पर संसद और न्यायपालिका के बीच गंभीर विवाद उत्पन्न हो गया जो लगभग दस वर्षों से अधिक तक चलता रहा। अपने पूर्व निर्णयों के विपरीत गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य के मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय ने पहली बार यह दृष्टिकोण प्रतिपादित किया कि संसद मूल अधिकारों में संशोधन नहीं कर सकती। इस आपत्ति का निराकरण करने के लिए 1971 में संसद ने 24वें संशोधन के द्वारा अनुच्छेद 368 में यह प्रावधानित कर दिया कि संसद मूल अधिकार सहित पूरे संविधान में संशोधन कर सकती है। 1973 के केशवनंद भारती के मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय ने संविधान के मूल ढाँचा सिद्धान्त का प्रतिपादन करके संसद की संशोधन शक्ति को प्रतिबंधित करना चाहा।

उपर्युक्त निर्णय को निष्प्रभावी बनाने के लिए 1976 में 42 वें संशोधन द्वारा अनुच्छेद 368 में यह प्रावधान कर दिया गया कि संविधान में किए गए किसी भी संशोधन को किसी भी न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती। इस संशोधन से संसद ने संविधान के मूल ढाँचा सिद्धान्त को अस्वीकार कर दिया। 1980 में निमर्वा मिल्स केस में न्यायपालिका ने अनुच्छेद 368 में किए गए उपरोक्त संशोधन को असंवैधानिक घोषित कर दिया।

वर्तमान स्थिति यह है कि किसी भी संशोधन को न्यायालय में इस आधार पर चुनौती दी जा सकती है कि उससे संविधान के आधारिक सिद्धान्तों का अतिक्रमण होता है। इस प्रकार मूल अधिकारों की रक्षा करने की शक्ति पुनः न्यायपालिका को मिल गई है।

विगत वर्षों में न्यायपालिका ने मूल अधिकारों विशेषकर अनुच्छेद 20–21 की विस्तृत व्याख्या करके शिक्षा, स्वास्थ्य, पर्यावरण-सुधार आदि को मूल अधिकारों के रूप में मान्यता प्रदान की है। 44वें संशोधन के द्वारा संपत्ति के अधिकार का मूल अधिकार के रूप में अन्त कर दिया गया है ताकि आर्थिक समानता के लक्ष्य को प्राप्त करने मे कोई कठिनाई उत्पन्न न हो। संविधान में 42वें संशोधन के द्वारा मूल कर्तव्यों को जोड़कर नागरिकों को अपने दायित्वों के प्रति और अधिक जागरुक बनाने का प्रयास किया गया है।

4.11 संदर्भ ग्रंथ/उपयोगी पुस्तकें

1. Siwach, J.R.; Dynamics of Indian Government and Politics.
2. Markandan, K.C.; The Preamble
3. Pylee, M.V.; Constitutional Government in India.
4. Morris-Jones, Indian Government and Politics.
5. Ray, S.N., Judicial Review and Fundamental Rights

4.12 संबंधित प्रश्न

दीर्घ-उत्तरीय प्रश्न

1. "संविधान की प्रस्तावना संविधान की आत्मा है।" इस कथन को दृष्टि में रखते हुए भारतीय संविधान की प्रस्तावना का महत्त्व बताइए।
2. संविधान में दिए गए मूल अधिकारों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
3. 'संसद मूल अधिकारों सहित पूरे संविधान में संशोधन कर सकती है किन्तु वह संविधान के मूल ढाँचे को नहीं बदल सकती।' इस दृष्टिकोण में निहित परिणामों की विवेचना कीजिए।
4. संविधान के अनुच्छेद 32 के महत्त्व का परीक्षण कीजिए।
5. भारतीय संविधान में वर्णित मूल कर्त्तव्यों की विवेचना कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. भारतीय संविधान की प्रस्तावना में धर्म-निरपेक्षता के तत्त्वों का रेखांकन कीजिए।
2. स्वतंत्रता के अधिकार पर संविधान द्वारा कौन से प्रतिबंध लगाए गए है?
3. सपत्ति के अधिकार की वर्तमान स्थिति क्या है?
4. क्या मूल अधिकारों का निलम्बन किया जा सकता है? यदि हाँ तो कब?
5. संविधान में मूल कर्त्तव्यों को कब सम्मिलित किया गया?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. भारतीय संविधान की उद्देशिका के अनुसार निम्न में कौन सा क्रम ठीक है?

   (अ) संपूर्ण प्रभुत्व संपन्न, समाजवादी पंथ निरपेक्ष लोकतंत्रात्मक गणराज्य

   (ब) प्रभुत्व संपन्न पंथ निरपेक्ष, समाजवादी, लोकतंत्रात्मक गणराज्य

   (स) लोकतंत्रात्मक, प्रभुत्व संपन्न, समाजवादी पंथ निरपेक्ष गणराज्य

   (द) समाजवादी, पंथ निरपेक्ष, प्रभुत्व संपन्न, लोकतंत्रात्मक गणराज्य

2. संविधान के 42वें संशोधन द्वारा भारतीय संविधान की उद्देशिका में किन शब्दों को जोड़ा गया?

   (अ) समाजवादी एकता, अखण्डता

   (ब) पंथ निरपेक्ष, व्यक्ति की गरिमा, एकता

   (स) समाजवादी, पंथ निरपेक्ष अखण्डता

   (द) समाजवादी पंथ निरपेक्ष एकता

3. भारतीय संविधान द्वारा दिए गए स्वतंत्रता के अधिकार में निम्न में से किसका स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया है?

   (अ) वाक् स्वतंत्रता

   (ब) प्रेस की स्वतंत्रता

(स) धार्मिक स्वतंत्रता

(द) विचार-अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता

4. निम्न में से किस मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने यह दृष्टिकोण प्रतिपादित किया था कि संसद मूल अधिकारों में संशोधन नहीं कर सकती?

(अ) शंकरी प्रसाद बनाम यूनियन आफ इंडिया

(ब) गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य

(स) केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य

(द) उपर्युक्त में से कोई नहीं

5. किस संविधान-संशोधन द्वारा संविधान में मूल कर्त्तव्यों को जोड़ा गया?

(अ) 24वाँ संशोधन

(ब) 25वां संशोधन

(स) 39वाँ संशोधन

(द) 42वां संशोधन

4.13 प्रश्नोत्तर

1. (अ)
2. (स)
3. (ब)
4. (ब)
5. (द)

इकाई–5 राज्य के नीति-निदेशक सिद्धान्त

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य
5.1 प्रस्तावना
5.2 नीति-निदेशक सिद्धान्तों की प्रकृति
5.3 नीति-निदेशक सिद्धान्तों और मूल अधिकारों के बीच अंतर
5.4 नीति-निदेशक सिद्धान्त बाध्यकारी क्यों नहीं?
5.5 नीति-निदेशक सिद्धान्तों और मूल अधिकारों के बीच संबंध
5.6 नीति-निदेशक सिद्धान्तों का वर्गीकरण
5.7 नीति-निदेशक सिद्धान्तों का औचित्य
5.8 नीति-निदेशक सिद्धान्तों का कार्यान्वयन
5.9 नीति-निदेशक सिद्धान्तों का बढ़ता हुआ महत्व
5.10 सारांश
5.11 संदर्भ ग्रंथ/उपयोगी पुस्तकें
5.12 संबंधित प्रश्न
5.13 प्रश्नोत्तर

5.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

- नीति-निदेशक सिद्धान्तों की प्रकृति और स्वरुप का उल्लेख कर सकेंगे,
- मूल अधिकारों और नीति-निदेशक सिद्धान्तों के बीच अन्तर तथा उनके पारस्परिक संबंध पर टिप्पणी कर सकेंगे,
- नीति-निदेशक सिद्धान्तों के कार्यन्वयन का विवरण कर सकेंगे।

5.1 प्रस्तावना

भारतीय संविधान की प्रस्तावना में उल्लिखित कुछ सिद्धान्तों को भाग 3 में नागरिकों के मूल अधिकारों के रूप में अपनाया गया है और कुछ को भाग 4 में राज्य के कर्तव्यों के रूप में सम्मिलित किया गया है। संविधान के यह दोनों भाग एक दूसरे के पूरक हैं। भाग 3 नागरिक-स्वतंत्रताओं की गारंटी देकर राजनीतिक जनतंत्र की स्थापना करता है जबकि भाग 4 का लक्ष्य सामाजिक जनतंत्र को स्थापित करना है। ग्रेनविल आस्टिन के अनुसार राज्य के नीति-निदेशक सिद्धान्तों में सामाजिक क्रान्ति की झलक दिखाई देती है।[1] *(ग्रेनविल आस्टिन; 'दि इंडियन कांस्टिटियूशन–कार्नर स्टोन आफ ए नेशन'; 1966 पृ0 50–51)* सर्वोच्च न्यायालय के पूर्व न्यायाधीश के0एस0 हेगड़े का कहना है कि "संविधान का कोई दूसरा भाग इतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि भाग चार। इसमें तथा तीसरे भाग में

हमारे संविधान का दर्शन निहित है।''[2] *(के0एस0हेगड़े; डायरेक्टिव प्रिंसिपल्स आफ स्टेट पालिसी; 1972 पृ0 69)*

5.2 नीति-निदेशक सिद्धान्तों की प्रकृति

संविधान के भाग 4 में अनुच्छेद 36 से 51 तक देश की आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियों में परिवर्तन लाने के उद्देश्य से कुछ आदर्शों का उल्लेख किया गया है और यह आशा व्यक्त की गई है कि सरकार अपनी नीतियों का निर्माण करते समय यथासंभव इन सिद्धान्तों का पालन करेगी। भाग 4 का प्रारंभिक अनुच्छेद (अनुच्छेद 36) नीति-निदेशक सिद्धान्तों के स्वरूप तथा प्रकृति की व्याख्या करता है। इसमें कहा गया है कि ''इस भाग में दिए उपबंध किसी न्यायालय द्वारा प्रवर्तनीय न होंगे तो भी इनमें दिए गए सिद्धान्त देश के शासन में मूलभूत है और विधि बनाने में इन सिद्धान्तों का प्रयोग करना राज्य का कर्तव्य होगा।''

उपर्युक्त अनुच्छेद में तीन बातें कही गई हैं-

1. नीति-निदेशक सिद्धान्त किसी न्यायालय द्वारा प्रवर्तनीय (Enforceable) न होंगे अर्थात् यदि सरकार उनकी उपेक्षा करती है तो नागरिक उन्हें लागू कराने के लिए न्यायपालिका द्वारा सरकार को बाध्य नहीं कर सकता।

2. यह सिद्धान्त देश के शासन में मूलभूत हैं अर्थात् यह अपेक्षा की जाती है कि सरकार नीतियों का निर्माण करते समय इन सिद्धान्तों को शासन के मूल आधारों के रूप में स्वीकार करेगी।

3. यह राज्य का 'कर्त्तव्य' होगा कि वह कानून बनाते समय इन सिद्धान्तों को लागू करे। 'कर्तव्य' शब्द से इस बात का बोध होता है कि इन सिद्धान्तों का पालन करना पूर्णतया ऐच्छिक नहीं है।

राज्य के नीति-निदेशक सिद्धान्तों में भविष्य के भारत का चित्रण किया गया है। इनका लक्ष्य सामाजिक और आर्थिक न्याय की स्थापना करना है। जैसा कि भाग 4 के शीर्षक से स्पष्ट है, यह सिद्धान्त सरकार का मार्गदर्शन करने वाले सिद्धान्त हैं। इनमें समाज के बहुमुखी विकास के लिए कुछ निर्देश दिए गए हैं, जैसे सामाजिक आर्थिक और राजनैतिक न्याय की स्थापना करना, आर्थिक और सामाजिक, विषमताओं को समाप्त करना, सभी को जीविकोपार्जन के साधन उपलब्ध कराना, स्त्रियों और बच्चों के शोषण को रोकना, निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था करना, उत्पत्ति के साधनों का किसी वर्ग विशेष में केन्द्रित न होने देना इत्यादि। इन सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने की जिम्मेदारी आने वाली सरकारों पर छोड़ दी गई है।

5.3 नीति-निदेशक सिद्धान्तों और मूल अधिकारों के बीच अन्तर

इन दोनों के बीच मौलिक अन्तर यह है कि मूल अधिकार न्याय योग्य हैं जबकि नीति-निदेशक सिद्धान्तों न्याय-योग्य नहीं है। इसका अर्थ यह है कि यदि विधानमण्डल कोई ऐसा कानून बनाता है या कार्यकारिणी कोई ऐसी नीति बनाती है या आदेश देती है जो किसी मूल अधिकार के विपरीत है तो नागरिक उसके खिलाफ न्यायालय में आवाज उठा सकता है और न्यायालय उस कानून या कार्यकारिणी-आदेश को अवैध घोषित करके उसे लागू होने से रोक सकता है। दूसरे शब्दों में मूल अधिकारों के पीछे न्यायपालिका की शक्ति है जबकि नीति निदेशक सिद्धान्तों को लागू करने के लिए

सरकार को बाध्य नहीं किया जा सकता।

एलन ग्लेडहिल के अनुसार 'मौलिक अधिकार राज्य के लिए कुछ निषेध आज्ञाएँ हैं। इनके द्वारा राज्य को यह आदेश दिया गया है कि उसे लोगों के इन अधिकारों में अनुचित हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। राज्य के नीति-निदेशक सिद्धान्त इसके विरुद्ध यह बतलाते हैं कि राज्यं को क्या करना चाहिए।[1] *(एलन ग्लेडहिल; दि रिपब्लिक आफ इंडिया, 1951; पृ0 161)*

2. मौलिक अधिकार सरकार पर कुछ प्रतिबंध लगाते हैं जबकि नीति-निदेशक सिद्धान्त राज्य को कुछ निश्चित कार्यों को करने का आदेश देते हैं अर्थात् राज्य के संदर्भ में मूल अधिकारों का स्वरूप नकारात्मक है जबकि नीति-निदेशक सिद्धान्त सकारात्मक हैं।

3. मौलिक अधिकार राजनैतिक जनतंत्र की स्थापना करते हैं जबकि नीति-निदेशक सिद्धान्तों का लक्ष्य आर्थिक जनतंत्र की स्थापना करना तथा एक ऐसे समाज का निर्माण करना है जो सामाजिक और आर्थिक न्याय पर आधारित हो।

4. मौलिक अधिकार उसी तिथि से अस्तित्व में आ गए जब से संविधान लागू हुआ किन्तु नीति-निदेशक सिद्धान्तों का कार्यान्वयन समय और परिस्थितियों के अनुसार धीरे-धीरे ही संभव है। वास्तव में यह सिद्धान्त सामाजिक परिवर्तन की एक निरन्तर एवं दीर्घकालिक योजना है जिसे केंद्र और राज्य सरकारें अपने संसाधनों के अनुसार लागू करेंगी।

5. नीति-निदेशक सिद्धान्त वैधानिक दृष्टि से **बाध्यकारी** हैं जबकि नीति-निदेशक सिद्धान्तों के पीछे नैतिक शक्ति अथवा जनमत है।

सर्वोच्च न्यायालय के पूर्व न्यायाधीश के0एस0हेगड़े के अनुसार नीति-निदेशक सिद्धान्त न्याययोग्य न होते हुए भी संविधान के आदेश हैं जिनका पालन करना प्रत्येक सरकार का 'कर्त्तव्य' घोषित किया गया है अतः इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती और यह सरकार का सांविधानिक दायित्व है कि वह नीतियों का निर्माण करते समय यथासंभव इन सिद्धान्तों का पालन करे।[1]

5.4 निदेशक सिद्धान्त बाध्यकारी क्यों नहीं?

प्रश्न यह है कि यदि संविधान बनाने वाले नीति-निदेशक सिद्धान्तों के प्रति इतना गंभीर थे तो उन्होने इन सिद्धान्तों को न्याय योग्य क्यों नहीं बनाया? इसके कई कारण थे। इन सिद्धान्तों में समाज के आर्थिक, शैक्षिक और नैतिक विकास की विस्तृत रूपरेखा प्रस्तुत की गई है जिसके अनुसार धीरे-धीरे ही परिवर्तन लाया जा सकता है। उदाहरण के लिए आर्थिक समानता दो-चार दिन में स्थापित नहीं की जा सकती, उत्पादन के साधनों के केन्द्रीकरण को एक दिन में नहीं रोका जा सकता; सामाजिक न्याय जैसे मूल आदर्श को एक दिन में साकार नहीं किया जा सकता। इन सारे परिवर्तनों के लिए समुचित समय और पर्याप्त संसाधनों की आवश्यकता होगी। यदि इन सिद्धान्तों को न्याययोग्य बना दिया जाता तो जिस दिन संविधान लागू हुआ था उसी दिन से जनता न्यायालय में बहुत जाती और इन सिद्धान्तों को लागू करने की माँग करती। इसलिए व्यावहारिक रूप से यह संभव ही नहीं था कि नीति-निदेशक सिद्धान्तों को न्याययोग्य बनाया जाता। दूसरी समस्या यह थी कि यदि किसी कारण राज्य इन सिद्धान्तों का पालन नहीं करता तो राज्य के विरुद्ध कैसे कार्रवाई की जाती। संविधान निर्मात्री सभा के एक सदस्य ए0एम0आयंगर ने इस संबंध में यह उदाहरण दिया था कि मान लीजिए कि अनुच्छेद 45* के द्वारा निर्धारित इस सिद्धान्त को राज्य पूरा करने में असमर्थ रहता है कि दस वर्षों के अन्तर्गत राज्य अनिवार्य तथा निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था करेगा[1] तो नागरिक न्यायालय में किसके खिलाफ मुकदमा करेगा। यदि यह मान भी लिया जाए कि कोई न्यायालय सरकार के खिलाफ डिग्री दे भी देता

तो उसको कार्यान्वित किसके विरुद्ध और किस संस्था द्वारा **किया** जाएगा। **क्या उच्च** न्यायालय अथवा सर्वोच्च न्यायालय स्वयं इसको लागू कर सकता है? क्या न्यायालय सारे मंत्रियों को हटाकर नए मंत्रियों को नियुक्त कर सकता है? इन सभी प्रश्नों का उत्तर 'नहीं' में होगा। इन्हीं व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण संविधान-निर्माता इन सिद्धान्तों को न्याययोग्य नहीं बना सकते थे।

एक अन्य समस्या संसाधनों की हो सकती है। यदि न्यायालय को यह अधिकार दे भी दिया जाए कि वह सरकार को किसी नीति-निदेशक सिद्धान्त के अनुसार कानून या नीति बनाने के लिए आदेश दे सकता है तो भी सरकार उसका कार्यान्वयन उस समय तक कर ही नहीं सकती जब तक कि उसके लिए आवश्यक धन तथा साधन उपलब्ध न हों। इसीलिए संविधान में अनुच्छेद 45 *(दस वर्षों के अन्दर अनिवार्य तथा निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था (यह मूल संविधान का प्रावधान था। 2002 में शिक्षा का अधिकार (अनुच्छेद 21क) मूल अधिकार बन जाने के बाद यह प्रावधान संशोधित हो गया है))* के अतिरिक्त किसी अन्य सिद्धान्त को लागू करने की अवधि भी निश्चित नहीं की गई थी। यही नहीं, जिस कार्य के लिए (अनिवार्य तथा निःशुल्क शिक्षा) अवधि निर्धारित की गई थी सरकार इस लक्ष्य को पूरा नहीं कर पाई।

*मूल संविधान का यह प्राविधान 86वें संशोधन द्वारा बदल दिया गया है।

इस सम्बन्ध में एक कठिनाई यह भी थी कि बहुत से नीति-निदेशक सिद्धान्त ऐसे हैं जिनका सम्बन्ध राज्य सूची में दिए गए विषयों से है और उनका कार्यान्वयन राज्यों के क्षेत्राधिकार में आता है। राज्य सरकारों की अपनी सीमाएँ, कठिनाइयाँ और प्राथमिकताएँ हो सकती हैं। अतः इन सिद्धान्तों को न्यायिक-बाध्यता देने से राज्यों की स्वायत्तता को आघात पहुंच सकता था।

उपर्युक्त कारणों से नीति-निदेशक सिद्धान्तों को बाध्यकारी नहीं बनाया जा सकता था लेकिन संविधान-निर्मात्री सभा के सदस्य इन सिद्धान्तों के अनुरूप भारत का निर्माण करना चाहते थे और उनका यह स्पष्ट मन्तव्य था कि भावी सरकारें अपनी नीतियों का निर्माण इन्हीं सिद्धान्तों के अनुसार करें। इसी तथ्य को स्पष्ट करने के लिए अनुच्छेद 37 में 'कर्तव्य' शब्द का प्रयोग किया गया है। चूंकि प्रत्येक कर्तव्य किसी न किसी अधिकार को जन्म देता है इसलिए इन सिद्धान्तों के रूप में निर्धारित किए गए कर्तव्यों से नागरिकों को स्वाभाविक रूप से कुछ सुविधाएँ तथा अधिकार प्राप्त होते हैं। इसीलिए पंडित जवाहर लाल नेहरू ने कहा था कि मूल अधिकार और नीति-निदेशक सिद्धान्त दोनों ही अधिकार हैं।[1] *(लोकसभा डिबेट्स पार्ट II, 16 मई 1951 कालम 8820)*

5.5 नीति-निदेशक सिद्धान्तों और मूल अधिकारों के बीच संबंध

मूल अधिकार तथा नीति-निदेशक सिद्धान्तों के पारस्पारिक संबंधों के विषय में संविधान में कोई स्पष्ट प्रावधान नहीं है। संविधान द्वारा मूल अधिकारों को न्याययोग्य घोषित करके उन्हें नीति-निदेशक सिद्धान्तों से उच्च स्थान प्रदान किया गया है किन्तु संविधान-निर्माताओं ने इन दोनों के बीच किसी प्रकार के टकराव की कल्पना नहीं की थी। उनकी दृष्टि में संविधान के यह दोनों भाग एक दूसरे के पूरक थे। किन्तु संविधान लागू होने के बाद मूल अधिकारों और नीति निदेशक सिद्धान्तों के पारस्परिव संबंध के प्रश्न ने एक सांविधानिक समस्या का रूप धारण कर लिया और इसके निराकरण के लिए समय-समय पर न्यायपालिका की सहायता ली गई।

मूल अधिकारों और नीति-निदेशक सिद्धान्तों में किसे वरीयता दी जाना चाहिए। इस संबंध में न्यायपालिका का दृष्टिकोण परिवर्तित होता रहा है। 1951 में मद्रास राज्य बनाम चम्पाकम दोराइराजन

के मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय ने यह कहा कि "नीति-निदेशक सिद्धान्त जिन्हें अनुच्छेद 37 ने स्पष्ट रूप से न्यायालय द्वारा अप्रवर्तनीय घोषित किया है, भाग 3 में दिए गए उपबन्धों पर अभिभावी (override) नहीं हो सकते जिन्हें अनुच्छेद 32 के अन्तर्गत अनेक प्रलेखों (रिट) द्वारा प्रवर्तनीय बनाया गया है। मूल अधिकारों से संबंधित अध्याय पवित्रतम अध्याय है...नीति-निदेशक सिद्धान्त मूल अधिकारों के अनुरूप और उनके सहायक के रूप में रहेंगे। हमारे विचार में भाग 3 और 4 के उन बंधों को इसी दृष्टिकोण से समझना चाहिए। किन्तु यदि किसी मूल अधिकार का अतिक्रमण नहीं हुआ है तो राज्य उस सीमा तक नीति-निदेशक सिद्धान्तों को कार्यान्वित कर सकता है।[1]" *(ए0आई0आर0 1951 एस0सी0 226)*

संविधान-निर्मात्री सभा के इस दावे के बावजूद कि मूल अधिकार और नीति-निदेशक सिद्धान्तों के बीच कोई विरोधाभास नहीं है और दोनों एक दूसरे के पूरक हैं, प्रारम्भ से ही इन दोनों के बीच टकराव की स्थिति उत्पन्न होती रही। जब भी विधानमण्डल ने आर्थिक समानता या सामाजिक न्याय के लक्ष्यों को पूरा करने के लिए कोई कानून बनाया, मूल अधिकार का अतिक्रमण करने के आधार पर उसे न्यायपालिका में चुनौती दी गई। जमींदारी उन्मूलन अधिनियम या सामाजिक दृष्टि से पिछड़े वर्गों के उत्थान के लिए आरक्षण, बैंकों का राष्ट्रीयकरण जैसे कानूनों को इस आधार पर चुनौती दी गई कि इनसे मूल अधिकारों (संपत्ति का अधिकार अथवा समानता का अधिकार) का हनन होता है। इन सभी मामलों में सर्वोच्च न्यायालय ने यह कहा कि नीति-निदेशक सिद्धान्तों को लागू करने के लिए मूल अधिकारों का अतिक्रमण नहीं किया जा सकता। फलस्वरूप इन कानूनों को असंवैधानिक घोषित किया गया।

संविधान लागू होने के बाद से 1967 तक मूल अधिकारों और नीति-निदेशक सिद्धान्तों को लेकर विधानमण्डल और न्यायपालिका के बीच टकराव की कोई स्थिति उत्पन्न नहीं हुई। कारण यह था कि जब भी न्यायपालिका ने किसी कानून को मूल अधिकारों के प्रतिकूल होने के कारण निरस्त किया, विधानमण्डल ने उसका विरोध करने के बजाए स्वयं मूल अधिकारों को ही इस तरह संशोधित कर दिया कि न्यायपालिका द्वारा की गई आपत्ति का निराकरण हो जाए। विधानमण्डल और न्यायपालिका के बीच इसी कारण सौहार्द बना रहा कि न्यायपालिका कानूनों को निरस्त करती रही और विधानमण्डल मूल अधिकारों को संशोधित करता रहा। इस प्रकार न्यायपालिका ने यह नहीं कहा कि संसद मूल अधिकारों में संशोधन नहीं कर सकती। फिर भी न्यायपालिका ने सदैव मूल अधिकारों को ही सर्वोच्च माना और नीति-निदेशक सिद्धान्तों को उस सीमा तक ही मान्यता दी जहाँ तक वह मूल अधिकारों के पूरक या सहायक हों, उनका अतिक्रमण न करते हों। संविधान बनाने वालों का भी यही मन्तव्य और दृष्टिकोण था जिसकी पुष्टि न्यायपालिका करती रही।

1967 में गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य के मुकदमें में सर्वोच्च न्यायालय ने पहली बार यह दृष्टिकोण प्रतिपादित किया कि संसद मूल अधिकारों में संशोधन नहीं कर सकती। इस निर्णय से संसद और न्यायपालिका के बीच टकराव प्रारंभ हो गया। उपरोक्त निर्णय में मुख्य न्यायाधीश सुब्बाराव ने कहा कि मूल अधिकारों और नीति-निदेशक सिद्धान्तों के बीच विरोध पैदा ही नहीं हो सकता और मूल अधिकारों को सीमित किए बगैर नीति-निदेशक सिद्धान्तों को कार्यान्वित किया जा सकता है। उन्होंने कहा कि "हमारे संविधान के मूल अधिकारों को अनुभवातीत स्थिति प्रदान की गई है और उन्हें संसद की पहुँच से बाहर रखा गया है, साथ ही भाग 3 और 4 समन्वित रूप से एक सत्पूर्ण संहिता का निर्माण करते हैं। यह योजना इतनी लचीली है कि मूल अधिकारों को छीने या सीमित किए बगैर नीति-निदेशक सिद्धान्तों को न्यायसंगत रूप से लागू किया जा सकता है।"[1] *(Cited in Fundamental Rights and Constitutional Amendment, Surendra Malik p. 56.)*

न्यायपालिका ने लगभग यही दृष्टिकोण 1970 में चंद्र भवन बोर्डिंग एण्ड लाजिंग, बंगलौर बनाम मैसूर

राज्य के मामले में अपनाया। सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि "जबकि भाग 3 के अधीन दिए गए अधिकार मौलिक हैं, भाग 4 द्वारा दिए गए निर्देश देश के शासन संचालन के संबंध में मौलिक हैं। हम भाग 3 और भाग 4 के उपबंधों में कोई विरोध नहीं पाते। वे एक दूसरे के पूरक तथा अनुरूप हैं।[1] *(हेगड़े; डायरेक्टिव प्रिंसपुल्स आप स्टेट पालिसीं, पृ0 78)*

1969 और 1970 के बीच कुच ऐसी घटनाएं हुई जिन्होंने मूल अधिकारों और नीति-निदेशक सिद्धान्तों के पारस्परिक संबंधों को बहुत ज्यादा विवादस्पद बना दिया। 1969 में 18 बैंकों के राष्ट्रीयकरण करने और 1970 में भूतपूर्व देशी रियासतों के नरेशों को मिल रहे प्रिवी पर्सेज को समाप्त करने के अध्यादेश जारी किए गए। इन दोनों अध्यादेशों को सर्वोच्च न्यायालय ने संपत्ति के मूल अधिकार के विपरीत होने के कारण असंवैधानिक घोषित कर दिया। केन्द्र में सत्तारूढ़ कांग्रेस सरकार ने न्यायपालिका पर यह आरोप लगाया कि वह नीति-निदेशक सिद्धान्तों में चित्रित सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन लाने में बाधा उत्पन्न कर रही है। यह कहा गया कि देश में समाजवाद लाने और आर्थिक विषमताओं को समाप्त करने के लिए मूल अधिकारों को आवश्यकतानुसार संशोधित करने का अधिकार संसद को होना चाहिए। दूसरे शब्दों में सामाजिक हित में व्यक्तिगत मूल अधिकारों को प्रतिबंधित किया जा सकता है। यह उल्लेखनीय है कि 16 मई 1951 को संविधान के प्रथम संशोधन के प्रस्ताव पर लोकसभा में बोलते हुए तत्कालीन प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू ने यह कहा था कि यदि मूल अधिकारों और राज्य के नीति-निदेशक सिद्धान्तों के बीच कोई टकराव उत्पन्न हो तो नीति-निदेशक सिद्धान्तों को प्रधानता मिलनी चाहिए। नेहरू का विचार था कि मूल अधिकार स्थिर हैं जबकि नीति-निदेशक सिद्धान्तों में गतिशीलता पाई जाती है।[2]" *(लोक सभा डिबेट्स पार्ट II मई 16, 1951 कालम 8820)*

नेहरू के उपर्युक्त विचारों की प्रतिध्वनि श्रीमती गाँधी के भाषणों में भी सुनाई दी और 1971 में लोकसभा के मध्यावधि चुनाव में "गरीबी हटाओ और समाजवाद लाओ" प्रमुख चुनावी मुद्दा बन गया।

1971 के चुनाव में श्रीमती गाँधी भारी बहुमत से विजयी हुईं और उसके तुरन्त बाद संविधान में संशोधन करके नीति-निदेशक सिद्धान्तों की सर्वोच्चता को स्थापित करने का सिलसिला शुरू हुआ।

संविधान के 25वें संशोधन द्वारा अनुच्छेद 31 (संपत्ति का अधिकार) में एक नई धारा 31 सी जोड़ दी गई जिसमें यह प्रावधान किया गया कि कोई भी कानून जो अनुच्छेद 39बी तथा 39सी द्वारा निर्धारित नीति-निदेशक सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने के लिए बनाया गया हो, उसकी संवैधानिकता को इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती कि वह कानून अनुच्छेद 14, 19 और 31 के द्वारा दिए गए मूल अधिकारों के विरुद्ध है। इस संशोधन द्वारा यह भी व्यवस्था की गई कि यदि सरकार किसी कानून के लिए यह घोषणा करती है कि उक्त कानून अनुच्छेद 39बी तथा 39 सी के उद्देश्यों को पूरा करने के लिए बनाया गया है तो उसे किसी भी न्यायालय में इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकेगी कि अमुक कानून अनुच्छेद 39बी, सी के प्रयोजनों को पूरा करने के लिए आवश्यक नहीं है या उसके लिए नहीं बनाया गया है। इस प्रकार संविधान के 25वें संशोधन द्वारा पहली बार एक नीति-निदेशक सिद्धान्त (39बी0, सी0) को मूल अधिकारों से सर्वोच्च स्थिति प्रदान कर दी गई। व्यावहारिक रूप से इस संशोधन के द्वारा संसद को अनुच्छेद 39बी सी के नाम पर समस्त मूल अधिकारों को प्रतिबंधित करने का अधिकार मिल गया।

केशवानंद भारती के मामले में संविधान के 25वें संशोधन की वैधता को भी चुनौती दी गई। न्यायालय ने उक्त संशोधन को संवैधानिक ठहराया किन्तु अनुच्छेद 31 सी के अन्तिम भाग को असंवैधानिक घोषित कर दिया जिसमें यह प्रावधान किया गया था कि संसद द्वारा की गई यह घोषणा के अमुक कानून अनुच्छेद 39 बी, सी के नीति-निदेशक सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने के लिए बनाया गया है

उसे न्यायालय में चुनौती न दी जा सकेगी। इस निर्णय के फलस्वरूप अनुच्छेद 39बी, सी को कार्यान्वित करने के उद्देश्य से बनाए गए कानून पुनः न्यायिक पुनरावलोकन की परिधि में आ गए।

उपर्युक्त निर्णय के प्रतिक्रिया स्वरूप संसद ने 1976 में 42वें संशोधन के द्वारा मूल अधिकारों पर समस्त नीति-निदेशक सिद्धान्तों की प्रधानता स्थापित कर दी। इस संशोधन के द्वारा अनुच्छेद 31 सी में परिवर्तन करके यह व्यवस्था कर दी गई कि भाग 4 में उल्लिखित सभी या किन्हीं सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने के लिए बनाए गए किसी कानून को इस आधार पर चुनौती न दी जा सकेगी कि वह मूल अधिकारों के प्रतिकूल है। यह उल्लेखनीय है कि 25वें संशोधन ने केवल एक नीति-निदेशक सिद्धान्त (39बी, सी) को मूल अधिकारों पर प्रमुखता प्रदान की थी किन्तु 42वें संशोधन ने समस्त नीति-निदेशक सिद्धानतों को मूल अधिकारों से सर्वोच्च बना दिया। इस संशोधन के बाद मूल अधिकार पूरी तरह नीति-निदेशक सिद्धान्तों के आधीन हो गए।

1980 में मिनरवा मिल्स के मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय ने एक बार फिर नीति-निदेशक सिद्धान्तों के मुकाबले में मूल अधिकारों की सर्वोच्चता को पुनर्जीवित कर दिया। इस निर्णय में सर्वोच्च न्यायालय ने 42वें संशोधन के उस प्रावधान को असंवैधानिक घोषित कर दिया जिसके द्वारा समस्त नीति-निदेशक सिद्धान्तों की मूल अधिकारों पर प्रधानता स्थापित की गई थी।

वर्तमान स्थिति यह है कि केवल एक नीति-निदेशक सिद्धान्त (अनुच्छेद 39 बी, सी) मूल अधिकारों से सर्वोच्च है, शेष नीति-निदेशक सिद्धान्त पहले की ही भांति मूल अधिकारों के आधीन हैं या उनके मुकाबले में अधीनस्थ स्थिति रखते हैं।

यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि संविधान के 44वें संविधान के द्वारा संपत्ति के मूल अधिकार का अन्त कर देने के बाद अनुच्चेद 39 ज्यादा विस्तृत एवं प्रभावी हो गया है किन्तु संसद अब भी अपनी शक्ति का दुरुपयोग नहीं कर सकती। कारण यह है कि अनुच्छेद 39 बी, सी को कार्यान्वित करने के मामले में भी संसद की शक्ति सीमित हैं। मिनर्वा मिल्स के मामले में दिए गए निर्णय के अनुसार इस अनुच्छेद के प्रयोजनों को पूरा करने के लिए बनाए गए किसी भी कानून को न्यायालय में इस आधार पर चुनौती दी जा सकती है कि वह कानून अनुच्चेद 39 बी, सी के उद्देश्यों को नहीं पूरा करता या उसके लिए अनावश्यक है। अतः इस मामले में भी न्ययपालिका का निर्णय ही अन्तिम होगा और संसद अनुच्छेद 39बी, सी के सहारे अनावश्यक रूप से नागरिकों के मूल अधिकारों का अतिक्रमण न कर सकेगी।

5.6 नीति-निदेशक सिद्धान्तों का वर्गीकरण

संविधान के भाग 4 में जिन नीति-निदेशक सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है, अध्ययन की सुविधा के लिए उन्हें निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है–

समाजवादी सिद्धान्त

नीति-निदेशक सिद्धान्तों का उद्देश्य कल्याणकारी राज्य की स्थापना करना है, ऐसा राज्य जो व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यक परिस्थितियों का सृजन कर सके। इसीलिए नीति-निदेशक सिद्धान्तों में कुछ ऐसे सिद्धान्त भी हैं जो समाजवादी दर्शन पर आधारित हैं। अनुच्छेद 38 में कहा गया है कि 'राज्य ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना के लिए प्रयत्न करेगा जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को अनुप्राणित करे।' संविधान के 44वें संशोधन द्वारा अनुच्छेद 38 में एक नई धारा (38–2) जोड़कर यह निदेश दिया गया है कि "राज्य विशेष रूप से आय की असमानताओं को कम करने का प्रयास करेगा और न केवल व्यक्तियों के

बीच बल्कि विभिन्न क्षेत्रों में रहने वाले और विभिन्न व्यवसायों में लगे हुए लोगों के समूहों के बीच भी प्रतिष्ठा, सुविधाओं और अवसरों की असमानता को समाप्त करने का प्रयत्न करेगा।''

अनुच्छेद 39 में कहा गया है कि राज्य ऐसी नीति का निर्माण करेगा जिसमें

1. समान रूप से स्त्री और पुरुष सभी नागरिकों को जीविकोपार्जन के साधन प्राप्त हो सकें।

2. समाज के भौतिक साधनों का स्वामित्व और निमंत्रण का समुचित वितरण सामाजिक कल्याण के अनुरूप हो।

3. धन के केन्द्रीकरण को रोका जाए।

4. पुरुषों और स्त्रियों को समान कार्य के लिए समान वेतन मिले।

5. ऐसी औद्योगिक नीति बनाई जाए जिसमें शोषण न हो, स्त्रियों और बच्चों की सुकुमारावस्था का दुरुपयोग न हो, उनसे उनकी आयु के प्रतिकूल काम न लिया जाए।

6. बच्चों और युवकों की शोषण से तथा भौतिक और नैतिक परित्याग से रक्षा की जाए।[1] *(संविधान के 42वें संशोधन द्वारा जोड़ा गया अनुच्छेद 39 एफ)*

7. अनुच्छेद 39ए के अनुसार, समान न्याय और कमजोर वर्गों के लिए निःशुल्क कानूनी सहायता देने की व्यवस्था की जाए। *(संविधान के 42वें संशोधन द्वारा जोड़ा गया अनुच्छेद 39ए0)*

अनुच्छेद 41 में नागरिकों को काम पाने, शिक्षा पाने और बेकारी, बुढ़ापे तथा बीमारी आदि में राज्य द्वारा लोक सहायता देने का प्रावधान किया गया है।

अनुच्छेद 42 में महिलाओं के लिए प्रसूति सहायता तथा मजदूरों के लिए काम की उचित परिस्थिति के निर्माण के लिए कहा गया है।

अनुच्छेद 43 में कहा है कि राज्य श्रमिकों का काम, निर्वाह, मजदूरी, शिष्ट जीवन-स्तर तथा अवकाश का संपूर्ण उपयोग, सुनिश्चित करने वाली काम की दशाएँ तथा सामाजिक और सांस्कृतिक अवसर प्राप्त कराने का प्रयास करेगा, विशेष रूप से ग्रामों में कुटीर उद्यगों को वैयक्तिक अथवा सहकारी आधार पर बढ़ाने का प्रयास करेगा। अनुच्छेद 43 (ए0) *(संविधान के 42वें संशोधन द्वारा जोड़ा गया।)* के अनुसार ''राज्य उपयुक्त कानून द्वारा या अन्य प्रकार से औद्योगिक संस्थाओं में प्रबन्ध के कर्मचारियों को भागीदार बनाने के लिए कदम उठाएगा।

अनुच्छेद 47 नागरिकों के पोषाहार स्तर और जीवन स्तर को ऊँचा करने तथा लोक स्वास्थ्य को सुधारने और मादक वस्तुओं पर प्रतिबंध लगाने का निदेश देता है।

गाँधीवादी सिद्धान्त

नीति-निदेशक सिद्धान्तों के कुछ ऐसे सिद्धान्तों का भी उल्लेख पाया जाता है जो महात्मा गाँधी के विचारों तथा दर्शन की अभिव्यक्ति करते हैं।

गाँधी जी के ग्राम स्वराज्य के सपने को साकार करने के लिए अनुच्छेद 40 में पंचायतों को संगठित करने की बात कही गई थी।[2] *(संविधान के 73वें संशोधन द्वारा पंचायतीराज व्यवस्था को संविधान भाग 9 में सम्मिलित कर लिया गया है।)*

अनुसूचित जातियों, **अनुसूचित जनजातियों और अन्य दुर्बल वर्गों की शिक्षा और आर्थिक सहायता**

करने का निर्देश अनुच्छेद 46 में पाया जाता है।

कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहित करने (अनुच्छेद 43) मादक द्रव्यों के प्रयोग का निषेध (अनुच्छेद 47) तथा गौरक्षा तथा कृषि का वैज्ञानिकरण (अनुच्छेद 48) करने, प्राकृतिक वातावरण को सुधारने, वनों और वन जीवों को सुरक्षित करने (अनुच्छेद 48 (ए0)[1] *(संविधान के 42वें संशोधन द्वारा जोड़ा गया।)* की अपेक्षा भी राज्य से की गई है। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की अभिवृद्धि का निदेश अनुच्छेद 51 में दिया गया है।

सामान्य सिद्धान्त

अनुच्छेद 44 के अनुसार राज्य पूरे भारत में समान व्यवहार संहिता बनाने का प्रयास करेगा।

शैशव पूर्व देखभाल तथा छह वर्ष से नीचे के बालकों की शिक्षा के लिए व्यवस्था करने का निदेश अनुच्छेद 45 में दिया गया है।

संसद द्वारा घोषित राष्ट्रीय महत्व के स्मारकों, वस्तुओं को दूषित होने, स्थानान्तरिक किए जाने तथा बाहर जाने से रोकने और उनकी रक्षा करने के निर्देश अनुच्छेद 49 में दिए गए हैं।

कार्यपालिका और न्यायपालिका को एक दूसरे से पृथक करने (अनुच्छेद 50) तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के लिए राज्यों के मध्य सम्मानपूर्ण संबंधों तथा अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को मध्यस्था द्वारा निपटाने (अनुच्छेद 51) के लिए प्रयत्न करने हेतु **राज्य को निर्देश** दिए गए हैं।

5.7 नीति-निदेशक सिद्धान्तों का औचित्य

संविधान-निर्मात्री सभा में और संविधान लागू होने के बाद भी इस बात पर बड़ा वाद-विवाद रहा कि जब नीति-निदेशक सिद्धान्त न्याययोग्य नहीं है तो फिर संविधान में उनके उल्लेख करने का क्या लाभ है। संविधान-निर्मात्री सभा के कुछ सदस्यों ने इन सिद्धान्तों का संविधान में उल्लेख किए जाने का विरोध करते हुए इन्हें 'नववर्ष की शुभ कामनाएँ; नैतिक उपदेश; चुनावी घोषणा-पत्र आदि कहकर संबोधित किया था। संविधान-निर्मात्री सभा के एक सदस्य ने कहा था कि बिना बाधक शक्ति के नीति-निदेशक सिद्धान्त पवित्र अधिकार मात्र होंगे। उन्होंने कहा कि यह सिद्धान्त इतने जाने-बूझे हैं कि इनके संशोधन में लिखने की आवश्यकता ही नहीं। उन्होंने व्यंग करते हुए कहा कि यदि इन सिद्धान्तों का उल्लेख संविधान में किया जा रहा है तो ऐसे ही कुछ और सिद्धान्त हैं जिनका उल्लेख भी संविधान में कर दिया जाना चाहिए, जैसे, झूठ न बोलना, अपने पड़ोसियों के साथ दुर्व्यवहार न करना इत्यादि।

नीति-निदेशक सिद्धान्तों के संविधान में उल्लेख करने के विरुद्ध सबसे बड़ी आपत्ति यह उठाई गई कि जब इन सिद्धान्तों के अनुसार नीतियों का निर्माण करना सरकार की इच्छा और सुविधा पर निर्भर करता है तो संविधान में इनका उल्लेख करने की आवश्यकता **ही नहीं थी।** इन सिद्धान्तों में आर्थिक विकास और सामाजिक न्याय के लिए जो निदेश दिए गए हैं उनमें से अधिकांश का पालन सभी जनतंत्रीय और कल्याणकारी राज्यों में किया जाता है यद्यपि उन देशों के संविधानों में **इनका उल्लेख** नहीं है। अगर यह सिद्धान्त हमारे संविधान में न लिखे गए होते तो भी सरकार इसी प्रकार की कल्याणकारी नीतियों का निर्माण करती।

आइवर जेनिंग्स ने नीति-निदेशक सिद्धान्तों की आलोचना करते हुए लिखा है कि "नीति-निदेशक सिद्धान्त निश्चित तथा तर्कसंगत दर्शन पर आधारित नहीं है, वे अस्पष्ट हैं, **उन्हें न तो उचित रूप से** क्रमबद्ध किया गया है और न तार्किक ढंग से वर्गीकृत किया गया है। **एक ही बात को बार-बार**

दोहराया गया है। स्मारकों के संरक्षण जैसी मामूली बात को अत्यधिक महत्वपूर्ण सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों से मिलाकर उलझाव पैदा कर दिया गया है।"[1] *(Sir Ivor Jennings; some characteristics of the Indian Constitution; 1953, p. 8.)*

संविधान में नीति-निदेशक सिद्धान्तों का उल्लेख करने के पक्ष में यह तर्क दिया गया कि यद्यपि इन सिद्धान्तों के पीछे न्यायिक बल नहीं है तथापि इनके पीछे जनमत और नैतिकता की शक्ति विद्यमान है। यदि कोई सरकार इन सिद्धान्तों का निरादर करेगी तो अगले चुनाव में जनता उस सरकार को हटा देगी। यह कहा जाता है कि नीति-निदेशक सिद्धान्त इंग्लैंड की सांविधानिक परम्पराओं के समान हैं जिनके पीछे कोई वैधानिक बल नहीं है फिर भी उनका पालन विधियों के समान ही किया जाता है। नीति-निदेशक सिद्धान्त मूल अधिकार से भी ज्यादा मौलिक हैं क्योंकि इनमें निहित सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय के आदर्श मूल अधिकारों से कम महत्वपूर्ण और लाभकारी नहीं हैं। अलादि कृष्ण स्वामी ने कहा था कि "कोई भी लोकप्रिय मंत्रिमण्डल संविधान के चतुर्थ भाग का उल्लंघन करने का दुस्साहस नहीं करेगा। संविधान का कोई भी आदेश चाहे वह न्याययोग्य न भी हो, सरकार के सभी अंगों के लिए कम प्रतिबंधक नहीं होता। यदि राज्य उन आदेशों की उपेक्षा करता है तो व्यावहारिक रूप से यह स्वयं संविधान की उपेक्षा करने के समान होगा।" *(हेगड़े के०एस०; डायरेक्टिव प्रिंसिपल्स आफ स्टेट पालिसी; पृ० 49)*

5.8 नीति-निदेशक सिद्धान्तों का कार्यान्वयन

विगत पाँच दशकों में भारत सरकार तथा राज्य विधानमण्डलों ने सामान्य रूप से अपनी नीतियों का निर्माण करते समय नीति-निदेशक सिद्धान्तों का अनुसरण किया है। विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में भी इस बात का उल्लेख किया गया है कि इन योजनाओं का उद्देश्य नीति-निदेशक सिद्धान्तों के अनुरूप सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था को स्थापित करना है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में समाजवादी ढंग के समाज की स्थापना करने की घोषणा की गई थी। इसमें संदेह नहीं कि इन योजनाओं के माध्यम से संरकार ने जीवन स्तर को ऊँचा उठाने, प्रति व्यक्ति आय बढ़ाने, आर्थिक विषमताओं को कम करने, नैतिक विकास में सहायता देनें, सामाजिक और आर्थिक शोषण को रोकने, संक्षेप में एक कल्याणकारी राज्य की स्थापना के लिए निरन्तर प्रयास किया है। केन्द्र तथा राज्य सरकारों द्वारा बेरोजगारी और गरीबी दूर करने; शिक्षा की समुचित व्यवस्था करने; श्रमिकों की स्थिति में सुधार लाने, सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार करने, कृषि-क्षेत्र में सुधार लाने, गृह उद्योगों को बढ़ावा देने, समाज के पिछड़े वर्गों का उत्थान करने के लिए महत्वपूर्ण कार्य किए हैं किन्तु यह दावा नहीं किया जा सकता कि नीति-निदेशक सिद्धान्तों द्वारा निर्धारित सभी लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सकता है।

नीति-निदेशक सिद्धान्तों में जो सिद्धान्त सम्मिलित हैं उनमें अधिकांश सिद्धान्त ऐसे हैं जो राज्य के सामान्य कार्यों की श्रेणी में आते हैं। जैसे जीवन स्तर को उठाना; रोजगार के अवसर उत्पन्न करना; समाज के आर्थिक विकास के लिए कार्य करना आदि। अतः इन क्षेत्रों में हुई प्रगति के आधार पर यह दावा करना उचित न होगा कि विभिन्न क्षेत्रों में जो विकास और परिवर्तन हुआ है वह नीति-निदेशक सिद्धान्तों के कारण हुआ है।

देखने की बात यह है कि नीति-निदेशक सिद्धान्तों में जो विशिष्ट प्रकार के सिद्धान्त हैं उन्हें किस सीमा तक कार्यान्वित किया जा सका है। अनुच्छेद 38 से 51 तक जो सिद्धान्त बताए गए हैं उनमें **कुछ** सिद्धान्त अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं लेकिन उनमें से अधिकांश का कार्यान्वयन नहीं हो पाया है।

अनुच्छेद 39 में सभी नागरिकों को जीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त करने; समुदाय की भौतिक संपत्ति **को सामूहिक हित** के लिए प्रयोग करने; धन और उत्पादन-साधनों के अहितकारी केन्द्रण को रोकने,

समान कार्य के लिए स्त्रियों और पुरुषों को समान वेतन देने; तथा श्रमिकों और बालकों के स्वास्थ्य तथा हितों के संरक्षण हेतु उचित व्यवस्था करने के लिए सरकार को निर्देश दिए गए हैं। यह एक सर्वविदित तथ्य है कि 50 वर्षों से अधिक समय गुज़र जाने के बाद भी भारतीय समाज में आर्थिक असमानता, उत्पादन-साधनों पर व्यक्तिगत नियंत्रण, पूंजीवाद और आर्थिक तथा सामाजिक शोषण, भुखमरी तथा बेरोज़गारी जैसी समस्याएँ मौजूद हैं। लगभग यह स्थिति अनुच्छेद 41 *(काम, शिक्षा और लोक सहायता पाने के अधिकार)*, 42 *(काम की न्यायसंगत और मानवोचित दशाओं का उपबंध)* तथा 43 *(कर्मकारों के लिए निर्वाह मजदूरी आदि)* में उल्लिखित निदेशों की है।

अनुच्छेद 44 में एक समान सिविल संहिता तैयार करने की बात कही गई है। यह एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण निदेश है किन्तु इसे अभी तक कार्यान्वित नहीं किया जा सका है।

नागरिकों के नैतिक विकास के लिए अनुच्छेद 47 में मादक वस्तुओं पर प्रतिबंध लगाने का निदेश दिया गया है। कुछ राज्यों में मद्यनिषेध के लिए कानून बनाए भी गए लेकिन जल्द ही उन्हें रद्द कर दिया गया क्योंकि इससे राज्यों की आय में भारी कमी आ गई थी।

अनुच्छेद 50 में कहा गया है कि राज्य लोक-सेवाओं में न्यायपालिका तथा कार्यपालिका के बीच पूर्ण पृथक्कीकरण करेगा। इस निदेश को भी पूरी तरह कार्यान्वित नहीं किया जा सका और आज भी विभिन्न कार्यकारिणी-पदाधिकारी न्यायिक कार्यों का संपादन कर रहे हैं।

नीति-निदेशक सिद्धान्तों के कार्यान्वयन की दिशा में सरकार की सबसे बड़ी उपलब्धि पंचायतीराज व्यवस्था का सांविधानीकरण है। अनुच्छेद 40 में राज्य को यह निदेश दिया गया था कि वह ग्राम पंचायतों का संगठन कराने का प्रयास करेगा लेकिन 1992 तक पंचायतों का अस्तित्व राज्य सरकारों की दया का पात्र रहा। अलग-अलग राज्यों में पंचायतीराज का भिन्न-भिन्न स्वरूप रहा और इसकी स्थिति अत्यधिक कमजोर रही। 1992 में संविधान के 73वें संशोधन के द्वारा पंचायतीराज व्यवस्था को सांविधानिक दर्जा दे दिया गया और पूरे देश में पंचायतीराज को एकरूपता प्रदान करते हुए उसको शासन की तृतीय इकाई के रूप में मान्यता प्रदान की गई। इस सशोधन के बाद पंयायतीराज व्यवस्था को स्थापित करना राज्यों के लिए अनिवार्य हो गया। इस व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के लिए संविधान में पंचायतों के गठन और शक्तियों के संबंध में कुछ सिद्धान्तों का निर्धारण भी कर दिया गया है ताकि पूरे देश में पंचायती व्यवस्था में एकरूपता स्थापित की जा सके।

5.9 नीति-निदेशक सिद्धान्तों का बढ़ता हुआ महत्व

1971 के बाद से नीति-निदेशक सिद्धान्तों का महत्व काफी बढ़ गया। संविधान के 25वें संशोधन द्वारा एक नीति-निदेशक सिद्धान्त (अनुच्छेद 39, बी,सी की मूल अधिकारों पर प्रधानता स्थापित की गई। 42वें संशोधन ने समस्त नीति-निदेशक सिद्धान्तों को मूल अधिकारों से ऊपर कर दिया लेकिन न्यायपालिका ने 25वें तथा 42वें संशोधनों के कतिपय प्रावधानों को निरस्त करके मूल संविधान के मन्तव्य के अनुसार ही मूल अधिकारों की प्रधानता को बनाए रखा। विगत वर्षों में नीति-निदेशक सिद्धान्तों के क्षेत्र का विस्तार किया गया है और कतिपय सांविधानिक संशोधनों द्वारा भाग 4 में कुछ नए सिद्धान्त जोड़े गए हैं। उदाहरण के लिए व्यक्तियों और समूहों के बीच आय की असमानताओं को कम करने तथा सुविधाओं और अवसरों की असमानता समाप्त करने; *(संविधान के 44वें संशोधन द्वारा अनुच्छेद 38 (2); जोड़ा गया)* नागरिकों को निःशुल्क विधिक सहायता देने *(संविधान के 42वें संशोधन द्वारा अनुच्छेद 39 क जोड़ा गया)*, पर्यावरण का संरक्षण तथा संवर्द्धन करने और वन तथा वन्य जीवों की रक्षा करने *(संविधान के 42वें संशोधन द्वारा अनुच्छेद 48 क जोड़ा गया।)* के निदेशों को संविधान में समाहित किया गया है।

यद्यपि नीति-निदेशक सिद्धान्त न्याययोग्य नहीं है लेकिन विगत दो दशकों में न्यायिक सक्रियतावाद ने इस सिद्धान्तों को जनहित याचिकाओं के माध्यम से लागू करने में अग्रणी भूमिका अदा की है।

हाल के वर्षों में न्यायपालिका ने कुछ नीति-निदेशक सिद्धान्तों को मूल अधिकारों का अंग मानकर एक तरह से उन्हें बाध्यकारी बना दिया है। उदाहरण के लिए उन्नीकृष्णन बनाम आंध्र प्रदेश राज्य के मुकदमें में सर्वोच्च न्यायालय ने इस दृष्टिकोण की पुष्टि तथा पुनरावृत्ति की कि मूल अधिकार तथा नीति-निदेशक सिद्धान्त एक दूसरे के पूरक तथा अनुपूरक हैं। इस मामले में न्यायपालिका ने यह कहा कि अनुच्छेद 45 में दिया गया 14 वर्ष तक की आयु के बच्चों को निःशुल्क अनिवार्य शिक्षा देने का निदेश अनुच्छेद 21 द्वारा दिए गए मूल अधिकार का अंग है क्योंकि मर्यादापूर्ण जीवन के लिए शिक्षा आवश्यक है। *(ए0आई0आर 1993 एस0सी0 2178, 2228 (86वें संशोधन द्वारा 'शिक्षा का अधिकार' मूल अधिकार बन गया)* प्रदूषण मुक्त हवा व पानी भी जीवन के लिए आवश्यक है इसलिए अनुच्छेद 48 में दिया गया निदेश भी अनुच्छेद 21 में दी गई दैहिक स्वतंत्रता का आवश्यक अंग है। *(वीरेन्द्र गौण बनाम हरियाणा राज्य (1995))* इसी प्रकार अनुच्छेद 39 के निदेशक तत्व को भी अनुच्छेद 21 में उल्लिखित 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया' का अंग मानकर निःशुल्क विधिक सेवा को मूल अधिकार के रूप में स्वीकार कर लिया गया है। अशोक कुमार गुप्ता बनाम उत्तर प्रदेश के मुकदमें में सर्वोच्च न्यायालय ने यह कहा कि अनुच्छेद 21 को अनुच्छेद 38 और उद्देशिका के साथ पढ़ने से स्पष्ट है कि सामाजिक न्याय अनुच्छेद 21 के अन्तर्गत एक मूल अधिकार है। *((1997) 5 एस0सी0सी0 201)* इसी प्रकार सर्वोच्च न्यायालय ने यह भी घोषित किया कि अनुच्छेद 39 (घ) का निदेशक "समान कार्य के लिए समान वेतन" अनुच्छेद 14 व 16 में दिए गए मूल अधिकारों का अभिन्न अंग है। *(AIR 1982 SC 879 तथा डी0एस0नकारा बनाम भारत संघ AIR 1983, SC 130)* एक अन्य मुकदमें, सुभाष कुमार बनाम भारत संघ में "पर्यावरण के संरक्षण व संवर्द्धन, तथा वन और वन्य जीवों की रक्षा के निदेशक सिद्धान्त (अनुच्छेद 48 क) को भी अनुच्छेद 21 में प्रदत्त जीवन के अधिकार का अंग मान लिया गया। *(AIR 1991 SC 420)*

संविधान के 44वें संशोधन के द्वारा संपत्ति के अधिकार को मूल अधिकारों से निकाल देने के फलस्वरूप नीति-निदेशक सिद्धान्तों का क्षेत्र बढ़ गया और उन्हें कार्यान्वित करना कुछ आसान हो गया। पूर्व में नीति-निदेशक सिद्धान्तों के अधीन बनाए गए अनेक कानूनों को इस आधार पर असंवैधानिक घोषित किया गया था कि वह संपत्ति के मूल अधिकार के प्रतिकूल हैं।

हाल में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णयों से नीति-निदेशक सिद्धान्तों का महत्व बढ़ गया है। न्यायपालिका ने उनमें से कुछ सिद्धान्तों को मूल अधिकारों का दर्जा प्रदान किया है। न्यायपालिका का यह दृष्टिकोण संविधान निर्माताओं के इस विचार की पुष्टि करता है कि मूल अधिकार और नीति-निदेशक सिद्धान्त एक दूसरे के पूरक हैं, उनके बीच कोई विरोध नहीं है। न्यायपालिका ने कतिपय नीति-निदेशक सिद्धान्तों को मूल अधिकारों का अभिन्न अंग बताकर एक ओर मूल अधिकारों के क्षेत्र को विस्तृत किया है और दूसरी ओर नीति-निदेशक सिद्धान्तों की उपयोगिता और महत्व को उजागर किया है।

5.10 सारांश

भारतीय संविधान में नीति-निदेशक सिद्धान्तों को समाहित करने का विचार आयरलैंड के संविधान से लिया गया है। कुछ व्यावहारिक कारणों से इन सिद्धान्तों को न्याययोग्य नहीं बनाया जा सका लेकिन संविधान बनाने वालों का यह मन्तव्य था कि भावी सरकारें इन सिद्धान्तों के अनुसार ही अपनी नीतियों का निर्माण करेंगी। न्यायपालिका ने भी सामान्य रूप से यह स्वीकार किया है कि मूल अधिकार और

नीति-निदेशक सिद्धान्त एक दूसरे के पूरक हैं और उनमें कोई विरोधाभास नहीं है। लेकिन नीति-निदेशक सिद्धान्तों को (अनुच्छेद 39 बी, सी के अतिरिक्त) मूल अधिकारों पर प्राथमिकता नहीं दी जा सकती। 1976 में संसद ने 42वें संशोधन के द्वारा समस्त नीति-निदेशक सिद्धान्तों को मूल अधिकारों पर प्राथमिकता प्रदान की लेकिन सर्वोच्च न्यायालय ने उक्त संशोधन को निरस्त करके मूल अधिकारों की सर्वोच्चता को बनाए रखा। वर्तमान स्थिति यह है कि केवल एक निदेशक सिद्धान्त (अनुच्छेद 39बी0, सी0) इन अर्थों में मूल अधिकारों से सर्वोच्च है कि यदि संसद उक्त नीति-निदेशक सिद्धान्त के प्रयोजनों को पूरा करने के लिए कोई कानून बनाती है तो उस कानून के मूल अधिकारों के प्रतिकूल होने के बाद भी उसे असंवैधानिक घोषित नहीं किया जा सकता।

संविधान के लागू होने के बाद से बनी विभिन्न सरकारों ने नीति-निदेशक सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने के लिए महत्वपूर्ण कानून बनाए हैं। पंचायती राज व्यवस्था को सांविधानिक दर्जा प्रदान किया गया है। समाज के आर्थिक विकास की योजनाएँ बनाई गई हैं। स्त्रियों, बच्चों, श्रमिकों अल्पसंख्यकों तथा समाज के पिछड़े वर्गों के विकास के लिए विविध योजनाएँ और कानून बनाए गए हैं। शिक्षा, स्वास्थ्य, पर्यावरण के संरक्षण के लिए अनेक कानून बनाए गए हैं। संक्षेप में सरकार ने नीति-निदेशक सिद्धान्तों के कार्यान्वयन हेतु सकारात्मक रवैया अपनाया है। संसद ने विभिन्न संशोधनों के माध्यम से कुछ नए सिद्धान्तों को नीति-निदेशक सिद्धान्तों में सम्मिलित किया है। न्यायपालिका ने विभिन्न जनहित याचिकाओं के माध्यम से नीति-निदेशक सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने के निदेश समय-समय पर सरकार को दिए हैं। इस तरह हाल के वर्षों में न्यायपालिका ने नीति-निदेशक सिद्धान्तों को लागू कराने में सक्रिय भूमिका अदा की है अप्रत्यक्ष रूप से नीति-निदेशक सिद्धान्तों को न्यायपालिका का बल मिला है।

5.11 संदर्भ ग्रंथ/उपयोगी पुस्तकें

1. Austin Granville; The Indian Constitution, Cornerstone of a Nation.
2. Markandan, K.C.; Directive Principles of State Policy in India
3. Hedge, K.D.; Director Principles of State Policy

5.12 संबंधित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. भारतीय संविधान में उल्लिखित नीति-निदेशक सिद्धान्तों की विवेचना कीजिए?
2. संविधान-निर्मात्री सभा में नीति-निदेशक सिद्धान्तों को संविधान में समाहित करने के विरुद्ध क्या तर्क दिए गए थे?
3. यदि नीति-निदेशक सिद्धान्त न्याययोग्य नहीं हैं तो संविधान में उनका उल्लेख करने की क्या उपयोगिता है?
4. "नीति-निदेशक सिद्धान्तों का लक्ष्य कल्याणकारी राज्य की स्थापना करना है?" व्याख्या कीजिए।
5. "मूल अधिकार और नीति-निदेशक सिद्धान्त एक दूसरे के पूरक हैं।" स्पष्ट कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. नीति-निदेशक सिद्धान्त और मूल अधिकारों के बीच मुख्य अन्तर क्या है?

2. गाँधीवाद से संबंधित कौन से निदेशक सिद्धान्त हैं?
3. नीति-निदेशक सिद्धान्तों को संविधान में क्यों समाहित किया गया?
4. कौन से निदेशक-सिद्धान्त मूल अधिकारों से ऊपर हैं?
5. नीति-निदेशक सिद्धान्तों को राज्य के लिए बाध्यकारी क्यों नहीं बनाया गया?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. नीति-निदेशक सिद्धान्तों को भारतीय संविधान में समाहित करने का विचार किस संविधान से लिया गया है?

   (अ) अमेरिका

   (ब) आस्ट्रेलिया

   (स) फ्रांस

   (द) आयरलैंड

2. संविधान के किस संशोधन द्वारा किसी एक नीति-निदेशक सिद्धान्त को मूल अधिकारों पर प्राथमिकता प्रदान की गई थी?

   (अ) 24वाँ संशोधन

   (ब) 25वाँ संशोधन

   (स) 44वां संशोधन

   (द) 52वां संशोधन

3. निम्न में से कौन सा कथन सही है?

   (अ) समस्त नीति-निदेशक सिद्धान्त न्याययोग्य हैं।

   (ब) अनुच्छेद 352 के अनुसार आपात् काल में नीति-निदेशक सिद्धान्त निलंबित हो जाते हैं।

   (स) नीति-निदेशक सिद्धान्त न्याययोग्य नहीं है।

   (द) नीति-निदेशक सिद्धान्त केवल केन्द्र सरकार के लिए बाध्यकारी हैं।

4. संविधान के किस संशोधन द्वारा नीति-निदेशक सिद्धान्तों में निःशुल्क विधिक सहायता देने का प्रावधान किया गया है?

   (अ) प्रथम संशोधन

   (ब) 42वें संशोधन

   (स) 44वें संशोधन

   (द) किसी में नहीं

5. किस नीति-निदेशक सिद्धान्त को सांविधानिक दर्जा देकर कार्यान्वित किया गया है?

   (अ) अनुच्छेद 40

   (ब) अनुच्छेद 44

(स) अनुच्छेद 39

(द) अनुच्छेद 31

5.13 प्रश्नोत्तर

1. (द)
2. (ब)
3. (स)
4. (स)
5. (अ)

इकाई 6– संविधान–संशोधन और सामाजिक परिवर्तन

इकाई की रुपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 संविधान संशोधन की विधियाँ

6.3 भारतीय संविधान की संशोधन–प्रक्रिया

6.4 संशोधन–प्रक्रिया की विलक्षणताएँ

6.5 संशोधन–विधि का संशोधन

6.6 भारतीय संविधान के प्रमुख संशोधन

6.7 संविधानिक संशोधनों के लक्ष्य – एक समीक्षा

6.8 सारांश

6.9 संदर्भ ग्रन्थ/उपयोगी पुस्तकें

6.10 संबंधित प्रश्न

6.11 प्रश्नोत्तर

6.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

- 55 वर्षों में संविधान में किए गए महत्वपूर्ण संशोधनों का अवलोकन कर सकेंगे,
- संविधान में संशोधन की प्रक्रिया को लेकर संसद और न्यायपालिका के बीच विवादों का निरूपण कर सकेंगे,
- संशोधनों के फलस्वरुप आर्थिक व सामाजिक व्यवस्था में बदलाव की चर्चा कर सकेंगे।

6.1 प्रस्तावना

लार्ड मैकाले का कहना है कि किसी देश में क्रान्ति का सबसे प्रमुख कारण यह होता है कि जब समाज आगे बढ़ रहा हो और संविधान स्थिर रहे। इसका अर्थ यह है कि अगर संविधान में सामाजिक परिवर्तनों के अनुरूप परिवर्तन नहीं किया जाता तो शासन-व्यवस्था सफलतापूर्वक कार्य नहीं कर सकती। यही कारण है कि प्रत्येक संविधान में उस प्रक्रिया का भी उल्लेख किया जाता है जिससे उसे संशोधित किया जा सके।

मुनरो के अनुसार ऐसे संविधान की कल्पना भी नहीं की जा सकती जिसमें संशोधन विधि का अभाव हो।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 368 में संविधान की प्रक्रिया का उल्लेख किया गया है। 1950 से अब तक संविधान में 92 संशोधन किए जा चुके हैं जिनमें कुछ संशोधन अत्यधिक मौलिक प्रकृति के कहे जा सकते हैं। इस संदर्भ में रुचिकर बात यह है कि स्वयं संशोधन-विधि को भी कई बार संशोधित

किया जा चुका है।

विगत 55 वर्षों में किए गए सांविधानिक संशोधनों ने राजनैतिक तंत्र तथा सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था को एक नई दिशा दी है और शासन–व्यवस्था के विभिन्न घटकों के बीच पारस्परिक रिश्तों को पुर्नपरिभाषित किया है।

6.2 संविधान–संशोधन की विधियाँ

यह एक निर्विवाद तथ्य है कि कोई भी संविधान बगैर संशोधनों के जीवित नहीं रह सकता। संशोधन के तरीके भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। यदि किसी संविधान में संशोधन उसी प्रक्रिया के द्वारा किया जाता है जिस प्रकार उस देश में साधारण कानून बनाए जाते हैं तो उस संविधान को लचीला संविधान कहा जाता है। किन्तु यदि संविधान में संशोधन के लिए एक विशेष प्रक्रिया अपनाई जाती है जो उस प्रक्रिया से भिन्न है जिससे साधारण कानून बनाने जाते हैं तो यह संविधान कठोर संविधान कहलाएगा।

इंग्लैंड में संविधान अलिखित है और संसद प्रभुत्वसंपन्न है इसलिए संसद द्वारा बनाया गया हर कानून संविधान का अंग बन जाता है। दूसरे शब्दों में संसद एक कानून बनाकर शासन व्यवस्था में परिवर्तन कर सकती है। यही कारण है कि इंग्लैंड में सांवधनिक विधि और साधारण विधि में कोई अन्तर नहीं पाया जाता। संविधान में संशोधन करने और संसद द्वारा साधारण कानूनों के बनाने की प्रक्रिया एक होने के कारण ही इंग्लैंड के संविधान को 'लचीला संविधान' कहा जाता है।

इंग्लैंड के विपरीत अमेरिका का संविधान कठोर है। वहां साधारण विधेयक तो विधानमण्डल में उपस्थित सदस्यों के साधारण बहुमत से पारित होते हैं, किन्तु संविधान में संशोधन करने वाले विधेयकों को विधानमण्डल के दोनों सदनों के दो–तिहाई बहुमत का 3/4 राज्यों के अनुमोदन से ही पारित किया जा सकता है। संशोधन की जटिल प्रक्रिया के कारण ही अमेरिका के संविधान में विगत दो सौ वर्षों से अधिक समय में केवल 26 संशोधन किए जा सके हैं।

भारत के संविधान में संशोधन करने का तरीका न तो इंग्लैंड की तरह बिल्कुल आसान है और न ही अमेरिका की तरह बहुत मुश्किल। इसीलिए भारतीय संविधान को लचीलेपन और कठोरता का सम्मिश्रण कहा जाता है।

6.3 भारतीय संविधान की संशोधन प्रक्रिया

भारतीय संविधान में निम्नलिखित तीन तरीकों से संशोधन किया जा सकता है :

1. संसद द्वारा साधारण बहुमत से संशोधन
2. संसद द्वारा 2/3 बहुमत से संशोधन
3. संसद के 2/3 बहुमत और कम से कम आधे राज्य विधान मण्डलों के अनुमोदन द्वारा संशोधन

1. संसद के द्वारा साधारण बहुमत से संशोधन

संविधान के कुछ उपबंधों में संसद साधारण विधि–निर्माण की प्रक्रिया को अपनाकर दोनों सदनों में उपस्थित और मतदान करने वालों के साधारण बहुमत (आधे से अधिक) से संशोधन कर सकती है। यह संविधान में संशोधन करने की सबसे आसान विधि है। संविधान के निम्न प्रावधान साधारण कानूनों की तरह ही संसद के साधारण बहुमत से संशोधित किए जा सकते हैं।

1. अनुच्छेद 2, 3, 4 जिनमें नए राज्यों का संघ में प्रवेश; नए राज्यों का निर्माण; राज्यों के

नाम, क्षेत्र और सीमाओं में परिवर्तन

2. राज्य विधानमण्डलों में उच्च सदन के निर्माण तथा अंत से संबंधित अनुच्छेद 169
3. केन्द्र शासित क्षेत्रों के विधानमण्डलों के संबंध में अनुच्छेद 239 अ
4. संविधान की पाँचवी तथा छठी अनुसूचियां

उपरोक्त अनुच्छेदों में संसद साधारण कानून बनाकर संशोधन कर सकती है। यह उल्लेखनीय है कि इन अनुच्छेदों में संशोधन करने की शक्ति स्वयं संबंधित अनुच्छेदों में दी गई है और उनमें यह स्पष्ट कर दिया गया है कि इन्हें अनुच्छेद 368 के प्रयोजनों के लिए इस संविधान का संशोधन नहीं समझा जाएगा।

उपर्युक्त प्रावधानों के अतिरिक्त शेष संविधान में संशोधन करने का प्रावधान और उसकी प्रक्रिया का उल्लेख अनुच्छेद 368 में किया गया है। इस अनुच्छेद के अनुसार संविधान में निम्न दो तरह से संशोधन किया जा सकता है :

2. संसद के द्वारा 2/3 बहुमत से संशोधन :

उन अनुच्छेदों को छोड़कर जिनका उल्लेख अनुच्छेद 368 के खण्ड (2) के परन्तुक में किया गया है, शेष उपबंधों में संशोधन के लिए विधेयक संसद के किसी भी सदन में प्रस्तुत किया जा सकता है। संशोधन-विधेयक संसद के प्रत्येक सदन की कुल सदस्य–संख्या के पूर्ण बहुमत और उपस्थित तथा मतदान करने वाले सदस्यों के 2/3 बहुमत से पारित होने के बाद राष्ट्रपति को भेजा जाएगा। राष्ट्रपति की स्वीकृति के बाद वह विधेयक अधिनियम का रूप धारण कर लेगा और तदनुसार संबंधित अनुच्छेद संशोधित हो जाएगा। यह उल्लेखनीय है कि 42वें संशोधन के अनुसार राष्ट्रपति के लिए संसोधन–विधेयकों पर स्वीकृति देना अनिवार्य कर दिया गया है।

3. संसद के 2/3 बहुमत और कम से कम आधे राज्य विधानमण्डलों के अनुमोदन द्वारा संशोधन :

अनुच्छेद 368 के खण्ड (2) के परन्तुक में उल्लिखित उपबंधों में संशोधन के लिए संशोधन–विधेयक को संसद के प्रत्येक सदन की कुल सदस्य–संख्या के बहुमत और उपस्थित तथा मत देने वालों के 2/3 बहुमत से पारित होने के बाद राज्य–विधानमंडलों को भेजा जाएगा। यदि वह संशोधन–विधेयक कम से कम आधे राज्य–विधानमण्डलों के द्वारा अनुमोदित कर दिया जाता है तो उसे राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेजा जाएगा। राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त हो जाने पर संविधान संशोधित हो जाएगा। यह प्रक्रिया निम्नलिखित उपबंधों के संशोधन के लिए अपनाई जाएगी :

1. भारत के राष्ट्रपति का चुनाव (अनुच्छेद 54–55)
2. संघ की कार्यपालिका–शक्ति की सीमा (अनुच्छेद 73)
3. राज्यों की कार्यपालिका–शक्ति की सीमा (अनुच्छेद 162)
4. उच्चतम न्यायालय से संबंधित उपबंध (अनुच्छेद 124–147)
5. राज्यों के उच्च न्यायालयों से संबंधित उपबंध (अनुच्छेद 214–31)
6. संघ राज्य-क्षेत्रों के लिए उच्च न्यायालयों से संबंधित उपबंध (अनुच्छेद 241)
7. विधायी शक्तियों का वितरण (अनुच्छेद 245–55)
8. सप्तम अनुसूची की कोई भी सूची

9. संसद में राज्यों का प्रतिनिधित्व (चतुर्थ अनुसूची)

10. अनुच्छेद 368 के उपबंध।

चूँकि उपर्युक्त उपबंधों का संबंध मुख्य रूप से इकाई राज्यों के हितों और संघ प्रणाली के विविध पक्षों से है इसलिए इन अनुच्छेदों में संशोधन के लिए कम से कम आधे राज्य–विधानमण्डलों की स्वीकृति आवश्यक ठहराई गई है।

6.4 संशोधन–प्रक्रिया की विलक्षणताएँ

भारतीय संविधान में संशोधन की जो प्रक्रिया निर्धारित की गई है वह ब्रिटिश और अमेरिकी संविधानों से निम्नलिखित रूप से भिन्न है :

1. इंग्लैण्ड में संसद प्रभुत्वसंपन्न है इसलिए वह पूरी सांविधानिक व्यवस्था को साधारण विधायी प्रक्रिया से बदल सकती है। भारत में संसद संविधान के कुछ ही उपबंधों को साधारण विधायी प्रक्रिया से संशोधित कर सकती है, शेष संविधान संशोधन के लिए विशेष बहुमत अथवा विशेष प्रक्रिया अपनानी होगी।

2. भारत में सविधान–संशोधन के मामले में राज्यों को पहल करने का अधिकार नहीं दिया गया है। संसोधन का प्रस्ताव संसद के किसी सदन में ही पेश किया जा सकता है; राज्यों या राज्य–विधानमण्डलों की तरफ से यह प्रस्ताव नहीं आ सकता। अमेरिका में राज्यों को भी संविधान में संशोधन के लिए प्रस्ताव करने का सांविधानिक अधिकार प्रदान किया गया है।

3. अमेरिका में कोई भी संशोधन बिना राज्यों के अनुमोदन के नहीं किया जा सकता जबकि भारत में संविधान का एक बड़ा भाग केवल संसद के विशेष बहुमत से बिना राज्यों की स्वीकृति के संशोधित किया जा सकता है।

4. भारत में केवल आधे राज्य–विधान मण्डलों की स्वीकृति से संविधान में संशोधन किया जा सकता है जबकि अमेरिका में 3/4 राज्यों द्वारा अनुमोदन आवश्यक ठहराया गया है।

5. अमेरिका में संविधान–संशोधन विधेयक पर राष्ट्रपति की स्वीकृति नहीं ली जाती है। भारत में साधारण विधेयकों की तरह ही संशोधन–विधेयक भी राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेजा जाता है और राष्ट्रपति के लिए उस पर अपनी स्वीकति देना अनिवार्य है। *(24वाँ संशोधन)* इस प्रावधान के कारण संसद की संशोधन–श[illegible] [illegible]भाविक रूप से बढ़ गई है।

6. अमेरिका की तरह भारत में भी समस्त सांविधानिक संशोधन न्यायिक पुनरावलोकन की परिधि में आते हैं। केशवानंद भारती के मामले में दिए गए निर्णय के अनुसार किसी भी संशोधन को न्यायालय में इस आधार पर चुनौती दी जा सकती है कि वह संविधान के आधारिक या मूल ढाँचे के प्रतिकूल है।

7. भारतीय संविधान में उन प्रावधानों के संशोधन के लिए राज्य–विधानमण्डलों के अनुमोदन की आवश्यकता है जिन उपबंधों का संबंध राज्य–सरकारों के गठन और शक्तियों से हैं लेकिन आश्चर्य की बात यह है कि अनुच्छेद 2–4 के प्रावधानों (नए राज्यों का निर्माण; राज्यों के नाम और सीमाओं में परिवर्तन आदि) में संशोधन केवल संसद साधारण बहुमत से कर सकती है। अपनी इस शक्ति का प्रयोग करके संसद

राज्यों के स्वरूप को ही बदल सकती है।

6.5 संशोधन–विधि का संशोधन

संविधान लागू होने के बाद से 1967 तक संसद संपूर्ण संविधान में बिना किसी बाधा के संशोधन करती रही और इस विषय में कोई गंभीर विवाद उत्पन्न नहीं हुआ। संभवतः इसका मुख्य कारण यह था कि जब भी न्यायपालिका ने किसी कानून को असंवैधानिक घोषित किया, संसद ने स्वंय संविधान में संशोधन करके उस आपत्ति का निराकरण कर दिया। इस प्रकार संसद और न्यायपालिका के बीच सामंजस्य बना रहा। न्यायपालिका द्वारा असंवैधानिक घोषित किए जाने वाले कानूनों में अधिकांश कानून वे थे जिनसे किसी न किसी मूल अधिकार का अतिक्रमण होता था। अतः संसद मूल अधिकारों में तदानुसार संशोधन करती रही। शंकरी प्रसाद बनाम भारत संघ और सज्जन सिंह बनाम राजस्थान के मुकदमों में सर्वोच्च न्यायालय न यह स्वीकार किया कि संसद को मूल अधिकारों में संशोधन करने का अधिकार प्राप्त है।

1967 में पहली बार गोलकनाथ के मुकदमें में सर्वोच्च न्यायालय ने यह दृष्टिकोण प्रतिपादित किया कि संसद मूल अधिकारों में कोई संशोधन नहीं कर सकती। क्योंकि ऐसा करना अनुच्छेद 13 (3) के उपबंधों के प्रतिकूल होगा। मुख्य न्यायाधीश सुब्बाराव ने कहा कि अनुच्छेद 368 में संसद को मूल अधिकारों में संशोधन करने की शक्ति नहीं दी गयी है। इसीलिए संविधान के भाग 20 (अनुच्छेद 368) का शीर्षक "संविधान में संशोधन करने की प्रक्रिया" है।

अतः अनुच्छेद 368 संसद को संविधान में संशोधन करने की शक्ति नहीं प्रदान करता वरन् संशोधन की प्रक्रिया मात्र का उल्लेख करता है। न्यायपालिका ने कहा कि यदि मूल अधिकारों में संशोधन की आवश्यकता है तो उसके लिए अनुच्छेद 248 और प्रथम अनुसूची की प्रविष्ठ 97 के अनुसार संविधान सभा बुलानी होगी।

उपर्युक्त निर्णय के बाद अनुच्छेद 368 संशोधनों का निशाना बन गया। न्यायपालिका ने बैंकों के राष्ट्रीयकरण तथा देशी रियासतों के नरेशों को प्राप्त प्रिवी पर्सेज को समाप्त करने वाले अध्यादेशों को भी इस आधार पर अंसवैधानिक घोषित कर दिया कि वे संपत्ति के मूल अधिकार का अतिक्रमण करते हैं।

न्यायपालिका के इन निर्णयों से संसद को बहुत चोट पहुँची और उसने इसे अपनी सर्वोच्चता पर एक गहरा प्रहार माना। परिणामस्वरूप संसद तथा न्यायपालिका के बीच गंभीर टकराव की स्थिति उत्पन्न हो गई। 1971 के चुनाव में काँग्रेस (आई0) को भारी बहुमत मिला जिसे श्रीमती गांधी की नीतियों के पक्ष में जनादेश माना गया। सरकार ने संसद की सर्वोच्चता स्थापित करने के लिए स्वयं अनुच्छेद 368 को ही संशोधित करके संसद को मूल अधिकारों सहित संपूर्ण संविधान को संशोधित करने की शक्ति प्रदान कर दी।

1971 में किया गया संविधान का 24वाँ संशोधन भारत के सांविधानिक इतिहास में मील के पत्थर की हैसियत रखता है। इस संशोधन से संसद की सर्वोच्चता और न्यायपालिका की शक्तयों के ह्रास का इतिहास प्रारंभ होता है।

उपर्युक्त संशोधन द्वारा अनुच्छेद 368 को संशोधित करके निम्न प्रावधान किए गए :

1. इस संविधान में किसी बात के होते हुए भी संसद अपनी संविधायी शक्ति का प्रयोग करते हुए इस संविधान के किसी उपबंध का परिवर्धन, परिवर्तन आथवा निरसन के रूप में संशोधन इस अनुच्छेद में दी गई प्रक्रिया के अनुसार कर सकेगी।

2. अनुच्छेद 13 की कोई बात अनुच्छेद 368 के अधीन किए गए संविधान– संशोधनों पर लागू नहीं होंगी।

3. अनुच्छेद 368 के शीर्षक को बदल कर नया शीर्षक "संसद की संविधान संशोधन करने की शक्ति तथा उसकी प्रक्रिया" कर दिया गया।

4. यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि निर्धारित प्रक्रिया के अनुसार संसद द्वारा पारित किए गए किसी संशोधन–विधेयक पर राष्ट्रपति अपनी स्वीकृति देने से इंकार नहीं कर सकेगा।

उपर्युक्त संशोधन ने उन समस्त आपत्तियों का निराकरण और शंकाओं का समाधान कर दिया गया जो संसद की संशोधन-शक्ति के विषय में न्यायपालिका द्वारा उठाई गई थीं। उक्त संशोधन के बाद संसद को मूल अधिकार सहित संपूर्ण संविधान में संशोधन करने की शक्ति प्राप्त हो गई। लेकिन न्यायपालिका के उपर्युक्त निर्णय से उत्पन्न विवाद का यहीं पर अन्त नहीं हुआ।

1973 में केशवानन्द भारती ने संविधान के 24वें, 25वें और 29वें संशोधनों को मूल अधिकारों के प्रतिकूल होने के कारण सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती दी। सर्वोच्च न्यायालय ने इन संशोधनों को सांविधानिक माना और यह स्वीकार किया कि संसद मूल अधिकारों सहित पूरे संविधान में संशोधन तो कर सकती है लेकिन वह संविधान के मूल ढाँचे को परिवर्तित नहीं कर सकती। इस निर्णय का अर्थ यह था कि संसद के द्वारा किए गए किसी भी संशोधन को न्यायपालिका में इस आधार पर चुनौती दी जा सकती है कि उससे संविधान के मूल ढाँचे को क्षति पहुँचती है। दूसरे शब्दों में समस्त संविधान–संशोधन न्यायिक पुनरावलोकन का विषय बन गया। चूँकि संविधान के आधारिक लक्षणों (Basic features) की कोई सूची नहीं है इसलिए इन्हें निश्चित करने का अन्तिम अधिकार न्यायपालिका को ही प्राप्त होगा। उक्त निर्णय में कुछ न्यायाधीशों ने, उदाहरण स्वरूप, संविधान के मूल ढाँचे का निर्माण करने वाले कुछ सिद्धान्तों का उल्लेख किया था जिनको देखकर ऐसा लगता है कि मूल अधिकारों सहित संविधान की प्रस्तावना में उल्लिखित समस्त सिद्धान्त संविधान की आधारिक विशेषताओं में सम्मिलित हैं।

संविधान–संशोधनों को न्यायपालिका की पहुंच से दूर रखने और संसद की सर्वोच्चता को पुर्नस्थापित करने के लिए 1976 में संविधान के 42वें संशोधन द्वारा अनुच्छेद 368 को दूसरी बार संशोधित किया गया और इसमें खण्ड 4 और 5 जोड़ दिए गए जिनमें यह स्पष्ट रूप से प्रावधान किया गया कि संसद द्वारा संविधान में किये गये किसी भी संशोधन को किसी भी न्यायालय में किसी भी आधार पर चुनौती न दी जा सकेगी और संसद की संविधान–संशोधन करने की शक्ति पर किसी प्रकार का निर्बन्धन नहीं होगा। इस संशोधन के द्वारा संसद ने निहित रूप से संविधान के मूल ढाँचे के सिद्धान्त को रद्द कर दिया और संशोधनों के मामलों में न्यायपालिका के हस्तक्षेप को बिल्कुल समाप्त कर दिया।

1980 में मिनर्वा मिल्स बनाम भारत संघ के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने अपनी शक्ति को पुनः प्राप्त करने का प्रयास किया और 42वें संशोधन द्वारा अनुच्छेद 368 में जोड़े गए खण्ड (4) व (5) को असंवैधानिक घोषित कर दिया जिनमें यह प्रावधान किया गया था कि किसी भी संशोधन को किसी भी न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती। सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि इस प्रावधान से संसद को संविधान में संशोधन करने की असीमित शक्ति प्राप्त हो जाती है जो संविधान के आधारिक लक्षणों के प्रतिकूल है।

इस निर्णय के बाद संविधान का मूल ढांचा सिद्धान्त पुर्नजीवित हो गया और संशोधनों की संवैधानिकता का परीक्षण करने का अधिकार न्यायपालिका को वापस मिल गया। यद्यपि इस निर्णय से

संसद की संविधान–संशोधन शक्ति पुनः प्रतिबंधित हो गई किन्तु संसद खामोश रही, संभवतः इस कारण कि 1977 के चुनाव में कांग्रेस पार्टी सत्ता से बाहर हो चुकी थी और सत्तारूढ़ जनता सरकार के घटक दल 42वें संशोधन के दुष्परिणामों का मजा चख चुके थे।

वर्तमान स्थिति यह है कि संसद मूल अधिकार सहित संपूर्ण संविधान में संशोधन कर सकती है किन्तु किसी भी संशोधन की वैधता को न्यायालय में इस आधार पर चुनौती दी जा सकती है किन्तु कि वह संविधान के आधारिक सिद्धान्तों के विरुद्ध है। इस प्रकार किसी संशोधन की संवैधानिकता को निश्चित करने का अन्तिम अधिकार न्यायपालिका का होगा। इससे संसद की संविधान-संशोधन शक्ति सीमित हो गई और न्यायिक पुनरावलोकन का क्षेत्र पुनः विस्तृत हो गया।

6.6 भारतीय संविधान के प्रमुख संशोधन

विगत 55 वर्षों में भारतीय संविधान में 92 संशोधन किए गए। इन संशोधनों के द्वारा संविधान में नए अध्याय और अनुच्छेद जोड़े गए, पुराने अनुच्छेदों का संशोधन, परिवर्द्धन तथा निरसन किया गया और वर्तमान उपबंधों के स्पष्टीकरण हेतु उनमें भाषायी परिवर्तन किए गए। कुछ संशोधन साधारण प्रकृति के थे और कुछ संशोधनों का उद्देश्य देश की राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन लाना था। संक्षेप में सांविधानिक संशोधनों का क्षेत्र अत्यधिक व्यापक और उनके लक्ष्य बहुआयामी रहे। प्रायः एक संशोधन अधिनियम के द्वारा संविधान के अनेक अनुच्छेदों को संशोधित किया गया। उदाहरण के लिए संविधान के प्रथम संशोधन के द्वारा अनुच्छेद 31 में विशेष रूप से संशोधन करने के साथ–साथ अनुच्छेद 15, 19, 85, 87, 174, 176, 314, 342, 372 और 376 में भी संशोधन किए गए। अतः उद्देश्य की दृष्टि से इन संशोधनों को वर्गीकृत करना कठिन है। फिर भी इनके महत्व की दृष्टि से कुछ प्रमुख संशोधनों का उल्लेख किया जा सकता है जिन्होंने शासन–व्यवस्था को एक दिशा दी है और जिन्होंने देश के सामाजिक और आर्थिक विकास, विशेषकर नीति–निर्देशक सिद्धान्तों में चित्रित लक्ष्यों को पूरा करने में प्रत्यक्ष रूप से योगदान दिया है।

यदि संविधान में किए गए संशोधनों का विश्लेषण किया जाए तो यह तथ्य सामने आता है कि 1970 के बाद सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन लाने के लिए सतत प्रयास किए गए हैं और सामाजिक तथा आर्थिक न्याय स्थापित करने पर ज्यादा बल दिया गया है।

संविधान में अब तक किए गए संशोधनों में से कुछ संशोधन अत्यधिक महत्वपूर्ण और मौलिक प्रकृति के हैं जिनका उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है।

प्रथम संशोधन– 1951

अपने लक्ष्य की दृष्टि से संविधान का पहला संशोधन सामाजिक और आर्थिक न्याय स्थापित करने की दिशा मे पहला कदम था। इस संशोधन के द्वारा समानता के मूल अधिकार के अन्तर्गत अनुच्छेद 15 में खण्ड 4 जोड़कर सामाजिक और शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े वर्गों, अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए विशेष सुविधाएं दिए जाने का प्रावधान किया गया और यह स्पष्ट कर दिया गया कि इस प्रकार के विशेष उपबंध अथवा आरक्षण को समानता के अधिकार (अनुच्छेद 15) का उल्लंघन न समझा जायेगा। *(मद्रास राज्य बनाम चम्पकम दोराई राजन के मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णय से उत्पन्न कठिनाई के निराकरण के लिए)* इसी संशोधन के द्वारा अनुच्छेद 31 क और ख जोड़कर, तथा विभिन्न राज्यों द्वारा पारित भूमि सुधार अधिनियमों को नवीं अनुसूची के रूप में संविधान में सम्मिलित करके उन्हें न्यायपालिका की परिधि से बाहर कर दिया गया और इस प्रकार जमींदारी उन्मूलन की नीति को कार्यान्वित किया गया।

16वां संशोधन 1963

इस संशोधन द्वारा अनुच्छेद 19 में यह उपबंध कर दिया गया कि राष्ट्र की प्रभुता और अखण्डता के हित में वाक् स्वतंत्रता; विचार अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता; सम्मेलन करने और संघ बनाने की स्वतंत्रता पर कानून द्वारा तर्कसंगत प्रतिबंध लगाया जा सकता है। किसी भी राज्य द्वारा भारतीय संघ से पृथक होने तथा संघ को भंग करने के प्रयास को अवैध घोषित किया गया।

24वां संशोधन 1971

इस संशोधन द्वारा अनुच्छेद 368 में संशोधन करके संसद को मूल अधिकारों सहित पूरे संविधान में संशोधन करने की शक्ति प्रदान की गई।

25वां संशोधन 1971

संविधान के अनुच्छेद 31 में एक नया अनुच्छेद 31 (ग) को समाहित करके अनुच्छेद 39 बी0, सी0 (नीति–निदेशक सिद्धान्त) को मूल अधिकारों पर प्रधानता दी गई। देश में आर्थिक न्याय को स्थापित करने की दिशा में यह एक महत्वपूर्ण प्रयास था। इस संशोधन के बाद से सरकार और विशेषकर न्यायपालिका नीति–निदेशक सिद्धान्तों के कार्यान्वयन के प्रति ज्यादा गंभीर और सक्रिय हो गई।

26वां संशोधन 1971

देशी रियासतों के पूर्व नरेशों को मिलने वाले प्रिवी पर्सेज को समाप्त करने के लिए अनुच्छेद 291 तथा अनुच्छेद 362 को रद्द कर दिया गया।

39वां संशोधन 1975

यह संशोधन विशेषकर श्रीमती गांधी को राजनैतिक लाभ देने के लिए किया गया था। लोक सभा की सदस्यता के लिए उनका निर्वाचन उत्तर प्रदेश उच्च न्यायालय द्वारा अवैध घोषित कर दिया गया था और उन्हें छः वर्ष तक चुनाव लड़ने के लिए अनर्ह घोषित कर दिया गया था। इस संशोधन द्वारा अनुच्छेद 329 के बाद अनुच्छेद 329 क जोड़कर यह उपबन्ध किया गया कि राष्ट्रपति उपराष्ट्रपति के निर्वाचन को तथा लोक सभा के सदस्य के रूप में प्रधानमंत्री और लोकसभा के स्पीकर के निर्वाचन को किसी न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती। उसे केवल ऐसे प्राधिकारी के समक्ष चुनौती दी जाएगी जो संसद विधि द्वारा नियुक्त करे। इस संशोधन को भूतलक्षी प्रभाव देकर श्रीमती गांधी के विरूद्ध किए गए उच्च न्यायालय के निर्णय को निष्प्रभावी बना दिया गया। बाद में 1978 में 44वें संशोधन द्वारा उपर्युक्त अनुच्छेद 29 क निरस्त कर दिया गया।

42वां संशोधन 1976

संविधान का 42वां संशोधन अधिनियम स्वयं एक संविधान था जिसमें 59 प्रावधान थे। यह सर्वाधिक विवादास्पद संशोधन अधिनियम था। इस संशोधन द्वारा प्रस्तावना से लेकर पूरे संविधान में आधारभूत संशोधन किए गए जिनमें से कुछ का उल्लेख किया जा रहा है–

1. संविधान की प्रस्तावना में 'समाजवादी'; 'पंथनिरपेक्ष' तथा 'और अखण्डता' शब्द जोड़े गए।
2. समस्त नीति–निदेशक सिद्धान्तों को मूल अधिकारों पर प्रमुखता प्रदान की गई और नीति–निदेशक सिद्धान्तों में कुछ नए सिद्धान्त जोड़े गए।
3. राष्ट्रपति को मंत्रिपरिषद के परामर्श को मानना आवश्यक ठहराया गया।

4. अनुच्छेद 368 में यह प्रावधान किया गया कि संसद द्वारा संविधान में किया गया कोई भी संशोधन किसी भी न्यायालय में किसी भी आधार पर चैलेंज न किया जा सकेगा।

5. लोक सभा और राज्य विधान सभाओं का कार्यकाल 5 वर्ष से बढ़ाकर 6 वर्ष कर दिया. गया।

6. सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों की न्यायिक पुनरावलोकन की शक्तियों को सीमित कर दिया गया। संविधान–संशोधनों को न्यायिक पुनरावलोकन की परिधि से बाहर कर दिया गया तथा किसी कानून की संवैधानिकता पर विचार करने के लिए उच्च न्यायालयों और उच्चतम न्यायालय में न्यायाधीशों की न्यूनतम संख्या होना और उसे असंवैधानिक घोषित करने के लिए विशेष बहुमत की शर्त लगाई गई।

42वें संशोधन का मूल लक्ष्य संसद की सर्वोच्चता को स्थापित करना और व्यावहारिक रूप से प्रधानमंत्री के वर्चस्व को स्थापित करना था। इस संशोधन के बाद संविधान को संसद के आधीन कर दिया गया; न्यायपालिका को पंगु बना दिया गया तथा नागरिक स्वतंत्रताओं की मौलिकता को समाप्त कर दिया गया।

43वां संशोधन 1978

1977 में जनता पार्टी के सत्तारूढ़ होने के बाद 42वें संशोधन के कुछ प्रावधानों को निरस्त कर दिया गया।

संविधान के 43वें संशोधन ने अनुच्छेद 31 (घ) को निरस्त कर दिया जिसके द्वारा संसद को राष्ट्र–विरोधी गतिविधियों को रोकने और राष्ट्र–विरोधी संस्थाओं को प्रतिबंधित करने के लिए विशेष कानून बनाने का अधिकार प्रदान किया गया था और यह प्रावधान किया गया था कि ऐसे कानून को मूल अधिकारों के प्रतिकूल होने के बाद भी असंवैधानिक घोषित न किया जा सकेगा।

42वें संशोधन द्वारा उच्च उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय की पुनरावलोकन की शक्ति पर लगाए गए प्रतिबंधों को समाप्त करके उनके अधिकारों को पूर्ववत् कर दिया गया।

44वां संशोधन, 1978

(1) इस संशोधन द्वारा अनुच्छेद 31 में दिए गए संपत्ति के अधिकार को मूल अधिकारों में से निकाल दिया गया। साथ ही अनुच्छेद (19) में दी गई छठी स्वतंत्रता (संपत्ति की स्वतंत्रता) को भी समाप्त कर दिया गया।

(2) अनुच्छेद 20 और 21 में दिए गए जीवन और दैहिक स्वतंत्रता के मूल अधिकार को आपातकाल में भी स्थगित न किए जाने की व्यवस्था की गई।

(3) राष्ट्रपति की आपातकालीन शक्तियों के विषय में निम्न प्रावधान किए गए :

(i) अनुच्छेद 352 में आन्तरिक अशान्ति के स्थान पर 'सशस्त्र विद्रोह'' शब्द रख दिए गए।

(ii) राष्ट्रपति द्वारा अनुच्छेद 352 के अधीन आपात उद्घोषणा मंत्रिपरिषद् के लिखित परामर्श पर ही की जाएगी।

(iii) आपात उद्घोषणा किए जाने के एक माह के अन्दर संसद के विशेष बहुमत से इसकी स्वीकृति आवश्यक होगी। इसे लागू रखने के लिए हर 6 महीने बाद संसद की स्वीकृति लेना आवश्यक होगा।

(iv) लोक सभा में उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के साधारण बहुमत से आपात-उद्घोषणा समाप्त की आ सकेगी। आपातकाल की समाप्ति पर विचार करने के लिए लोकसभा के 1/10 सदस्यों की मांग पर 14 दिनों के अन्दर लोकसभा की बैठक अनिवार्य रूप से बुलाई जाएगी।

(v) किसी राज्य में अनुच्छेद 356 के अधीन घोषित राष्ट्रपति शासन संसद से दो महीने के अन्दर स्वीकृत हो जाना चाहिए। यह एक बार में 6 महीने के लिए और अधिकतम एक वर्ष के लिए लागू किया जा सकेगा।

(vi) निवारक निरोध संबंधी अनुच्छेद 22 में परिवर्तन करके यह प्रावधान किया गया कि सलाहकार बोर्ड की संस्तुति के बगैर किसी व्यक्ति को 2 मास से अधिक निरुद्ध न किया जाएगा। पहले यह अवधि 3 मास थी।

(vii) 38वें संविधान–संशोधन को निरस्त कर दिया गया जिसमें यह व्यवस्था की गई थी कि अनुच्छेद 352 के अधीन की गई आपात उद्घोषणा को किसी न्यायालय में चुनौती न दी जा सकेगी।

(viii) मंत्रिमंडल द्वारा दिए गए किसी परामर्श को राष्ट्रपति पुर्नविचार के लिए मंत्रिमंडल को वापस कर सकता है लेकिन पुर्नविचार के बाद मंत्रिमंडल जो भी परामर्श देगा उसे मानना राष्ट्रपति के लिए अनिवार्य होगा।

(ix) 39वें संशोधन के उन प्रावधानों को रद्द कर दिया गया जिनके द्वारा प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति और लोक सभा के स्पीकर के निर्वाचन संबंधी विवादों को सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के क्षेत्राधिकार से बाहर कर दिया गया था।

(x) लोक सभा तथा विधानसभाओं का कार्यकाल 6 वर्ष से घटाकर फिर 5 वर्ष कर दिया गया।

इस प्रकार 43वें और 44वें संशोधनों द्वारा संविधान को 42वें संशोधन से पूर्व की स्थिति में लाने का प्रयास किया गया।

52वां संशोधन, 1985

इस संशोधन के द्वारा दल-बदल पर रोक लगाने की व्यवस्था की गई इसीलिए इसे 'दल–बदल विरोधी अधिनियम' कहा जाता है।

इस अधिनियम द्वारा यह प्रावधान किया गया कि संसद या राज्य–विधानसभा के सदस्य की सदस्यता समाप्त हो जाएगी यदि (1) वह स्वेच्छा से अपने दल से त्याग पत्र दे, (2) यदि वह अपने दल के लिए विहिप के विरुद्ध सदन में मतदान करे या मतदान में अनुपस्थित रहे (3) यदि कोई निर्दलीय निर्वाचित संदस्य किसी राजनैतिक दल में सम्मिलित हो जाए (4) यदि कोई मनोनीत सदस्य शपथ लेने के छः महीने बाद किसी राजनैतिक दल का सदस्य हो जाए।

अधिनियम में उपर्युक्त प्रावधान के दो अपवाद बताए गए थे

(1) यदि किसी दल के 1/3 या उससे अधिक सदस्य मूल पार्टी से अलग हो जाएँ तो इसे दल–विभाजन (Split) माना जाएगा और ऐसी दशा में पार्टी छोड़ने वालों की सदस्यता समाप्त नहीं होगी। *(संविधान में 91 वें संशोधन द्वारा दल–विभाजन के प्रावधान को निरस्त कर दिया गया है।)*

(2) यदि दो या उससे अधिक राजनीतिक दल अलग–अलग अपने 2/3 बहुमत से किसी दूसरी पार्टी

में विलय होने का निर्णय लें तो इसे दल–विलयन कहा जाएगा और ऐसे सदस्यों की सदस्यता का अन्त नहीं होगा।

61वां संशोधन, 1988

इस संशोधन–अधिनियम द्वारा मताधिकार के लिए न्यूनतम आयु 21 से घटाकर 18 वर्ष कर दी गई।

73वां संशोधन, 1992

संविधान के 73वें संशोधन द्वारा पंचायती राज व्यवस्था को सांविधानिक दर्जा प्रदान किया गया। संविधान में एक नया भाग (भाग 9) तथा एक नई अनुसूची (11वीं अनुसूची) जोड़ी गई जिसके द्वारा पंचायतों के संगठन तथा शक्तियों आदि का संविधान में उल्लेख कर दिया। इस संशोधन के बाद पंचायती राज भारतीय शासन व्यवस्था का अटूट अंग बन गया।

74वां संशोधन 1992

इस संशोधन द्वारा संविधान में एक नया भाग 9 क जोड़ दिया गया। इसमें 18 नए अनुच्छेद तथा ए नई अनुसूची (12वीं अनुच्छेद) सम्मिलित थे। इस नए भाग में शहरी स्थानीय शासन की इकाइयों के गठन और शक्तियों को प्रावधानित किया गया।

इन दोनों संशोधनों के बाद ग्रामीण और शहरी इकाइयों (पंचायतें और नगरपालिकाएं आदि) को सांविधानिक शासन का अनिवार्य अंग बना दिया गया तथा राष्ट्रीय स्तर पर इनमें समरूपता लाई गई। पंचायतीराज व्यवस्था में विभिन्न स्तरों की संस्थाओं तथा नगरपालिकाओं में अनुसूचित जाति तथा महिलाओं के आरक्षण का प्रावधान किया गया है।

76वां संशोधन, 1994

तमिलनाडु सरकार द्वारा राज्य के पिछड़े वर्गों, अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों को सरकारी नौकरियों में कुल 69 प्रतिशत आरक्षण देने वाले अधिनियम को संविधान की नवीं अनुसूची शामिल करके उसे सांविधानिक मान्यता दे दी गई।

82वां संशोधन, 2000

इस संशोधन द्वारा अनुच्छेद 355 में संशोधन करके केन्द्र और राज्यों के अधीन सरकारी नौकरियों में अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजातियों के उम्मीदवारों के लिए आरक्षित रिक्त स्थानों की भर्ती के लिए न्यूनतम अर्हताओं में छूट तथा पदोन्नति मानदंडों में छूट देने के प्रावधान किए गए।

86वां संशोधन, 2002

इस संशोधन द्वारा 6 से 14 वर्ष के बच्चों की शिक्षा को अनिवार्य और मौलिक अधिकार बनाने का प्रावधान किया गया।

91वां संशोधन, 2003

91वें संशोधन द्वारा यह प्रावधान किया गया कि केन्द्र और राज्यों में मंत्रिपरिषद का अधिकतम आका निचले सदन की कुल सदस्य संख्या का 15 प्रतिशत से अधिक न होगा। दल–बदल को रोकने के लिए इस प्रावधान को समाहित किया गया। अतीत में मंत्रिपद का प्रलोभन दल–परिवर्तन का एक बड़ कारण रहा है।

देश में दल–परिवर्तन की बढ़ती हुई घटनाओं के परिप्रेक्ष्य में 91वें संशोधन द्वारा संविधान की दसवीं

अनुसूची की धारा 3 में उल्लिखित दल–विभाजन के प्रावधान को निरस्त कर दिया गया। इसमें यह प्रावधान था कि यदि किसी राजनैतिक दल के 1/3 या उससे अधिक सदस्य उस दल को छोड़ने का निर्णय लेते हैं तो इसे दल-विभाजन (Party Split) समझा जाएगा और उनकी सदस्यता पर कोई आंच नहीं आएगी। अब यह प्रावधान समाप्त कर दिया गया है।

92वां संशोधन, 2003

इस संशोधन द्वारा डोगरी, मैथिली, संथाली और बोडो भाषाओं को आठवीं अनुसूची में शामिल कर लिया गया है। परिणामस्वरूप सरकारी भाषाओं (Official Languages) की संख्या 22 हो गई है।

6.7 संविधान संशोधनों के लक्ष्य – एक समीक्षा

विश्व का सबसे विस्तृत संविधान होने के बाद भी 1950 से अब तक भारत के संविधान में 92 संशोधन किए गए हैं जबकि अमेरिका के संविधान में विगत 200 से अधिक वर्षों में केवल 26 संशोधन हुए हैं।

यह उल्लेखनीय है कि 1950 से 1970 तक संविधान में केवल 23 संशोधन किए गए जबकि 1971 से 1976 तक 19 संशोधन, 1977 से 1979 तक जनता शासन काल में दो संशोधन, 1980 से 1990 तक 21 और 1991 से 2003 तक 27 संशोधन किए गए हैं। इन आंकड़ों से यह स्पष्ट होता है कि संविधान में सबसे ज्यादा संशोधन 1971 से 1976 के बीच किए गए जब श्रीमती गांधी का नेतृत्व अपनी चरम सीमा पर था। पाँच वर्षों का यह समय "सांविधानिक विवादों का काल" था। इसी अवधि में मूल अधिकारों के संशोधन को लेकर संसद और न्यायपालिका के बीच गंभीर टकराव हुए; संपत्ति के अधिकार पर निरन्तर प्रहार हुए; प्रधानमंत्री श्रीमती गांधी का चुनाव अवैध घोषित हुआ; नीति–निदेशक सिद्धान्तों को मूल अधिकारों पर प्राथमिकता देने के प्रयास हुए; देश में राष्ट्रीय आपात की घोषणा की गई; लोक सभा का कार्यकाल बढ़ा और 42वें संशोधन के रूप में एक नया संविधान बना दिया गया जिसने संविधान के चेहरे को ही बदल दिया। लोक सभा में पूर्ण बहुमत मिलने और कांग्रेस पार्टी पर पूर्ण आधिपत्य और अंकुश स्थापित हो जाने के कारण श्रीमती गांधी राष्ट्र–व्यापी आलोचना के बाद भी संविधान में इतने आमूल परिवर्तन करने में सफल रहीं।

1952 से 2005 तक संविधान में जो संशोधन किए गए उन्हें मुख्य रूप से तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है :

(1) वह संशोधन जो न्यायपालिका द्वारा दिए गए निर्णयों में उठायी गई आपत्तियों के निराकरण हेतु किए गए।

(2) वह संशोधन जो स्वयं संसद की पहल पर सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों में परिवर्तन लाने तथा कल्याणकारी राज्य की स्थापना के लिए किए गए।

(3) वह संशोधन जो मात्र व्यक्तिगत राजनैतिक कारणों अथवा किसी स्थानीय और सामयिक समस्या के निराकरण के लिए किए गए।

1952 से 1970 तक किए गए अधिकांश संशोधनों का उद्देश्य विभिन्न न्यायिक निर्णयों द्वारा उठाई गई आपत्तियों को दूर करना था। स्वयं पहला संशोधन इसलिए किया गया कि चम्पाकम दोराई राजन के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने मद्रास सरकार द्वारा राज्य के मेडिकल कालेजों में प्रवेश के हेतु पिछड़े वर्ग के लिए किए गए आरक्षण को समानता के मूल अधिकार के प्रतिकूल घोषित किया। इसी प्रकार अनुच्छेद 31 में किए गए संशोधनों के मूल में भी न्यायिक निर्णय प्रमुख कारक थे।

1967 के बाद संविधान में संशोधन के विषय में न्यायपालिका और संसद के बीच जो वैधानिक विवाद अथवा संकट उत्पन्न हुआ उसके परिणामस्वरूप 1971 से 1977 के बीच संविधान में ऐसे मौलिक परिवर्तन किए गए जो निःसंदेह संविधान–निर्माताओं के मन्तव्य से परे थे। कुछ विधिवेत्ताओं ने इन संशोधनों को 'संविधान का विकार' (Subversion of the Constitution) की संज्ञा दी।

संविधान के 24वें, 25वें और मुख्य रूप से संविधान के 42वें संशोधन ने संविधान के आधारभूत ढांचे को ही बदल डालने का प्रयास किया और जब न्यायपालिका ने, संविधान के संरक्षक होने की हैसियत से, उसमें हस्तक्षेप करना चाहा तो उस पर रुढ़िवादी होने का आरोप लगाया गया और उसकी न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति को चुनौती दे दी गई। 1971 के बाद में हुए संविधान के 24वें, 25वें, 39वें और 42वें संशोधनों तथा न्यायाधीशों के अधिलांघन (Supersession of Judges) की घटनाओं से यह निष्कर्ष निकालना गलत न होगा कि इन संशोधनों के पीछे कहीं न कहीं ''बदले का मनोविज्ञान'' (Psychology of revenge) प्रेरक बना। श्रीमती गांधी न्यायपालिका को उसके द्वारा दिए गए कुछ निर्णयों के लिए दंडित करना चाहती थीं और संसद (व्यावहारिक रूप से मंत्रिमंडल/प्रधानमंत्री) की सर्वोच्चता स्थापित करना चाहती थीं। इसीलिए 24वें संशोधन के द्वारा संसद को संविधान में किसी प्रकार का संशोधन करने का अधिकार दे दिया गया और 42वें संशोधन ने संशोधन–अधिनियमों को न्यायिक पुनरावलोकन के क्षेत्र से बाहर कर दिया। यही नहीं 42वें संशोधन के द्वारा स्वयं न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति को भी सीमित कर दिया गया।

1971 के बाद के संशोधनों का एक दूसरा पक्ष भी विचारणीय है। इस अवधि में किए गए कुछ संशोधन एक ओर संविधान के विकार का कारण बने वहीं कुछ संशोधन सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन का साधन बने। श्रीमती गांधी के समाजवाद स्थापित करने के लक्ष्य को दृष्टिगत रखते हुए नीति–निदेशक सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने के लिए संविधान में कुछ अत्यधिक महत्वपूर्ण संशोधन किए गए। कुछ नीति–निदेशक सिद्धान्तों को मूल अधिकारों के रूप में मान्यता दी गई। पूँजीवादी व्यवस्था को कमजोर करने और आर्थिक विषमताओं को कम करने के उद्देश्य से अनुच्छेद 39 बी0सी0 के निदेशों को मूल अधिकारों पर प्रधानता दी गई। संपत्ति के अधिकार को मूल अधिकार के रूप में समाप्त कर दिया गया। किसानों के शोषण को रोकने के लिए विभिन्न भूमि–सुधार अधिनियमों को संविधान द्वारा संरक्षण प्रदान किया गया। महिलाओं, बच्चों, मजदूरों, सामाजिक और शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े व्यक्तियों और वर्गों के उत्थान के लिए नीति–निदेशक सिद्धान्तों में नए प्रावधान जोड़े गए। अनुच्छेद 21में दिए गए जीवन और दैहिक स्वतंत्रता के अधिकार को अन्य मूल अधिकारों पर इतनी प्रमुखता या वरीयता दी गई कि उसे आपातकाल में भी स्थगित नहीं किया जा सकता। शिक्षा*, काम पाने के अधिकार, पर्यावरण–संरक्षण; निःशुल्क विधिक सहायता आदि को नीति–निदेशक सिद्धान्तों का अंग बना दिया गया। एक कल्याणकारी राज्य के लक्ष्य के प्रति वैधानिक वचनबद्धता को प्रदर्शित करने के लिए संविधान की उद्देशिका में भारत को समाजवादी राज्य घोषित किया गया। आधुनिक राजनैतिक व्यवस्था के मूल्यों के अनुरूप संविधान की उद्देशिका में भारत को पंथ–निरपेक्ष राज्य घोषित किया गया। ग्रामीण जनता की राजनैतिक भागीदारी बढ़ाने और स्थानीय विकास स्थानीय जनता के माध्यम से करने के लिए पंचायती राज व्यवस्था को शासन के तृतीय अंग के रूप में संविधान का अटूट अंग बना दिया गया। शहरी विकास के लिए नगर निगमों नगर पालिकाओं आदि स्थानीय शासन की इकाइयों को भी 74वें संशोधन द्वारा सांविधानिक दर्जा प्रदान किया गया।

**(86वें संशोधन द्वारा 6 वर्ष से 14 वर्ष की आयु के सभी बालकों को निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था को मूल अधिकारों में सम्मिलित कर लिया गया है। अनुच्छेद45 में छह वर्ष से कम आयु के बालकों की शिक्षा की व्यवस्था करने का निर्देश दिया गया है।)*

1971 से 1976 तक जो संशोधन किए गए उनका मूल उद्देश्य संसद की शक्तियों को बढ़ाना और

न्यापालिका की शक्तियों की सीमित करना था। उदाहरण के लिए संसद को मूल अधिकारों सहित पूरे संविधान में संशोधन करने का अधिकार देना; संशोधनों को न्यायिक पुनरावलोकन से मुक्त कर देना; न्यायिक पुनरावलोकन पर विभिन्न प्रतिबंध लगाना (42वां संशोधन) आदि स्पष्ट रूप से न्यायपालिका पर संसद की सर्वोच्चता स्थापित करने के साथ ही संविधान को भी संसद की इच्छा का पात्र बना देते हैं।

कतिपय संविधान-संशोधनों के द्वारा राष्ट्रपति की शक्तियों को भी प्रतिबंधित किया गया। उदाहरण के लिए संविधान के अनुच्छेद 74 में संशोधन करके राष्ट्रपति के लिए मंत्रिपरिषद के परामर्श को मानना आवश्यक ठहराया गया। यह भी प्रावधान किया गया कि राष्ट्रपति अनुच्छेद 352 के अधीन राष्ट्रीय आपात की उद्घोषणा मंत्रिपरिषद् के लिखित परामर्श पर ही करेगा। संविधान-संशोधन विधेयकों के संबंध में राष्ट्रपति को बिल्कुल शक्तिहीन कर दिया गया और अनुच्छेद 368 में यह प्रावधान कर दिया गया कि किसी भी संशोधन-विधेयक पर राष्ट्रपति अपनी स्वीकृति देने से इंकार नहीं कर सकता। राष्ट्रपति की आपातकालीन शक्तियों पर संसदीय नियंत्रण बढ़ा दिये गये। संक्षेप में सांविधानिक संशोधनों का लक्ष्य वैधानिक दृष्टि से संसद की शक्तियों को बढ़ाना किन्तु व्यावहारिक रूप से मंत्रिपरिषद और निहित रूप से प्रधानमंत्री की शक्तियों को विस्तृत करना था। ऐसा लगता है कि यदि श्रीमती गांधी और न्यायपालिका के बीच मूल अधिकारों के संशोधन को लेकर टकराव न हुआ होता तो शायद संविधान में इतने ज्यादा और इतने आधारिक संशोधन न किए जाते।

इस तथ्य से भी इंकार नहीं किया जा सकता कि संविधान-संशोधन को दलीय या व्यक्तिगत हितों की पूर्ति के साधन के रूप में भी इस्तेमाल किया गया। संविधान का 39वां संशोधन इसका ज्वलंत उदाहरण है। यह संशोधन तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी के चुनाव को इलाहाबाद उच्च न्यायालय के द्वारा अवैध घोषित करने वाले निर्णय को शून्य प्रभावी करने के लिए किया गया था।

6.8 सारांश

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 368 में संविधान में संशोधन करने की प्रक्रिया का उल्लेख किया गया है। संविधान के कुछ अनुच्छेदों में संसद साधारण बहुमत से संशोधन कर सकती है जबकि अधिकांश भागों में संशोधन के लिए एक विशेष प्रक्रिया निर्धारित की गई है। इसीलिए यह कहा जाता है कि भारत का संविधान लचीला और कठोर दोनों हैं।

1950 से 1967 तक संसद, अनुच्छेद 368 में निर्धारित प्रक्रिया के अनुसार संविधान में संशोधन करती रही और इस संबंध में कोई समस्या उत्पन्न नहीं हुई। 1967 में पहली बार न्यायपालिका ने संसद की संशोधन-शक्ति को चुनौती दी और गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि संसद संविधान के भाग 3 (मूल अधिकारों) के संशोधन नहीं कर सकती। इस निर्णय से उत्तेजित संसद ने 1971 में संविधान के 24वें संशोधन के द्वारा अनुच्छेद 368 को ही संशोधित कर दिया और उसमें स्पष्ट रूप से यह प्रावधान कर दिया कि संसद मूल अधिकारों सहित पूरे संविधान में अनुच्छेद 368 द्वारा निर्धारित प्रक्रिया के अनुसार संशोधन कर सकती है। केशवानन्द भारती के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने यह तो स्वीकार कर लिया कि संसद भाग 3सहित संविधान में संशोधन कर सकती है लेकिन न्यायालय ने यह कहा कि संसद संशोधन के द्वारा संविधान के आधारिक सिद्धान्तों या उसके मूल ढांचे को नहीं बदल सकती। 1976 में 42वें संशोधन के द्वारा दूसरी बार अनुच्छेद 368 में संशोधन करके यह प्रावधान कर दिया गया कि किसी भी संविधान-संशोधन को किसी न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती। इस प्रकार संसद ने अपनी संशोधन-शक्ति को पुनः अप्रतिबंधित रखने का प्रयास किया और मूल ढांचा सिद्धान्त को निष्प्रभावी

बना दिया। 1980 में मिनर्वा मिल्स मुकदमें में सर्वोच्च न्यायालय ने 42वें संशोधन के उपर्युक्त प्रावधान को असंवैधानिक घोषित कर दिया। वर्तमान स्थिति यह है कि संसद संविधान में संशोधन करने के लिए सक्षम है किन्तु किसी भी संशोधन को न्यायपालिका में इस आधार पर चुनौती दी जा सकती है कि उससे संविधान के मूल ढाँचे का अतिक्रमण होता है। दूसरे शब्दों में संविधान–संशोधन की संवैधानिकता को निर्धारित करने की अन्तिम शक्ति न्यायपालिका के पास है।

विगत 55 वर्षों में संविधान में 92 संशोधन किए गए हैं। इनमें से कुछ संशोधन देश की सांविधानिक, आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन लाने के उद्देश्य से किए गए। उदाहरण के लिए संविधान के 25वें संशोधन द्वारा एक नई अर्थव्यवस्था स्थापित करने के लिए अनुच्छेद 39 बी० सी० (नीति–निदेशक सिद्धान्त) की मूल अधिकारों पर प्रधानता स्थापित की गई। 42वें संशोधन द्वारा संसद की सर्वोच्चता स्थापित करने का प्रयास किया गया। 44वें संशोधन ने संपत्ति के अधिकार को मूल अधिकारों से हटाकर, समाजवाद लाने का रास्ता साफ कतर दिया। 42वें और 44वें संशोधनों ने आर्थिक और सामाजिक न्याय की स्थापना के लिए कुछ नए नीति–निदेशक सिद्धान्तों को भाग 4 में जोड़ दिया। 52वें संशोधन द्वारा दल–परिवर्तन को रोकने का प्रयास किया गया। संविधान के 73वें और 74वें संशोधनों ने पंचायती राज व्यवस्था तथा शहरी-स्वशासन की इकाइयों को सांविधानिक इकाइयां बनाकर राजनैतिक व्यवस्था में जन साधारण की, विशेषकर समाज के पिछड़े वर्गों और महिलाओं की, भागीदारी को सुनिश्चित किया है। इस प्रकार आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन लाने में संविधान–संशोधन एक मौलिक और महत्वपूर्ण उपकरण सिद्ध हुआ है।

6.9 संदर्भ ग्रन्थ/उपयोगी पुस्तकें

1. Markandan, K. C.; The Amending Process and the constitutional Amendments in the Indian Constitution.
2. Hari Chand; The Amending Process in the Indian Constitution.

3.10 संबंधित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. भारतीय संविधान में संशोधन करने की **प्रक्रिया का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।**
2. संविधान में संशोधन करने के विषय में संसद और न्यायपालिका के बीच उत्पन्न हुए विवाद का संक्षेप में वर्णन कीजिए ?
3. संविधान के 42वें संशोधन द्वारा न्यायपालिका की शक्तियों और क्षेत्राधिकार के संबंध में क्या परिवर्तन किए गए ?
4. संविधान के संशोधन के संदर्भ में संविधान के मूल ढांचा सिद्धान्त का परीक्षण कीजिए ?
5. संविधान के 44वें संशोधन के मुख्य प्रावधानों का वर्णन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. भारतीय संविधान में संशोधन की विभिन्न विधियां क्या हैं ?
2. संविधान में सबसे विस्तृत संशोधन कब किया गया था और क्यों ?
3. किस संशोधन द्वारा संपत्ति के अधिकार को मूल अधिकारों से निकाल दिया गया।

4. क्या संसद को संविधान में संशोधन करने का असीमित अधिकार है ?

5. संविधान–संशोधन के मामले में राज्यों की क्या भूमिका है ?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. भारतीय संविधान में संशोधन करने की प्रक्रिया का उल्लेख किस अनुच्छेद में किया गया है?

   (अ) अनुच्छेद 32

   (ब) अनुच्छेद 352

   (स) अनुच्छेद 192

   (द) अनुच्छेद 368

2. निम्न में से कौन सा कथन सही है ?

   (अ) संसद संविधान के कुछ अनुच्छेदों में साधारण बहुमत से संशोधन कर सकती है।

   (ब) संविधान में संशोधन करने वाले प्रत्येक विधेयक को संसद के 2/3 बहुमत से पारित होना अनिवार्य है।

   (स) भारतीय संविधान में संशोधन का प्रस्ताव किसी राज्य–विधानमण्डल द्वारा भी पारित किया जा सकता है।

   (द) समस्त संशोधनों को कम से कम आधे राज्य **विधानमण्डलों द्वारा** अनुमोदित किया जाना आवश्यक है।

3. सबसे पहले किस सांविधानिक-संशोधन द्वारा अनुच्छेद 368 में संशोधन **करके यह** प्रावधान किया गया कि संसद मूल अधिकारों सहित पूरे संविधान में संशोधन कर सकती है ?

   (अ) 17वां संशोधन

   (ब) 24वां संशोधन

   (स) 28वां संशोधन

   (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं

4. निम्न में से किस प्रावधान को संशोधित करने के लिए राज्य–विधानमण्डलों की स्वीकृति की आवश्यकता नहीं है ?

   (अ) राज्यों के नामों में परिवर्तन

   (ब) न्यायपालिका का गठन

   (स) राष्ट्रपति की चुनाव प्रणाली

   (द) राज्यों की कार्यपालिका शक्ति

5. निम्न में से कौन कथन सही है ?

   (अ) संशोधन–विधेयक पर राष्ट्रपति की स्वीकृति लेने की आवश्यकता नहीं है।

   (ब) संशोधन–विधेयक पर राष्ट्रपति के लिए अपनी स्वीकृति देना अनिवार्य है।

   (स) राष्ट्रपति, अन्य विधेयकों की तरह, संशोधन–विधेयक को भी पुर्नविचार हेतु संसद

को वापस कर सकता है।

(द) उपर्युक्त में से कोई नहीं

6.11 प्रश्नोत्तर

1. द,
2. अ
3. ब
4. अ
5. ब

NOTES

NOTES

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय

MAPS-107
भारतीय शासन और राजनीति

खण्ड

3

संघीय शासन

इकाई 7

राष्ट्रपति 5

इकाई 8

प्रधानमंत्री और मंत्रिपरिषद 21

इकाई 9

संसद 35

इकाई 10

सर्वोच्च न्यायालय 56

विशेषज्ञ समिति

प्रो. आर.के. मणि त्रिपाठी अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष दीन दयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय गोरखपुर	विषय विशेषज्ञ
प्रो. एल.डी. ठाकुर अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष राजनीतिशास्त्र विभाग लखनऊ विश्वविद्यालय लखनऊ	विषय विशेषज्ञ
प्रो. एस.एम. सईद राजनीतिशास्त्र विभाग लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ	विषय विशेषज्ञ
डॉ. मंजूलिका श्रीवास्तव रीडर, इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय नई दिल्ली	दूरस्थ शिक्षा विशेषज्ञ
प्रो. एस. के. द्विवेदी राजनीति शास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय लखनऊ	सम्पादक

परामर्श समिति

प्रो. केदार नाथ सिंह यादव, कुलपति	अध्यक्ष
डॉ. हरीश चन्द्र जायसवाल, वरिष्ठ परामर्शदाता	कार्यक्रम संयोजक
प्रो. के. पी. सिंह, वरिष्ठ परामर्शदाता	सदस्य
डॉ. अर्जुन तिवारी, वरिष्ठ परामर्शदाता	सदस्य
प्रो. ए.यन. द्विवेदी, वरिष्ठ परामर्शदाता	सदस्य
डॉ. रत्नाकर शुक्ला, कुलसचिव	सचिव

PGPS-04 :– भारतीय शासन और राजनीति

लेखक मण्डल

खण्ड एकः	**प्रो. एस.एम. सईद**, राजनीति शास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ	3 इकाई
खण्ड दोः	**प्रो. एस.एम. सईद**, राजनीति शास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ	3 इकाई
खण्ड तीनः	**प्रो. बी.के. तिवारी**, राजनीति शास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ	4 इकाई
खण्ड चारः	**डॉ. वी.के. राय, रीडर**, राजनीति शास्त्र विभाग, इला. विश्वविद्यालय, इलाहाबाद	3 इकाई
खण्ड पाँचः	**डॉ. एम. शाहिद, रीडर**, राजनीति शास्त्र विभाग, इला. विश्वविद्यालय, इलाहाबाद	4 इकाई

© **उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन** मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सर्वाधिकार सुरक्षित, इस कार्य का कोई भी अंश उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद **की लिखित अनुमति के बिना** मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुति अनुमति नहीं है।

दूरस्थ शिक्षा परिषद नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित

खण्ड 3 का परिचय : संघीय शासन

इस खण्ड का उद्देश्य भारत में केन्द्र (संघ) सरकार का अध्ययन करना है, इस खण्ड के अन्तर्गत सम्मिलित इकाईयाँ भारत के संविधान के भाग V में वर्णित हैं, भारत के संविधान के भाग V का शीर्षक ही The Union अर्थात् संघ सरकार है, जैसा कि सर्वविदित है सरकार के तीन अंग क्रमशः कार्यपालिका, व्यवस्थापिका तथा न्याय पालिका होते हैं, भारत के संविधान में भाग V के अन्तर्गत कुल पाँच अध्याय प्राविधित हैं, इनमें से अध्याय–1 कार्यपालिका शीर्षक के अन्तर्गत क्रमशः राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, मंत्रिपरिषद, भारत के महान्यायवादी एवम् सरकार के क्रियाकलापों के संचालन का वर्णन (अनुच्छेद 52 से 78 तक) किया गया है। अध्याय–II का शीर्षक Parliament अर्थात् संसद है। अनुच्छेद (79–122) के अन्तर्गत इस अध्याय में संसद की संरचना, दोनों सदनों के संगठन, संसद के पदाधिकारी, कार्य संचालन, सदस्यों की अयोग्यताऐं, संसद तथा सांसदों की शक्तियाँ विशेषाधिकार तथा उन्मुक्तियां तथा विधायी प्रक्रिया (वित्तीय मामलों सहित) का वर्णन किया गया है। अध्याय–III के अन्तर्गत अनुच्छेद 123 में राष्ट्रपति की विधायी शक्तियों को स्पष्ट किया गया है। अध्याय IV का शीर्षक संघीय न्याय पालिका है। भारतीय संघ का एक ही न्यायालय भारत का सर्वोच्च न्यायालय है। इस अध्याय में अनुच्छेद 124–147 के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय के संगठन, न्यायाधीशों की नियुक्तियां तथा न्यायालय के क्षेत्राधिकार का विस्तार से वर्णन किया गया है। इस भाग का अन्तिम अध्याय, अध्याय V भारत के नियंत्रक एवम् महालेखा परीक्षक अनुच्छेद (148–151) का वर्णन करता है।

भारतीय राजनीति एवम् शासन के किसी भी अध्ययनकर्त्ता के लिए भारत की संघ व्यवस्था के केन्द्र अर्थात् भारत की संघ सरकार के सैद्धान्तिक, संवैधानिक एवम् व्यावहारिक पक्षों का ज्ञान अपरिहार्य है। इस खण्ड के अन्तर्गत इन्हीं विषयों का अध्ययन किया जा रहा है।

इकाई–7 राष्ट्रपति

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 भारत का राष्ट्रपति

7.3 राष्ट्रपति का निर्वाचन

7.4 राष्ट्रपति का कार्यकाल

7.5 राष्ट्रपति की योग्यताएँ तथा शर्तें

7.6 महाभियोग

7.7 राष्ट्रपति की शक्तियाँ

7.8 राष्ट्रपति की संवैधानिक स्थिति

7.9 भारत का उपराष्ट्रपति

7.10 उपराष्ट्रपति का निर्वाचन

7.11 कार्यकाल

7.12 उपराष्ट्रपति के कार्य

7.13 सारांश

7.14 उपयोगी पुस्तकें

7.15 संबंधित प्रश्न

7.16 प्रश्नोत्तर

7.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

- भारत के राष्ट्रपति पद की संवैधानिक स्थिति का वर्णन कर सकेंगे,
- उनकी शक्तियों कार्यों तथा राजनीतिक व्यवस्था में उनकी भूमिका का उल्लेख कर सकेंगे,
- भारत में उपराष्ट्रपति के पद की संवैधानिक स्थिति का वर्णन कर सकेंगे,
- उपराष्ट्रपति की कार्यों का उल्लेख कर सकेंगे।

7.1 प्रस्तावना

भारत का राष्ट्रपति संघ की कार्यपालिका का प्रधान होने के साथ ही संघ की संसद का अभिन्न अंग, न्याय का स्रोत तथा देश की सेनाओं का प्रमुख भी है। संघ की सरकार के सभी कार्य उसी के नाम से किये जाते हैं। भारत में संसदीय शासन प्रणाली को अपनाये जाने के कारण राष्ट्रपति राज्य का अध्यक्ष है और वास्तविक कार्यपालिका-प्रधान भारत का प्रधानमंत्री होता है। भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में राष्ट्रपति की एक विशिष्ट संवैधानिक स्थिति है।

भारत के संविधान के अनुच्छेद 52 द्वारा भारत के संघीय शासन की कार्यपालिका-शक्तियाँ भारत के राष्ट्रपति में विहित की गई है। इस इकाई के अन्तर्गत हम भारत के राष्ट्रपति पद की संवैधानिक स्थिति, कार्यपालिका अध्यक्ष के रूप में उसकी शक्तियों, कार्यों तथा भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में उसकी भूमिका का अध्ययन करेंगे।

7.2 भारत का राष्ट्रपति

भारतीय संविधान निर्माताओं द्वारा भारत के लिए एक संसदीय शासन व्यवस्था का प्रावधान किया गया है। स्पष्ट है कि संसदीय व्यवस्था के निमित्त ब्रिटिश व्यवस्था को आधारभूत माना गया। परन्तु ब्रिटिश राजतंत्र से भिन्न एक गणतंत्रीय व्यवस्था को अपनाया गया। एक प्रजातांत्रिक व्यवस्था के अंतर्गत जनता ही समस्त राजनीतिक शक्ति का स्रोत होती है अतः एक गणतंत्रीय व्यवस्था प्रजातांत्रिक भावना के सर्वथा अनुरूप है। भारत का राष्ट्रपति भारतीय गणतंत्र का प्रतीक है और संविधान के अनुच्छेद 52 तथा 53 क्रमशः यह प्राविधान करते हैं कि भारत का एक राष्ट्रपति होगा तथा यह कि भारतीय संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति पद में निहित होगी, जिसका प्रयोग वह प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से अपने अधीनस्थ अधिकारियों के माध्यम से संविधान के अनुरूप करेगा। राष्ट्रपति राज्य के प्रतिरक्षा (सैन्य) बलों का भी प्रधान होगा एवं ऐसी शक्तियों का प्रयोग कानून द्वारा निर्धारित किया जाएगा। अनुच्छेद 53 द्वारा निर्धारित प्रावधान यह भी स्पष्ट करते हैं कि भारतीय संघ के राज्य अथवा किसी अन्य सत्ता को कानून द्वारा प्रदत्त शक्तियाँ राष्ट्रपति को हस्तांतरित नहीं समझी जाएंगी। साथ ही यह भी कि राष्ट्रपति संसद को कानून निर्माण द्वारा किन्हीं कार्यों को राष्ट्रपति के अतिरिक्त किसी अन्य सत्ता को स्थानान्तरित करने में नहीं रोक सकता।

संघ की कार्यपालिका शक्ति सामान्यतः संघ की व्यवस्थापिका शक्तियों के साथ सह-अस्तित्व में रहती हैं। यह बात संविधान के अनुच्छेद 73 के अध्ययन से स्पष्ट हो जाती है जिसमें यह कहा गया है कि–

1. इस संविधान के प्रावधानों के अधीनस्थ संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार–
   - (a) उन सभी विषयों के संबंध में होगा जिनमें संसद को कानून निर्माण की शक्ति प्राप्त है,
   - (b) भारत की सरकार द्वारा की गयी किसी संधि अथवा किसी समझौते के अंतर्गत प्राप्त अधिकारों, सत्ता अथवा क्षेत्राधिकार के संबंध में भी प्राप्त होगी।

7.3 राष्ट्रपति का निर्वाचन

संविधान के अनुच्छेद 54 द्वारा यह बताया गया है कि राष्ट्रपति का चुनाव एक निर्वाचक मण्डल द्वारा होगा। जिसमें–

- (a) संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य तथा
- (b) राज्यों की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्य शामिल होंगे।

उपर्युक्त प्रावधान से स्पष्ट है कि राष्ट्रपति पद के निर्वाचन में राज्यों की सहभागिता सुनिश्चित है।

अनुच्छेद 55 राष्ट्रपति के चुनाव की विधि का वर्णन करता है। इस व्यवस्था के अंतर्गत यह दर्शाया गया है कि जहाँ तक व्यावहारिक होगा विभिन्न राज्यों के मध्य राष्ट्रपति के निर्वाचन में प्रतिनिधित्व संबंधी एकरूपता स्थापित की जाएगी। साथ ही राज्यों और केन्द्र के मध्य भी समता रहेगी। ऐसा सुनिश्चित करने के लिए प्रत्येक संसद सदस्य तथा प्रत्येक राज्य की विधानसभा के सदस्य के मत की कुल कीमत का निर्धारण निम्नलिखित सूत्र द्वारा निर्धारित किया जाता है--

एक राज्य विधानसभा के प्रत्येक सदस्य के मत की कुल कीमत का निर्धारण करने हेतु निम्नलिखित

$$\frac{\text{राज्य की जनसंख्या}}{\text{राज्य विधानसभा के निर्वाचित सदस्यों की कुल संख्या} \times 1000}$$

(i) अर्थात् किसी एक विधान सभा के सदस्य द्वारा राष्ट्रपति के चुनाव हेतु जो मत दिया जायेगा। उसकी गिनती एक मत की न होकर उक्त सूत्र से प्राप्त संख्या के बराबर होगी।

उदाहरण के लिए यदि किसी राज्य की जनसंख्या एक करोड़ है और उस राज्य से विधान सभा के कुल निर्वाचित सदस्यों की संख्या 100 है, तो उस राज्य के प्रत्येक विधायक, जो कि राष्ट्रपति के चुनाव में अपना मत डालेगा के मत का कुल मूल्य होगा–

$$\frac{1,00,00,000}{100 \quad 1000} \quad 10$$

(ii) अर्थात् यदि राष्ट्रपति के निर्वाचन के समय उक्त सूत्र से समस्त राज्यों की विधान सभाओं के सदस्यों के कुल मतों का योग दस लाख हो तथा संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों की संख्या 800 हो तो प्रत्येक संसद सदस्य के मत का मूल्य होगा–

$$\frac{10,00,000}{800} \quad 125$$

एक सांसद के कुल मतों के मूल्य का निर्धारण निम्न सूत्र से होता है–

$$\frac{\text{सभी विधानसभाओं के समस्त निर्वाचित सदस्यों के मतों के मूल्य का कुल योग}}{\text{संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों की संख्या का कुल योग}}$$

राष्ट्रपति पद हेतु निर्वाचन के लिए आनुपातिक प्रतिनिधित्व की एकल संक्रमणीय मत प्रणाली का प्रावधान किया गया है। साथ ही गुप्त मतदान के अधिकार की बात भी कही गयी है। इस प्रणाली में प्रत्येक मतदाता उम्मीदवार को अपना मत प्राथमिकता के आधार पर अंकित करता है। मतगणना में पहले इसे वरीयता के मतों की गिनती की जाती है यदि किसी व्यक्ति को निर्धारित कोटा प्राप्त हो जाता है वो वह निर्वाचित हो जाता है अन्यथा द्वितीय वरीयता के प्राप्त मतों का हस्तांतरण किया जाता है। राष्ट्रपति पद के निर्वाचन के लिए अपनायी गयी आनुपातिक प्रतिनिदित्व प्रणाली, सिद्धान्ततः एक बहु सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र हेतु विकसित की गयी थी अतः एक ही पद के निर्वाचन के लिए इस व्यवस्था को अपनाया जाना थोड़ा विचित्र लगता है परन्तु संविधान सभा ने इस प्रणाली के बारे में कोई वाद-विवाद नहीं किया। संभवतः यह जानकर कि यह व्यवस्था अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने की सर्वोत्तम व्यवस्था समझी गयी थी, साथ ही यह भी कि इस प्रणाली से चुना गया राष्ट्रपति वह व्यक्ति होगा जिसने कुल डाले गये मतों का बहुमत 50% + 1 मत प्राप्त किया होगा।

7.4 राष्ट्रपति का कार्यकाल

राष्ट्रपति अपना पद ग्रहण करने की तिथि से पाँच वर्ष तक के लिए निर्वाचित किया जाता है। इससे पूर्व वह उपराष्ट्रपति को हस्तलिखित रूप में अपना त्यागपत्र भेजकर पदमुक्त हो सकता है अथवा

'संविधान के उल्लंघन' के आरोप में महाभियोग की विधि से अपदस्थ किया जा सकता है। राष्ट्रपति पांच वर्ष की पदावधि पूर्ण करने के बाद उस समय तक अपने पद पर बना रहता है जब तक कि उसके उत्तरादिकारी के रूप में नवनिर्वाचित राष्ट्रपति अपना पद भार ग्रहण न कर लें।

संविधान के अनुच्छेद 57 द्वारा पदासीन राष्ट्रपति अथवा पूर्व में कार्यरत राष्ट्रपति के पुनर्निर्वाचन हेतु पात्रता को स्वीकारोक्ति दी गयी है। यद्यपि संविधान यह स्पष्ट नहीं करता कि अधिकतम कितने कार्यकालों हेतु कोई व्यक्ति राष्ट्रपति रह सकता है।

7.5 राष्ट्रपति पद की योग्यताएँ तथा शर्तें

संविधान के अनुच्छेद 58 में राष्ट्रपति के पद हेतु पात्रता एवं अपात्रता दोनों ही का वर्णन किया गया है।

प्रत्येक व्यक्ति जो– (a) भारत का नागरिक हो,

(b) जिसने 35 वर्ष की आयु पूरी कर ली हो, तथा

(c) जो लोकसभा का सदस्य निर्वाचित होने की योग्यता रखता हो।

भारत का राष्ट्रपति बनने का पात्र है। परन्तु कोई ऐसा व्यक्ति जो भारत सरकार अथवा भारतीय संघ के किसी राज्य की सरकार अथवा किसी स्थानीय या अन्य सत्ता जो कि उपर्युक्त किन्हीं सरकारों के नियंत्रण के अधीन हो, के किसी लाभ के पद पर कार्यरत हो राष्ट्रपति पद हेतु पात्रता नहीं रखता।

अनुच्छेद 59 के प्रावधानों के अंतर्गत भारत का राष्ट्रपति संसद के किसी सदन अथवा राज्य विधान सभाओं के किसी सदन का सदस्य नहीं हो सकता। यदि संसद या राज्य विधान सभाओं का कोई सदस्य राष्ट्रपति चुन लिया जाता है तो यह मान लिया जाएगा कि राष्ट्रपति पद का कार्यभार ग्रहण करने की तिथि से उसके द्वारा धारित उक्त पद रिक्त हो गया है। अनुच्छेद 60 में यह निर्धारित है कि प्रत्येक राष्ट्रपति **अथवा** प्रत्येक व्यक्ति जो राष्ट्रपति के रूप में कार्य करेगा अथवा जो राष्ट्रपति के दायित्वों का निर्वहन करेगा, इस पद पर पहुँचने से पूर्व भारत के मुख्य न्यायाधीश अथवा उसकी अनुपस्थिति में सर्वोच्च न्यायालय के उपलब्ध वरिष्ठतम न्यायाधीश के समक्ष पद एवं गोपनीयता की शपथ लेगा। यह शपथ उसके द्वारा अपनी सर्वोच्च योग्यता से संविधान एवं कानून के संरक्षण एवं रक्षण के संबंध में है। साथ ही यह भी कि राष्ट्रपति पद पर कार्यरत रहते हुए वह भारत की जनता की सेवा एवं भलाई हेतु कार्य करेगा।

7.6 महाभियोग

संविधान के अनुच्छेद 61 द्वारा राष्ट्रपति के विरुद्ध संविधान का उल्लंघन करने की दशा में महाभियोग का प्रावधान दर्शाया गया है। इस अनुच्छेद के प्रावधानों के अंतर्गत महाभियोग का प्रस्ताव संसद का कोई भी सदन कर सकता है। बशर्ते उसके लिए राष्ट्रपति को चौदह दिन का लिखित नोटिस ऐसा प्रस्ताव करने वाले सदन की कुल संख्या के एक चौथाई सदस्यों के हस्ताक्षरों से प्रेषित कर दिया गया हो।

ऐसे सदन द्वारा महाभियोग के इस प्रस्ताव को अपनी कुल सदस्य संख्या के दो तिहाई बहुमत से पारित करने की दशा में यह प्रस्ताव संसद के दूसरे सदन को भेज दिया जाता है जो इस प्रस्ताव के उन आरोपों के संदर्भ में जो कि पहले सदन द्वारा लगाया गया हो, जाँच पड़ताल करता है तथा यदि इसके उपरान्त वह सदन भी अपनी कुल सदस्य संख्या के दो तिहाई बहुमत से उपर्युक्त प्रस्ताव को स्वीकृति प्रदान करता है तो यह राष्ट्रपति के विरुद्ध महाभियोग पारित होने की प्रक्रिया की पूर्णता का परिचायक होगा और उसी तिथि से राष्ट्रपति अपने पद से मुक्त समझा जाएगा।

7.7 राष्ट्रपति की शक्तियाँ

संविधान द्वारा संघ की समस्त कार्यपालिका शक्तियाँ राष्ट्रपति पद में निहित की गयी हैं यद्यपि कार्यपालिका शक्तियों को परिभाषित नहीं किया गया है। मोटे तौर पर इनका अभिप्राय नीति निर्धारण तथा उनके कार्यान्वयन से है। शासकीय कार्यों में वृद्धि और राज्य के कार्यक्षेत्र के विस्तार के कारण ऐसा सामान्य विचार है कि ऐसी समस्त शक्तियां जो स्पष्टतः व्यवस्थापिका अथवा न्यायपालिका को प्रदत्त नहीं है, वे कार्यपालिका की ही शक्तियाँ हैं। इस अर्थ में कार्यपालिका की शक्तियाँ अवशिष्ट शक्तियाँ हैं जिनके अंतर्गत व्यवस्थापन का प्रारम्भ, कानून एवं व्यवस्था को बनाए रखना, सामाजिक कल्याण की प्रोन्नति, आर्थिक न्याय की व्यवस्था, वैदेशिक नीति निर्माण आदि सभी विषय सम्मिलित हो जाते हैं।

राष्ट्रपति पद में निहित कार्यपालिका शक्तियाँ तथा संविधान के प्रावधानों द्वारा अभिव्यक्त विधि से राष्ट्रपति पद की शक्तियों को निम्नलिखित रूपों में वर्गीकृत किया जा सकता है–

(1) प्रशासकीय शक्तियाँ–वे कार्यपालिका-कृत्य जिनकी प्रकृति प्रशासनिक होती है विभिन्न मंत्रालयों तथा शासन के विभागों द्वारा संपन्न किए जाते हैं। यह एक संवैधानिक व्यवस्था ही है कि समस्त कार्यपालिका कृत्य राष्ट्रपति के नाम से ही सम्पन्न होते हैं। संविधान के अनुच्छेद 77 की भावना भी यही है कि समस्त आदेश एवं उपकरण जो राष्ट्रपति के नाम से कार्यान्वित किए जाते हैं राष्ट्रपति के ही माने जाते हैं। अनुच्छेद 299 के अंतर्गत भारत सरकार के नाम पर किए जाने वाले समस्त समझौते तथा संपत्ति हस्तान्तरण संबंधी कार्य राष्ट्रपति के नाम से ही किए जाएंगे तथा उन्हें विधि द्वारा निर्धारित रूप में कार्यान्वित किया जाएगा। राष्ट्रपति को ब्रिटिश राजा की तरह सूचना पाने का अधिकार है। यह अधिकार स्वयं में परामर्श देने और चेतावनी देने के अधिकार को समाहित कर लेता है। राष्ट्रपति की प्रशासनिक शक्तियों के अंतर्गत नियुक्तियाँ करने की शक्तियाँ शामिल की जा सकती हैं। राष्ट्रपति निम्नलिखित पदाधिकारियों की नियुक्ति करता है–

1. भारत के प्रधाममंत्री तथा उसकी सलाह पर संघ के अन्य मंत्री,
2. भारत का महान्यायवादी,
3. नियंत्रक और महालेखा परीक्षक,
4. भारत के सर्वोच्च न्यायालय तथा राज्यों के उच्च न्यायालयों के न्यायाधीश,
5. राज्यों, केंद्र शासित प्रदेशों तथा संघ क्षेत्रों के लिए राज्यपाल, उपराज्यपाल तथा प्रशासक
6. वित्त आयोग,
7. संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष एवं अन्य सदस्य,
8. मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा निर्वाचन आयोग के अन्य सदस्य
9. अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति के लिए विशेष अधिकारी
10. भाषायी अल्पसंख्यकों हेतु विशेष अधिकारी

उपर्युक्त सभी नियुक्तियाँ राष्ट्रपति द्वारा मंत्रिपरिषद् की सलाह अथवा ऐसे अधिकारियों की सलाह पर की जाती हैं जो कि संविधान द्वारा प्राविधित हैं। उदाहरण के लिए सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति में भारत के मुख्य न्यायधीश का परामर्श। यह भी ज्ञातव्य है कि राष्ट्रपति उपर्युक्त कुछ पदाधिकारियों को उनके पद से अपदस्थ भी कर सकता है।

(2) सैन्य शक्तियाँ– भारत का राष्ट्रपति भारत की रक्षा सेनाओं का प्रधान सेनापति होता है। सैन्य

बलों के प्रधान के रूप में राष्ट्रपति को युद्ध एवं शांति की घोषणा, सैन्य बलों के संचालन और सेना प्रधानों की नियुक्ति का अधिकार है। स्पष्ट रहे कि इस **क्षेत्र में भारत** के राष्ट्रपति की शक्तियाँ संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति की समकक्षीय नहीं है। हमारे संविधान के अंतर्गत सैन्य बलों का संचालन कानून द्वारा ही किया जा सकता है अर्थात् इस मद में कोई भी खर्च बिना संसद की स्वीकृति के नहीं किया जा सकता।

क्षेत्र में भारत

(3) कूटनीतिक शक्तियाँ–कूटनीतिक शक्ति के अंतर्गत सभ्य राष्ट्रों के मध्य पारस्परिक आचरण तथा अंतर्राष्ट्रीय संगठनों के साथ आचरण को सम्मिलित किया जा सकता है। राष्ट्रपति जहां भारत सरकार के समस्त कूटनीतिक प्रतिनिधियों को नियुक्त करता है वही विदेशी राज्यों द्वारा भारत में नियुक्त कूटनीतिक प्रतिनिधि अपने नियुक्ति संबंधी दस्तावेज एवं परिचय पत्र राष्ट्रपति के समक्ष ही प्रस्तुत करते हैं। कूटनीतिक शक्तियों के अंतर्गत अंतर्राष्ट्रीय संधियाँ करना तथा अंतर्राष्ट्रीय समझौतों की स्वीकारोक्ति भी शामिल है। निस्संदेह इस सम्बंध में अंतिम शक्ति संसद की होती है पर संधि वार्ता राष्ट्रपति के नाम पर ही संचालित होती है। यह भी स्मरणीय है कि ऐसे सभी मामलों में राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद् की सलाह पर कार्य करता है।

(4) विधायिनी शक्तियाँ–यह बात ध्यान में रखने की है कि संविधान के अनुच्छेद 79 में अभिव्यक्त है कि भारत में संसद क्रमशः राष्ट्रपति, राज्यसभा तथा लोकसभा से मिलकर बनती है। संसद के एक घटक के रूप में राष्ट्रपति को विविध शक्तियों के प्रयोग तथा कार्यों के निस्तारण का अधिकार प्राप्त है जो इस प्रकार है–

(i) संसद को आहूत करना,

(ii) संसद के सत्र का विसर्जन तथा

(iii) लोकसभा का विघटन करना (अनुच्छेद 85)

(iv) राष्ट्रपति विशेष परिस्थिति में संसद के दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन का आह्वान कर सकता है (अनुच्छेद 108)

(v) राष्ट्रपति आम निर्वाचन के पश्चात् **संसद की पहली बैठक** तथा प्रति वर्ष संसद के पहले अधिवेशन को संयुक्त रूप से संबोधित करता है। **इसके** अतिरिक्त राष्ट्रपति को संसद के किसी एक सदन अथवा दोनों सदनों को एक साथ संबोधित करने का अधिकार भी प्राप्त है। राष्ट्रपति संसद के किसी भी सदन को किसी विधेयक के संबंध में अथवा अन्यथा संदेश भी भेज सकता है।

(vi) **राष्ट्रपति राज्यसभा में बारह सदस्यों (अनुच्छेद 80) को तथा लोकसभा में आंग्ल भारतीय समुदाय के दो सदस्यों (अनुच्छेद 331) को नामांकित करने का भी अधिकार रखता है।**

(vii) संविधान द्वारा राष्ट्रपति को यह कर्तव्य सौंपा गया है कि वह संसद के समक्ष कतिपय प्रतिवेदन प्रस्तुत कराएगा। **जो निम्नलिखित हैं**–

(a) **वार्षिक वित्तिय विवरण (बजट) (अनुच्छेद 112)**

(b) **नियंत्रक तथा महालेखा परीक्षक का प्रतिवेदन (अनुच्छेद 281)**

(c) **संघ लोक सेवा आयोग का प्रतिवेदन (अनुच्छेद 323)**

(d) **पिछडा वर्ग आयोग का प्रतिवेदन (अनुच्छेद 340)**

(e) **अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के राष्ट्रीय आयोग का प्रतिवेदन (अनुच्छेद 338)**

(viii) **संसद द्वारा पारित प्रत्येक विधेयक राष्ट्रपति का हस्ताक्षर हो जाने के उपरान्त ही कानून बनता**

है। राष्ट्रपति संसद द्वारा पारित विधेयक के संबंध में तीन तरह के अधिकार रखता है--

वह इसे स्वीकृति दे सकता है अथवा अपनी स्वीकृति रोक सकता है अथवा विधेयक को पुनर्विचार हेतु वापस भेज सकता है। इस संबंध में यह बात ध्यान देने की है कि वित्तीय विधेयक पुनर्विचार हेतु सदन को नहीं लौटाया जा सकता। संसद द्वारा पुनर्विचार के पश्चात् पारित विधेयक पर राष्ट्रपति अपनी स्वीकृति देने से इन्कार नहीं कर सकता।

(ix) यह बात उल्लेखनीय है कि संविधान संशोधन संबंधी विधेयक संसद द्वारा पारित किए जाने के विषय में राष्ट्रपति को उपर्युक्त शक्ति प्राप्त नहीं है।

(x) विधायिनी शक्तियों के अंतर्गत ही राष्ट्रपति की अध्यादेश जारी करने की शक्ति भी शामिल है। संविधान के अनुच्छेद 123 द्वारा राष्ट्रपति को संघ की व्यवस्थापन शक्ति की परिधि के अंतर्गत अध्यादेश जारी करने की शक्ति प्राप्त है। ऐसा अध्यादेश किसी भी संघीय कानून के संशोधन सुधार अथवा समाप्ति के संबंध में हो सकता है। परन्तु अध्यादेश के संबंध में निम्नलिखित शर्तें हैं –

(a) कोई भी अध्यादेश उसी समय जारी किया जा सकता है जबकि संसद के दोनों सदन सत्र में न हों पर एक ही सदन के सत्र में न होने की स्थिति में यह जारी किया जा सकता है।

(b) राष्ट्रपति द्वारा जारी अध्यादेशों का प्रभाव वैसा ही होता है जैसा कि संसद द्वारा पारित किसी विधि का परन्तु ऐसे अध्यादेशों का जीवनकाल सीमित होता है क्योंकि

प्रथम–राष्ट्रपति इसे कभी भी वापस ले सकता है, द्वितीय संसद के दोनों सदनों द्वारा प्रस्ताव पारित कर इसे अस्वीकार किया जा सकता है और तृतीय ऐसे अध्यादेश को संसद के समक्ष प्रस्तुत किया जाना होता है और संसद द्वारा अपनी पुनर्बैठक के छह सप्ताहों के भीतर इस पर अपनी स्वीकारोक्ति देना आवश्यक है अन्यथा यह स्वतः ही समाप्त हो जाता है। सामान्यतः संसद नए विधेयक के माध्यम से ऐसे अध्यादेश को प्रतिस्थापित करती है।

(xi) संविधान राष्ट्रपति को यह भी अधिकार देता है कि कुछ विषयों पर विधेयकों को संसद में प्रेषित करने से पूर्व राष्ट्रपति की पूर्वानुमति ले ली जाए, यथा–

(a) नए राज्यों के निर्माण और निवर्तमान राज्यों की सीमाओं व नाम आदि में परिवर्तन संबंधी विधेयक

(b) वित्त विधेयक,

(c) भारत की संचित निधि से व्यय संबंधी प्रस्ताव से संबंधित विधेयक।

इसके अतिरिक्त संविधान के अनुच्छेद 200 के अंतर्गत राज्य के राज्यपाल द्वारा राज्य विधान मण्डल द्वारा पारित किसी विधेयक को अपनी स्वीकृति प्रदान न करके उसे राष्ट्रपति के विचारार्थ भेजा जा सकता है।

(5) न्यायिक शक्तियाँ–

भारत का राष्ट्रपति भी ब्रिटेन के सम्राट की ही तरह न्याय का भी स्त्रोत होता है। जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय तथा राज्यों के उच्च न्यायालयों में न्यायाधीशों की नियुक्ति करता है। राष्ट्रपति कुछ दशाओं में न्यायालयों द्वारा दण्डित अभियुक्तों को क्षमा भी कर सकता है। राष्ट्रपति की क्षमादान की शक्ति के अन्तर्गत सामूहिक क्षमादान, दण्ड के कार्यान्वयन के स्थगन तथा दण्ड की अवधि कम करने से संबंधित शक्तियाँ सम्मिलित है। ये सब निम्न दशाओं में लागू होते हैं-

(i) यदि दण्ड किसी सैनिक न्यायालय द्वारा दिया गया हो,

(ii) यदि दण्ड किसी संघीय अपराध के लिए दिया गया हो, तथा

(iii) प्राणदण्ड दिए जाने की स्थिति में।

(6) राष्ट्रपति सम्मान का स्रोत

राष्ट्र के राज्याध्यक्ष और प्रथम नागरिक की क्षमता में भारत के राष्ट्रपति द्वारा अनेक नागरिक एवं सैनिक पुरस्कार, सम्मान, पदक तथा उपाधियाँ संस्थापित की जाती हैं। इन पुरस्कारों एवं सम्मानों के अंतर्गत भारत रत्न, पद्म विभूषण, पद्म भूषण और पद्म श्री, परमवीर चक्र, महावीर चक्र, वीर चक्र, अशोक चक्र, अति विशिष्ट सेवा पदक, बाल वीरता पुरस्कार आदि शामिल हैं।

(7) आपात कालीन शक्तियाँ

भारत के संविधान का एक संपूर्ण भाग (भाग 18) आपात उपबंधों से संबंधित है। इसके अंतर्गत संघ सरकार की आपातकालीन शक्तियों की व्यवस्था है। इनका प्रयोग संघ सरकार द्वारा राष्ट्रपति के नाम पर किया जाता है, अतः इन्हें राष्ट्रपति की आपातकालीन शक्तियाँ भी कहा जाता है। संविधान में राष्ट्रपति द्वारा आपातकाल लागू करने हेतु निम्नलिखित दशाओं को दर्शाया गया है–

(i) जहाँ भारत की सुरक्षा युद्ध, बाह्य आक्रमण अथवा सशस्त्र विद्रोह से खतरे में हो (अनुच्छेद 352)

(ii) जहाँ राष्ट्रपति को यह संतुष्टि हो जाए कि किसी राज्य का शासन संवैधानिक प्रावधानों के अनुसार चला पाना असंभव हो गया है (अनुच्छेद 356)

(iii) जहाँ भारत की वित्तीय स्थिरता एवं साख को खतरा हो (अनुच्छेद 360)

इन आपातकालों को क्रमशः राष्ट्रीय आपात, राज्यों में संवैधानिक संकट (अतः राष्ट्रपति शासन) तथा वित्तीय आपात के नाम से जाना जाता है।

(a) राष्ट्रीय आपात–राष्ट्रपति द्वारा युद्ध, बाह्य आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह के कारण सम्पूर्ण भारत अथवा उसके किसी भाग की सुरक्षा के संकटग्रस्त होने की दशा में और इस बारे में आश्वस्त हो जाने पर कि गंभीर स्थिति उत्पन्न हो गयी है आपात काल की घोषणा की जा सकती है। मूल संविधान में जहाँ "आंतरिक अव्यवस्था" शब्दावली का प्रयोग किया गया था 44वें संविधान संशोधन द्वारा इसके स्थान पर सशस्त्र विद्रोह का प्रावधान कर दिया गया है। 42वें संविधान संशोधन द्वारा ऐसे आपातकाल की घोषणा पूरे देश अथवा उसके किसी विशिष्ट भाग पर लागू की जा सकती है। इस संबंध में सर्वोच्च न्यायालय ने यह भी अभिनिर्धारित किया है कि आपात स्थिति के उत्पन्न होने की आशंका की दशा में भी आपात काल की घोषणा की जा सकती है। ऐसी आपातकालीन घोषणा में किसी पश्चातवर्ती उद्घोषणा द्वारा परिवर्तन किया जा सकता है अथवा उसे वापस लिया जा सकता है।

यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि संविधान यह स्पष्टतः उल्लेख करता है कि राष्ट्रपति उपरोक्त आपातकालीन उद्घोषणा या उसमें परिवर्तन करने वाली उद्घोषणा संघ के मंत्रिमंडल द्वारा उसे लिखित रूप में ऐसी सलाह दिये जाने के बाद ही करता है (अनु0 352(3))।

42वें संविधान संशोधन द्वारा यह व्यवस्था की गयी थी कि आपात काल की घोषणा की आवश्यकता को न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती परन्तु 44वें संशोधन द्वारा इस प्रतिबंध को समाप्त कर दिया गया। अतः अब आपातकालीन घोषणा की वैधानिकता का प्रश्न विशेषकर इसके पीछे किसी असद्भाव को न्यायालय में उठाया जा सकता है।

आपातकाल की घोषणा जारी होने की तिथि से एक मास के भीतर संसद के दोनों सदनों द्वारा इसका अनुमोदन किया जाना आवश्यक है। यदि इस अवधि से पूर्व लोक सभा भी भंग हो जाए अथवा

घोषणा के समय ही लोकसभा भंग हो तो राज्य सभा के अनुमोदन हो जाने पर ऐसी घोषणा का अनुमोदन नवगठित लोकसभा की प्रथम बैठक के 30 दिन के भीतर हो जाना चाहिए अन्यथा यह निष्प्रभावी हो जाती है। नवगठित लोकसभा इससे पूर्व भी अपने प्रस्ताव से इसे निरस्त कर सकती है।

दोनों सदनों का अनुमोदन हो जाने पर यह घोषणा छह माह तक प्रभावी होती है तथा बार-बार यह अवधि छह माह के लिए बढ़ाई जा सकती है। परन्तु ऐसा प्रस्ताव संसद के प्रत्येक सदन में मतदान करने वाले सदस्यों के दो तिहाई मत और सदन के कुल सदस्यों की आधे से अधिक संख्या द्वारा पारित होना चाहिए। लोक सभा द्वारा किसी भी समय आपातकाल की घोषणा को समाप्त किए जाने की मांग का प्रस्ताव किया जा सकता है। लोकसभा के 1/10 सदस्य इस हेतु विशेष अधिवेशन बुलाए जाने की माँग, यदि लोकसभा सत्र में है तो अध्यक्ष से और यदि लोकसभा का सत्रावसान हो गया है तो राष्ट्रपति से, कर सकते हैं।

आपातकाल की उद्घोषणा के प्रभाव–

आपातकालीन अवधि के निम्नलिखित परिणाम हो सकते हैं–

(i) लोकसभा का कार्यकाल एक वर्ष तक बढ़ाया जा सकता है और एक वर्ष की समाप्ति पर पुनः एक-एक वर्ष तक के लिए यह अवधि बढ़ायी जा सकती है।

(ii) इस अवधि में संसद राज्य सूची के विषयों पर भी कानून बना सकती है (इसका यह अभिप्राय नहीं है कि राज्य व्यवस्था एकात्मक हो जाएगी। राज्य विधान मंडल बने ही रहते हैं पर संसद की विधायिनी शक्तियाँ विस्तृत हो जाती हैं।)

(iii) संघ सरकार आपातकाल की अवधि में राज्यों को उनकी कार्यकारिणी शक्ति के प्रयोग के संबंध में निर्देश दे सकती है कि वे अपनी कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग किस रीति से करें।

(iv) राष्ट्रपति इस काल के दौरान केन्द्र तथा राज्यों के मध्य वित्तीय संबंधों में फेर बदल कर सकता है।

(v) ऐसे आपातकाल की अवधि में मूल अधिकार विशेषकर अनुच्छेद 19 में दी गयी नागरिक स्वतंत्रताएं निलंबित की जा सकती है परन्तु अनुच्छेद 20 और अनुच्छेद 21 से प्राप्त व्यक्तिगत स्वतंत्रताएं राष्ट्रीय आपात काल की घोषणा से अप्रभावित रहती हैं।

b) राज्यों में संवैधानिक तंत्र विफल हो जाने की दशा में आपातकाल :

यद्यपि आपातकाल का यह प्रावधान अनुच्छेद 356 में प्राविधित है तथापि इसे इसके पूर्ववर्ती अनुच्छेद 355 के क्रम में समझा जाना चाहिए। अनुच्छेद 355 संघ पर यह कर्तव्य आरोपित करता है कि वह एक ओर बाह्य आक्रमण तथा आंतरिक अशांति से राज्यों की संरक्षा करे तो दूसरी ओर यह भी सुनिश्चित करे कि प्रत्येक राज्य की सरकार भारत के संविधान के उपबंधों के अनुरूप चलायी जा सकें। इसी क्रम में अनुच्छेद 356 प्रविधित करता है कि यदि राष्ट्रपति को किसी राज्य के राज्यपाल से या अन्यथा, यह समाधान हो जाता है कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी है जिसमें उस राज्य का शासन इस संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है तो राष्ट्रपति उद्घोषणा द्वारा–

(क) उस राज्य की सरकार के सभी या कोई कृत्य और राज्यपाल में या राज्य के विधानमण्डल से भिन्न राज्य के किसी निकाय या प्राधिकारी में निहित या राज्य सरकार द्वारा प्रयोग की जाने वाली सभी अथवा कुछ शक्तियों को अपने हाथ में ले सकेगा।

(ख) राज्य विधानमण्डल का भंग अथवा निलंबित कर उसके कार्यों को संसद को सौंप सकता है।

(ग) राज्य में उच्च न्यायालय के अतिरिक्त किसी भी निकाय अथवा शासन के अंग से

संबंधित संविधान के प्रावधान निलंबित कर सकेगा।

एसी उद्घोषणा किसी पश्चातवर्ती उद्घोषणा द्वारा वापस ली जा सकती है या उसमें परिवर्तन **किया जा सकता है।**

ऐसी उद्घोषणा के लिए यह आवश्यक है कि इसके जारी होने के दो **माह के** भीतर संसद के दोनों सदन इसका अनुमोदन कर दें और यदि इस दो माह की अवधि से पूर्व लोकसभा ही भंग हो जाए तो राज्यसभा का अनुमोदन अवश्य होना चाहिए जिसका नवगठित लोकसभा अपनी प्रथम बैठक के तीस दिन के भीतर अनुमोदन अवश्य कर दे।

संसद के **अनुमोदन** के बाद ऐसी उद्घोषणा छह महीने तक प्रभावी रहती है पर इसकी अवधि एक वर्ष तक संसद के **अनुमोदन** से बढ़ायी जा सकती है। एक वर्ष के **उपरान्त यह उद्घोषणा** केवल दो दशाओं में बढ़ायी जा सकती है–

(i) यदि देश में या राज्य अथवा उसके किसी भाग में आपात **घोषणा** प्रभावी हो।

(ii) यदि चुनाव आयोग यह प्रमाणित कर दे कि राज्य में विधान सभा के चुनाव कराए जाने के मार्ग में कठिनाइयाँ हैं इसलिए उपर्युक्त उद्घोषणा को जारी रखा जाए।

परन्तु किसी भी दशा में ऐसी उद्घोषणा की अवधि **तीन वर्ष से** अधिक नहीं बढ़ायी जा सकती। पंजाब इसका एक अपवाद रहा जहां निर्वाचनों के कराए जा सकने की असंभावना के कारण संविधान संशोधनों द्वारा आपातकाल की अवधि बार-बार बढ़ायी गयी। पंजाब में 1987 से 1992 तक राष्ट्रपति शासन रहा।

भारतीय राजनीति और शासन का इतिहास इस बात का प्रमाण है कि संविधान का यह प्रावधान सर्वाधिक विवादास्पद रहा है। प्रायः संघ सरकारों द्वारा इस प्रावधान का प्रयोग एक राजनीतिक हथियार के रूप में किया गया। यद्यपि न्यायालय राष्ट्रपति शासन की उद्घोषणा की न्यायिक समीक्षा इस आधार पर कर सकते हैं कि इसके पीछे कोई असद्भाव तो नहीं है या उद्घोषणा के लिए बताए गए कारण काल्पनिक तो नहीं हैं। एक ऐसा दृष्टान्त भी है जब मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय ने 1990 में मध्य प्रदेश में लागू की गयी ऐसी उद्घोषणा को अवैध घोषित कर दिया था परन्तु सर्वोच्च न्यायालय ने इस निर्णय को उलट दिया। यह एक विडम्बना ही कही जा सकती है कि संविधान के इस विवादास्पद प्रावधान को विभिन्न राजनीतिक दल जब-जब सत्तारूढ नहीं होते तो इसके उन्मूलन की **मांग करते हैं परन्तु सत्तारूढ रहने की अवधि में इसको बनाए** रखने के पक्षधर हो जाते हैं। यह एक यथार्थ है कि संविधान निर्माताओं द्वारा आपातकाल **के उक्त प्रावधानों को** सुरक्षा कवच के रूप में स्वीकार किया था। स्वयं डा0 **अम्बेडकर** ने संविधान **सभा** में यह स्वीकार किया था कि अनुच्छेद 356 का दुरुपयोग **अथवा राजनीतिक** प्रयोग संभव है पर उनका यह भी तर्क था **कि** दुरुपयोग तो संविधान के किसी भी भाग का हो सकता है। उनकी यह आशा **कि इन** प्रावधानों के उपयोग की कभी आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी और ये निष्प्राण सिद्ध होंगे' अपूर्ण **ही रही।** डॉ0 अम्बेडकर का यह भी सुझाव था कि राष्ट्रपति ऐसी उद्घोषणा को **लागू करने से पूर्व उचित सावधानी बरतेंगे।**

सर्वोच्च न्यायालय द्वारा एस0आर0बोम्मई के मामले में यह सुझाव दिया गया कि **अनुच्छेद 356** का प्रयोग न्यूनतम हो क्योंकि इसका बार-बार प्रयोग **संविधान** में असंतुलन **को** उत्पन्न करेगा। उक्त मामले में न्यायमूर्ति रामास्वामी ने यह भी कहा कि ऐसी **परिस्थितियों की सूची नहीं बनायी जा सकती जिनमें यह कहा जा सके कि राज्य में संवैधानिक व्यवस्था नहीं चल सकती।** परन्तु उदाहरण स्वरूप उन्होंने **कुछ परिस्थितियों में अनुच्छेद 356 के प्रयोग को उचित माना-**

(i) जब राज्य में **व्यापक रूप से कानून और व्यवस्था छिन्न-छिन्न हो गई हो।**

(ii) राज्य सरकार **के कुशासन से परिस्थितियाँ उसके नियंत्रण से बाहर हो गयी हों।**

(iii) **राज्य में भ्रष्टाचार** का बोलबाला हो और शासन की शक्ति का **दुरूप्रयोग हो रहा हो।**

(iv) राष्ट्रीय एकीकरण अथवा राज्य की सुरक्षा को **खतरा हो** या विघटन को बढ़ावा मिल रहा हो या स्वतंत्रता के दावे किए जा रहे हों।

(v) संविधान को **ध्वस्थ** करने का प्रयास हो रहा हो अथवा जनता में फूट डालने या लोकतांत्रिक ढाँचे को विघटित करने का उपाय किया जा रहा हो।

इसी मामले में न्यायमूर्ति सावन्त और न्यायमूर्ति कुलदीप सिंह द्वारा यह मत भी व्यक्त किया गया कि राज्य सरकार द्वारा विधान सभा में बहुमत खो **देने पर, स्वयं त्यागपत्र देने पर अथवा उसके अपदस्थ** किए जाने की स्थिति में बिना वैकल्पिक **सरकार बनाने का प्रयास किएं राष्ट्रपति शासन की सिफारिश** करना अनुचित होगा।

राजमन्नार आयोग, सरकारिया आयोग तथा बोम्मई के **मामले में सर्वोच्च न्यायालय** इन तीनों ही के अभिमत में एक सामान्य विचार यह व्यक्त किया गया है कि राज्य सरकार के बहुमत का परीक्षण राज्य विधान सभा में ही होना चाहिए।

(c) वित्तीय आपात

वित्तीय आपात के बारे में संवैधानिक उपबंध यह **है** कि यदि राष्ट्रपति **को यह समाधान हो जाता है कि** ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी है, जिससे भारत अथवा **उसके राज्य क्षेत्र के किसी भाग का वित्तिय** स्थायित्व अथवा प्रत्यय संकट में है तो देश में वित्तीय **आपात की उद्घोषणा की जाएगी।**

वित्तीय आपात की स्थिति में संघ की कार्यपालिका शक्ति का **विस्तार** किया **राज्य को वित्तीय औचित्य** संबंधी निर्देश देने का होगा। इन निर्देशों के अंतर्गत–

(i) किसी राज्य के कार्य कलाप के संबंध में सेवा करने **वाले सभी अथवा किसी वर्ग के** व्यक्तियों के वेतनों एवं भत्तों में कमी की जा सकती है।

(ii) धन विधेयकों अथवा अन्य ऐसे विधयकों को जिन पर अनुच्छेद 207 **के उपबंध लागू** होते हैं, राज्य विधानमण्डलों द्वारा पारित किए जाने के **पश्चात राष्ट्रपति के विचारार्थ** आरक्षित रखा जाएगा।

ऐसी उद्घोषणा का प्रभाव संघ के **कार्यकलाप** के **संबंध में सेवा करने वाले सभी अथवा किसी वर्ग के व्यक्तियों के, जिनके अंतर्गत उच्चतम एवं उच्च न्यायालय के न्यायाधीश भी शामिल हैं, के वेतनों तथा** भत्तों में कमी करने संबंधी विषयों पर भी लागू होगा।

सौभाग्यवश भारत में ऐसी आपात की परिस्थितियां आज तक उत्पन्न नहीं हुई है।

7.8 राष्ट्रपति की संवैधानिक स्थिति

भारतीय शासन प्रणाली के अंतर्गत भारत के राष्ट्रपति की वास्तविक स्थिति क्या है यह एक वाद-विवाद का विषय है। इस **वाद-विवाद** का प्रारम्भ संविधान निर्मात्री सभा में हुई चर्चाओं में भी देखा जा सकता है। यह तो स्पष्ट है कि संविधान से संबंधित किन्हीं भी प्रावधानों की मूल भावना में क्या निहित है इसका उत्तर संविधान निर्माताओं के मंतव्य से ही जाना जा सकता है। सर्वोच्च न्यायालय का यह मानना है कि संविधान की प्रस्तावना वह कुंजी है **जिसमे संविधान निर्माताओं के मस्तिष्कों को खोला** जा सकता है। अतः **भारतीय संविधान की प्रस्तावना भारतीय शासन प्रणाली को समझने में एक** मार्गदर्शक की भूमिका का निर्वहन करती है। **प्रस्तावना में भारत को एक 'लोकतंत्रात्मक गणराज्य'** घोषित किया गया है, स्पष्ट है कि **लोकतंत्र और** गणतंत्र आधारभूत व्यवस्थाएं **हैं।लोकतंत्र के किसी** भी रूप के अंतर्गत शासनाध्यक्ष जनता द्वारा निर्वाचित किया जाता है। भारत में अपनायी गयी शासन

व्यवस्था संसदीय लोकतंत्र की है, जिसकी विशेषता कार्यपालिका के दो अध्यक्षों क्रमशः राज्याध्यक्ष और शासनाध्यक्ष का होना है। संसदीय शासन का विकास ब्रिटेन में परम्परावश हुआ था पर इस व्यवस्था को विश्व के बहुत से राज्यों ने अपनी शासन व्यवस्था के रूप में अपना लिया। भारत में राष्ट्रपति की स्थिति ब्रिटेन के राजा की तरह एक राज्याध्यक्ष की ही होगी ऐसा संविधान निर्माताओं का मत था, पर विधिशास्त्रियों के एक वर्ग ने ऐसा मत भी व्यक्त किया है कि संविधान में राष्ट्रपति को जो शक्तियाँ दी गयी हैं वे राष्ट्रपति को मात्र एक 'रबर की मुहर' जैसी नहीं बनातीं। संविधान के प्रारूप को प्रस्तुत करते हुए डॉ0 अम्बेदकर ने कहा था, ''राष्ट्रपति की वही स्थिति है जो ब्रिटिश संविधान में सम्राट की। वह **राष्ट्र का प्रधान है** कार्यपालिका का नहीं, वह राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है उसका निर्माण नहीं। वह साधारणतः मंत्रियों के **परामर्श को मानने के लिए विवश रहेगा**।वह न तो उनके परामर्श के विरुद्ध कुछ कर सकता है और न उनके विरुद्ध।'' इस संबंध में संविधान निर्मात्री सभा के अध्यक्ष डा0 राजेन्द्र प्रसाद का **विचार भी जान लेना चाहिए।** उन्होंने कहा था कि ''संविधान में कोई ऐसी बात नहीं है जिसके कारण राष्ट्रपति मंत्रिमण्डल की सलाह मानने की लिए बाध्य हो। यह आशा की जाती है कि जैसे इंग्लैण्ड का राजा हमेशा अपने मंत्रियों की सलाह मानता है **वैसी ही प्रथा** इस देश में उत्पन्न हो जाएगी और राष्ट्रपति सब बातों में केवल नाममात्र का शासक रहेगा।''

राष्ट्रपति एक नाममात्र का शासक अथवा राज्य का प्रधान है ऐसा विचार संविधान निर्मात्री सभा की प्रारूप समिति के अन्य सदस्यों का भी था। यद्यपि संविधान सभा में इस बात को स्पष्टतः यह संवैधानिक उपबंध करके कि 'राष्ट्रपति मंत्रिमंडल की सलाह मानने को बाध्य होगा।' लिखे जाने की मांग भी सदस्यों द्वारा की गयी थी परन्तु डॉ0 अम्बेदकर के इस आश्वासन पर कि 'राष्ट्रपति के मंत्रिमंडल के परामर्श पर कार्य न करने की स्थिति उसके द्वारा संविधान का अतिक्रमण समझा जाएगा और इसके लिए उसे अपने पद से हटाने का प्रावधान संविधान में उपलब्ध है, ऐसी माँग छोड़ दी गयी।

राष्ट्रपति को एकमात्र औपचारिक राष्ट्राध्यक्ष न मानने वाले लोगों का भी एक वर्ग है जो संविधान द्वारा राष्ट्रपति को प्रदान की गयी व्यापक शक्तियों की दुहाई देते हैं। इस संबंध में भारतीय संविधान के एक प्रसिद्ध टीकाकार ग्लैडहिल ने तो ऐसी परिस्थितियों का काल्पनिक चित्रण तक कर दिया है जहां वह संविधान की किसी धारा का अतिक्रमण किए बिना भी निरंकुश शासक का रूप धारण कर सकता है। ग्लैडहिल की कल्पना एक रोचक कल्पना है। यहाँ पर भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ0 राजेन्द्र प्रसाद द्वारा की गयी यह टिप्पणी कि 'राष्ट्रपति के कार्यों तथा शक्तियों की सीमाओं का आभास करने के लिए वैज्ञानिक पद्धति से इस विषय का अध्ययन तथा परीक्षण होना चाहिए' भी गौरतलब है।

वास्तव में संविधान राष्ट्रपति को मंत्रिमंडल की सलाह मानने हेतु बाध्य करता है।

राष्ट्रपति की स्थिति के बारे में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा की गयी कतिपय टिप्पणियाँ भी यही दर्शाती हैं कि राष्ट्रपति एक औपचारिक कार्यपालिका प्रधान ही है तथा उसे मंत्रिमंडल के परामर्श के अनुसार ही कार्य करना चाहिए।

अंतिम विश्लेषण में संभवतः ऐसा निष्कर्ष उत्तम जान पड़ता है कि राष्ट्रपति की स्थिति, कार्य एवं शक्तियाँ मात्र संविधान के उपबंधों के संदर्भ में ही व्याख्यायित नही की जा सकतीं। वे परिस्थितियाँ, संदर्भ, पदासीन व्यक्ति का व्यक्तित्व, राष्ट्रपति एवं सरकार के पारस्परिक राजनीतिक समीकरण प्रायः इसका सही मूल्यांकन करने की कसौटी हो सकती है। परिस्थितियाँ राष्ट्रपति को अपने स्वविवेक का प्रयोग करने अथवा न करने का कारण बनती है। **राजनितिक संकट की घड़ी में एक विशाल** जनमानस राष्ट्रपति से देश के प्रथम नागरिक, **राज्य के अध्यक्ष, तथा संविधान के पारिक्षक, संरक्षक** और प्रतिरक्षक के रूप में एक **राष्ट्रनेता की भूमिका की अपेक्षा करता है। स्पष्ट है कि राष्ट्रपति पद का** कार्यपालन करते हुए राष्ट्र की जनता की **सेवा एवं कल्याण** राष्ट्रपति के **कार्यकरण का निदेशक होगा।**

7.9 भारत का उपराष्ट्रपति

संविधान द्वारा राष्ट्रपति पद के क्रम में ही उपराष्ट्रपति के पद की भी व्यवस्था की गयी है। अनुच्छेद 63 भारत के लिए एक उपराष्ट्रपति की व्यवस्था करता है। अनुच्छेद 64 उपराष्ट्रपति को **राज्य सभा के पदेन सभापति** के रूप में वर्णित करता है। पर यह भी प्रावधान है कि ऐसे काल की अवधि में जबकि उपराष्ट्रपति राष्ट्रपति के रूप में कार्यरत हो अथवा राष्ट्रपति के कार्यों का निष्पादन कर रहा हो वह राज्य सभा के सभापति के रूप में कार्य नहीं कर सकता। ऐसी अवधि के लिए वह राज्य सभा के सभापति के रूप में वेतन तथा भत्तों को प्राप्त करने का अधिकारी भी नहीं होगा।

अनुच्छेद 65 में उपराष्ट्रपति द्वारा राष्ट्रपति पद के रूप में कार्य करने की दशाओं को बताया गया है। इस अनुच्छेद के प्रावधानों के अंतर्गत राष्ट्रपति पद के पदधारी की मृत्यु, त्यागपत्र अथवा महाभियोग द्वारा अपदस्थ किए जाने से हुई रिक्ति की दशा में उपराष्ट्रपति उस समय तक राष्ट्रपति के रूप में कार्य करता रहेगा जब तक कि नव निर्वाचित **राष्ट्रपति** अपना पदभार ग्रहण न कर ले।

जब राष्ट्रपति अपनी अनुपस्थिति, बीमारी या अन्य किसी कारण से राष्ट्रपति के कार्यों का निष्पादन करने में असमर्थ हो तो उपराष्ट्रपति ऐसी अवधि के लिए जब तक कि राष्ट्रपति अपने कर्त्तव्यों का निर्वहन न प्रारंभ कर दे राष्ट्रपति के कार्यों का निष्पादन करेगा। इसी अंनुच्छेद में यह भी प्रावधान किया गया है कि राष्ट्रपति पद के रूप में कार्य करने की अवधि में उपराष्ट्रपति राष्ट्रपति पद को प्रदत्त वेतन भत्ते, विशेषाधिकार एवं उन्मुक्तियाँ प्राप्त करने का अधिकारी होगा।

7.10 उपराष्ट्रपति का निर्वाचन

संविधान के अनुच्छेद 66 के द्वारा उपराष्ट्रपति पद हेतु निर्वाचन की विधि वर्णित है। उपराष्ट्रपति का निर्वाचन आनुपातिक प्रतिनिधित्व की एकल संक्रमणीय मत प्रणाली द्वारा गुप्त मतदान की विधि से एक निर्वाचक मण्डल द्वारा जिसका निर्माण संसद के दोनों सदनों के समस्त सदस्य मिलकर करते हैं, एक संयुक्त बैठक में किया जाता है।

उपराष्ट्रपति भी राष्ट्रपति की ही तरह संसद अथवा विधानसभाओं के किसी सदन का सदस्य नहीं हो सकता।

उपराष्ट्रपति पद हेतु निर्धारित योग्यताएँ निम्नवत् हैं–

(a) वह भारत का नागरिक हो,

(b) उसने 35 वर्ष की आयु पूर्ण कर ली हो, तथा

(c) वह राज्य सभा का सदस्य होने की योग्यता रखता हो।

ऐसा कोई व्यक्ति जो भारत सरकार अथवा भारतीय संघ की राज्यों के सरकारों के अधीन किसी लाभके पद पर हो उपराष्ट्रपति पद हेतु पात्र नहीं हो सकता।

7.11 कार्यकाल

उपराष्ट्रपति अपना पद ग्रहण करने की तिथि से 5 वर्ष तक की अवधि हेतु कार्यरत रहता है। उपराष्ट्रपति स्वलिखित एवं स्वहस्ताक्षरित रूप में राष्ट्रपति को संबोधित कर अपने पद से त्यागपत्र दे सकता हैं। उपराष्ट्रपति को राज्य सभा के किसी ऐसे प्रस्ताव, जो कि तत्काल राज्यसभा की कुल सदस्य संख्या के बहुमत द्वारा पारित हो और जिसपर लोकसभा की सहमति प्राप्त हो, द्वारा अपदस्थ किया जा सकता है। ऐसे प्रस्ताव को लाने के लिए उपराष्ट्रपति को चौदह दिन का पूर्व नोटिस अवश्य दिया जाना चाहिए।

संविधान उपराष्ट्रपति पद हेतु किसी पदाधिकारी के पुनः निर्वाचन के बारे में कोई उल्लेख नहीं करता। भारत के प्रथम उपराष्ट्रपति डा0 राधाकृष्णन दो कार्यकालों के लिए उपराष्ट्रपति चुने गए थे।

7.12 उपराष्ट्रपति के कार्य :

जैसा कि ऊपर बताया गया है, भारत के उपराष्ट्रपति के कार्यों को संविधान के अनुच्छेद 64 तथा 65 का अध्ययन करने से जाना जा सकता है। ये अनुच्छेद क्रमशः उपराष्ट्रपति को राज्य सभा के पदेन सभापति तथा राष्ट्रपति पद में रिक्ति होने की दशा में कार्यवाहक राष्ट्रपति के रूप में कार्य करने की उपराष्ट्रपति की शक्तियों को दर्शाते हैं, अतः उपराष्ट्रपति के कार्यों व शक्तियों की दो श्रेणियाँ है– **प्रथम**; राज्य-सभा का पदेन सभापति और **द्वितीय**; राष्ट्रपति पद में रिक्ति होने की दशा में कार्यवाहक राष्ट्रपति के रूप में कार्य करने की शक्ति।

राज्य-सभा के सभापति के रूप में उपराष्ट्रपति राज्यसभा की बैठकों की अध्यक्षता करता हैं तथा इसकी कार्यवाहियों का संचालन करता है। उसकी अनुमति से ही सदन में कोई विधेयक अथवा प्रस्ताव प्रस्ताव प्रस्तुत किये जा सकते हैं। सदन में सदस्यों को बोलने की अनुमति देना, सदस्यों को वाद-विवाद में बोलने हेतु समय का आबंटन वही करता है, सदन के सदस्य उसे ही संबोधित कर अपना पक्ष प्रस्तुत करते हैं, सदन में अनुशासन बनाये रखने का दायित्व भी उसी का है, साथ ही सदन के सदस्यों के विशेषाधिकारों का संरक्षण भी वही करता है। वह राष्ट्रपति तथा लोक-सभा के लिए सदन के प्रवक्ता के रूप में कार्य करता है।

उपराष्ट्रपति, राष्ट्रपति के पद में किसी भी कारण से रिक्ति हो जाने की दशा में उस समय तक राष्ट्रपति के रूप में कार्य करता है जब तक कि नव निर्वाचित राष्ट्रपति अपना कार्यभार नहीं संभाल लेता। राष्ट्रपति की अनुपस्थिति में अथवा बीमारी की स्थिति में राष्ट्रपति तब तक राष्ट्रपति के कार्यों का नि-ादन करता है जब तक कि राष्ट्रपति उन कार्यों का निर्वहन करने का दायित्व स्वयं न संभाल ले।

7.13 सारांश :

भारतीय संविधान में संघीय कार्यपालिका के प्रमुख के रुप में राष्ट्रपति तथा राष्ट्रपति की अनुपस्थिति में उसके दायित्वों के निर्वहन तथा राज्यसभा के पदेन सभापति के रुप में कार्य करने के लिए उपराष्ट्रपति के पद का उल्लेख किया गया है। राष्ट्रपति का निर्वाचन अप्रत्यक्ष रुप से आनुपातिक प्रतिनिधित्व की एकल संक्रमणीय निर्वाचन पद्धति द्वारा होता है किन्तु उसकी **पदच्युति महाभियोग द्वारा** ही संभव है। यद्यपि वर्तमान सांविधानिक प्रावधानों के अन्तर्गत (अनुच्छेद 74) राष्ट्रपति द्वारा मंत्रिपरिषद की राय के अनुसार कार्य करना अपेक्षित है किन्तु अनेकों अवसरों पर वह स्वविवेक से भी कार्य कर सकता है परिणाभतः राष्ट्रपति को मात्र औपचारिक सांविधानिक प्रमुख या नाममात्र की कार्यपालिका मानना युक्तिसंगत नहीं है। उपराष्ट्रपति की भूमिका में सर्वाधिक प्रमुख भूमिका राज्यसभा के सभापति की है. **विगत 5 दशकों** में विभिन्न उपराष्ट्रपतियों द्वारा इस भूमिका का सफलतापूर्वक निर्वहन किया गया है।

7.14 उपयोगी पुस्तकें

1. ग्रेनविल आस्टिन : दि इण्डियन कांस्टिट्यूशन, कार्नरस्टोन ऑफ ए नेशन
2. एच0 एम0 जैन : दि यूनियन एक्जिक्यूटिव
3. डी0 सी0 गुप्ता : इण्डियन गवर्नमेन्ट एण्ड पालिटिक्स
4. जे0 सी0 जौहरी : इण्डियन गवर्नमेन्ट एण्ड पालिटिक्स

5. एम0 वी0 पायली : कांस्टिट्यूशन आफ इण्डिया
6. वी0 एन0 शुक्ला : भारत का संविधान
7. एस0 एम0 सईद : भारतीय राजनितिक प्रणाली
8. जे0 एन0 पाण्डेय : भारत का संविधान
9. सुभाष कश्यप : अवर कान्स्टिट्यूशन
10. सुभाष कश्यप : अवर पार्लियामेन्ट
11 हरिमोहन जैन : भारतीय शासन और राजनीति
12. एस0 एस0 खेरा : दि सेन्ट्रल एक्जिक्यूटिव

7.15 सम्बन्धित प्रश्न

(a) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न :

(1) भारत के राष्ट्रपति के कार्यों एवम् शक्तियों का परीक्षण कीजिए।

(2) भारत के राष्ट्रपति की आपातकालीन शक्तियों का वर्णन कीजिए।

(3) भारत के राष्ट्रपति की संवैधानिक स्थिति का परीक्षण कीजिए।

(b) लघु उत्तरीय प्रश्न :

(1) राष्ट्रपति के निर्वाचन की विधि को समझाईये।

(2) राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाने की प्रक्रिया को समझाईये।

(3) उपराष्ट्रपति के कार्यों का वर्णन कीजिए।

(c) वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. भारत के राष्ट्रपति के निर्वाचक मंडल में निम्नांकित में से कौन सम्मिलित है।

   (क) संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य

   (ख) राज्यों की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्य

   (ग) दिल्ली और पांडिचेरी संघ राज्यक्षेत्र की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्य

   (घ) उपर्युक्त सभी।

2. राष्ट्रपति पर महाभियोग चलाने की प्रक्रिया के संबंध में क्या सत्य नहीं है–

   (क) महाभियोग केवल संविधान के अतिक्रमण के आधार पर लगाया जा सकता है।

   (ख) महाभियोग का आरोप संसद के किसी भी सदन द्वारा लगाया जा सकता है।

   (ग) महाभियोग की प्रक्रिया में राज्यों की विधान सभाएँ भी भाग लेती हैं।

   (घ) महाभियोग के अन्वेषण के दौरान राष्ट्रपति को अन्वेषणकारी सदन में स्वयं या अपने प्रतिनिधि के माध्यम से उपस्थित होकर अपना पक्ष रखने का अधिकार होता है।

3. उपराष्ट्रपति के निर्वाचन में निम्नांकित में से कौन भाग लेते हैं-

   (क) संसद के दोनों सदनों के सभी सदस्य

(ख) संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य

(ग) केवल लोकसभा के सदस्य

(घ) केवल राज्यसभा के सदस्य

4. राष्ट्रपति पद के चुनाव के दौरान यदि किसी राज्य की विधान सभा भंग रहने की स्थिति में होतो क्या राष्ट्रपति का चुनाव हो सकता है?

(क) हाँ

(ख) नहीं

(ग) हाँ, बशर्ते विधानसभा के चुनाव की अधिसूचना जारी कर दी गयी हो

(घ) हाँ, यदि उस राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू हो।

7.16 प्रश्नोत्तर

1. (घ)
2. (ग)
3. (क)
4. (क)

इकाई 8 - प्रधानमंत्री तथा मंत्रिपरिषद

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 प्रधानमंत्री और मंत्रिपरिषद्

8.3 प्रधानमंत्री की नियुक्ति

8.4 पदच्युति

8.5 प्रधानमंत्री की शक्तियाँ एवं कार्य

8.6 मंत्रिपरिषद्

8.7 मंत्रिमण्डल की शक्तियाँ एवं कार्य

8.8 मंत्रिमण्डल की बैठकें

8.9 मंत्रिमण्डल की समितियाँ

8.10 मंत्रिपरिषद् का महत्व

8.11 सारांश

8.12 उपयोगी पुस्तकें

8.13 सम्बन्धित प्रश्न

8.14 प्रश्नोत्तर

8.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

- भारत की संघीय कार्यकारिणी के दूसरे अंग अर्थात् प्रधानमंत्री व **मंत्रीपरिषद के केन्द्रीय स्थिति की विवेचना कर सकेंगे,**
- प्रधानमंत्री की शक्तियों एवं कार्य का उल्लेख कर सकेंगे,
- मंत्रीमंडल की शक्तियों एवं कार्य का उल्लेख कर सकेंगे।

8.1 प्रस्तावना

जैसा कि हम जानते हैं भारत में संसदीय शासन प्रणाली को अपनाया गया है, संसदीय शासन प्रणाली के अंतर्गत कार्यपालिका-शक्तियों का वास्तविक प्रयोग मंत्रिमंडल द्वारा किया जाता है इसीलिए इस प्रणाली को प्रायः मंत्रिमंडलीय सरकार या कैबिनेट गवर्मैन्ट के नाम से भी पुकारा जाता है, मंत्रिमंडल केन्द्र सरकार का हृदय होता है तथा मंत्रिमंडल का केन्द्र प्रधानमंत्री होता है, मंत्रिमंडल के निर्माण जीवन तथा समाप्ति में प्रधानमंत्री की केन्द्रीय स्थिति होती है, प्रधानमंत्री देश का नेता **होती है। वह** संसद में शासक दल का नेता होता है और आम निर्वाचन प्रधानमंत्री के नाम पर लड़ा जाता है। राष्ट्रीय एवम् अंतर्राष्ट्रीय नीति निर्माण एवम् उसके कार्यान्वयन में प्रधानमंत्री की केन्द्रिय भूमिका **होती है।** संसद के साथ मंत्रिमंडल का अन्तरंग संबंध होता है। मंत्रिमंडल सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होता है परन्तु यह एक संवैधानिक स्थिति है वास्तविकता यह है कि **जबतक प्रधानमंत्री** के पास लोक

सभा के बहुमत का समर्थन होता है वह एक सर्वशक्तिमान कार्यपालिका के रूप में कार्य करता है तथा मंत्रिमंडल का नेतृत्व करता है, इस इकाई में प्रधानमंत्री तथा मंत्रिमंडल की स्थिति का विवेचन उपरोक्त संदर्भों में किया जा रहा है।

8.2 प्रधानमंत्री और मंत्रिपरिषद्

भारतीय संविधान द्वारा यह प्राविधान किया गया है कि राष्ट्रपति को सहायता और सलाह देने के लिए एक मंत्रिपरिषद् होगी जिसका प्रधान प्रधानमंत्री होगा और राष्ट्रपति अपने कृत्यों का प्रयोग करने में उसकी सलाह के अनुसार कार्य करेगा (अनुच्छेद 74 (1))। 44वें संविधान संशोधन द्वारा इस उपबंध में यह भी जोड़ दिया गया कि 'राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद् से ऐसी सलाह पर साधारणतया या अन्यथा पुनर्विचार करने की अपेक्षा कर सकेगा और राष्ट्रपति ऐसे पुनर्विचार के पश्चात् दी गयी सलाह के अनुसार कार्य करेगा।' अनुच्छेद 74 (2) यह दर्शाता है कि 'इस प्रश्न की किसी न्यायालय में जाँच नहीं की जाएगी कि क्या मंत्रियों ने राष्ट्रपति को कोई सलाह दी, और यदि दी तो क्या दी।'

स्पष्ट है कि संविधान प्रधानमंत्री को मंत्रिपरिषद् के प्रमुख के रूप में स्थापित करता है। अनुच्छेद 75 'मंत्रियों के बारे में अन्य उपबंध' शीर्षक के अंतर्गत निम्नलिखित प्रावधान करता है–

1. प्रधानमंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति करेगा और अन्य मंत्रियों की नियुक्ति राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री की सलाह पर करेगा।
2. मंत्री, राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यन्त अपने पद धारण करेंगे।
3. मंत्रिपरिषद् लोक सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तदायी होगी।
4. किसी मंत्री द्वारा अपना पद ग्रहण करने से पूर्व, राष्ट्रपति संविधान की तीसरी अनुसूची में इस प्रयोजन के लिए दिए गए **प्रारूपों के अनुसार उसको पद की और गोपनीयता की** शपथ दिलाएगा।
5. कोई मंत्री, जो निरन्तर छह मास की किसी अवधि तक संसद के **किसी सदन** का सदस्य नहीं है, उस अवधि की समाप्ति पर मंत्री नहीं रहेगा।
6. मंत्रियों के वेतन और भत्ते ऐसे होंगे जो संसद, विधि द्वारा, समय-समय पर अवधारित करे और जब तक संसद इस प्रकार अवधारित नहीं करती है तब तक ऐसे होंगे जो दूसरी अनुसूची में विनिर्दिष्ट हैं।

उपर्युक्त संवैधानिक प्रावधान संसदीय शासन व्यवस्था की उन समस्त विशेषताओं को समाहित करते हैं जो संसदीय शासन की जननी ब्रिटेन में परम्परावश विकसित हुए। ये प्रावधान कार्यपालिका के द्वैध स्वरूप को अप्रकट रूप में अभिव्यक्त करते हैं।

इस संबंध में संविधान के अनुच्छेद 78 को भी दृष्टिगत रखा जाना चाहिए, जो कि राष्ट्रपति को जानकारी देने आदि के संबंध में प्रधानमंत्री के कर्तव्यों को दर्शाता है–

(क) संघ के कार्यकलाप के प्रशासन संबंधी और विधान विषयक प्रस्थापनाओं संबंधी मंत्रिपरिषद् के सभी निर्णयों से राष्ट्रपति को अवगत कराएगा।

(ख) संघ के कार्यकलाप के प्रशासन संबंधी और विधान विषयक ऐसी सूचना को राष्ट्रपति उससे मांगे, राष्ट्रपति को उपलब्ध कराएगा।

(ग) किसी विषय के संबंध में यदि किसी मंत्री ने निर्णय कर लिया है परन्तु मंत्रिपरिषद् ने विचार नहीं किया है तो राष्ट्रपति द्वारा मांग किए जाने पर उस विषय को राष्ट्रपति के विचारार्थ रखेगा।

संविधान के प्रावधानों मात्र से ही प्रधानमंत्री की शक्तियों का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। प्रधानमंत्री की स्थिति को संसदीय व्यवस्थाओं के अंतर्गत विविध विशेषणों से संबोधित किया गया है। उसे 'समस्त शासन प्रणाली की धुरी' (लास्की) 'राज्य रूपी जहाज का कर्णधार' (रैम्जे म्योर), 'मंत्रिमण्डल रूपी मेहराब की आधारशिला' (लार्ड मार्ले), या फिर 'सरकार रूपी धुरे की कील' (पं० नेहरू) कहा गया है।

8.3 प्रधानमंत्री की नियुक्ति

संविधान राष्ट्रपति को प्रधानमंत्री की नियुक्ति का अधिकार सौंपता है परन्तु यह प्रश्न कि राष्ट्रपति प्रधानमंत्री के चयन में किस सीमा तक स्वतंत्र और स्वविवेक से निर्णय ले सकता है, महत्वपूर्ण है। संसदीय जनतंत्र तथा संविधान की भावनाओं का सूक्ष्म अवलोकन करने से ऐसा लगता है कि राष्ट्रपति कोई स्वतंत्र निर्णय नहीं ले सकता और यह तथ्य उस परिस्थिति में जबकि लोकसभा में आम निर्वाचन के उपरान्त एक स्पष्ट बहुमत प्राप्त दल तथा उसका सर्वमान्य नेता हो और अधिक स्पष्ट हो जाता है। परन्तु ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न हो सकती हैं जबकि लोकसभा में किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त न हो, निर्वाचन-पूर्व बने गठबंधन भी बहुमत प्राप्त करने में असमर्थ रहे हों अथवा निर्वाचन के उपरान्त–बने गठबंधन या तो नेतृत्व के बारे में आम सहमति न बना पा रहे हों या बहुमत जुटा पाने में असमर्थ हों। इसके अतिरिक्त एक और परिस्थिति पदासीन प्रधानमंत्री की मृत्यु हो जाने से भी उत्पन्न हो सकती है। स्वतंत्र भारत के इतिहास में अब तक उपर्युक्त सभी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो चुकी हैं। 1964 और 1966 में पदासीन प्रधानमंत्रियों क्रमशः पं० जवाहर लाल नेहरू तथा लाल बहादुर शास्त्री की मृत्यु के उपरान्त राष्ट्रपति द्वारा दोनों ही बार गुलजारी लाल नन्दा को प्रधानमंत्री नियुक्त किया गया पर दोनों ही बार श्री नन्दा बाद में संसदीय दल के नेता नहीं चुने जा सके और लाल बहादुर शास्त्री तथा इंदिरा गाँधी क्रमशः प्रधानमंत्री के रूप में नियुक्त किए गए। 1979 में मोरारजी देसाई के पदत्याग करने पर राष्ट्रपति द्वारा चौ०चरण सिंह को लोकसभा में बहुमत दल का समर्थन प्राप्त न रहते हुए भी प्रधानमंत्री नियुक्त किया गया। 1989 के चुनाव के उपरान्त राष्ट्रपति श्री वेंकटरमण द्वारा यह नीति अपनायी गयी कि लोकसभा में सर्वाधिक स्थान प्राप्त करने वाले दल के नेता को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया जाए और उसके द्वारा असमर्थता व्यक्त करने पर क्रमवार अन्य दल/दलीय गठबंधन को अवसर दिया जाए। 1989 में इसी नीति के तहत राष्ट्रपति ने राजीव गाँधी को सरकार बनाने हेतु आमंत्रित किया पर उनके द्वारा असमर्थता व्यक्त करने पर विश्वनाथ प्रताप सिंह को आमंत्रित किया गया जो कि राष्ट्रीय मोर्चा और वामपंथी मोर्चे के गठबंधन के नेता थे। इस मोर्चे को लोकसभा में स्पष्ट बहुमत तो प्राप्त नहीं था पर भारतीय जनता पार्टी का बाह्य समर्थन प्राप्त था। विश्वनाथ प्रताप सिंह के त्यागपत्र के उपरान्त राष्ट्रपति द्वारा श्री चन्द्रशेखर को प्रधानमंत्री नियुक्त किया गया जिन्हें लोकसभा में मात्र लगभग 60 सदस्यों का ही समर्थन प्राप्त था। परिणामतः कांग्रेस द्वारा बाह्य समर्थन प्राप्त यह सरकार एक अल्पकालीन सरकार साबित हुई। 1991 में चुनाव के उपरान्त कांग्रेस पार्टी सबसे बड़े दल के रूप में उभरी और नरसिम्हाराव को प्रधानमंत्री नियुक्त किया गया जो बाह्य समर्थन प्राप्त कर पूरे पांच वर्ष सरकार चलाने में सफल रहे। 1996 के चुनाव के उपरान्त भारतीय जनता पार्टी सबसे बड़े राजनीतिक दल के रूप में उभरी। अतः इसके नेता श्री अटल बिहारी बाजपेयी को प्रधानमंत्री नियुक्त किया गया पर यह सरकार अब तक की सर्वाधिक न्यूनावधि की सरकार रही। तेरह दिन तक रही यह सरकार लोकसभा में अपना बहुमत नहीं जुटा सकी। इसके उपरान्त संयुक्त मोर्चे के रूप में एक अल्पमत सरकार कांग्रेस के बाह्य समर्थन पर पहले श्री देवगौड़ा और बाद में श्री इंद्रकुमार गुजराल के नेतृत्व में बनायी गयी। 1998 के चुनाव के उपरान्त श्री अटल बिहारी बाजपेयी के नेतृत्व में निर्वाचन पश्चात् हुए गठबंधन के फलस्वरुप भाजपा नेतृत्व की सरकार 1999 तक सत्तासीन रही पर 1999 में लोकसभा में विश्वासमत मात्र एक मत से प्राप्त नहीं कर पायी। परन्तु 1999 के चुनाव में एन०डी०ए० के नाम से निर्वाचन पूर्व भारतीय जनता पार्टी के नेतृत्व का गठबंधन चुनाव में स्पष्ट बहुमत प्राप्त करने

में सफल रहा और एक बार फिर अटल बिहारी बाजपेयी के नेतृत्व में सरकार का निर्माण हुआ। यह सरकार अपना कार्यकाल पूरा करने में सफल रही। वर्ष 2004 का चुनाव क्रमशः निर्वाचन-पूर्व बने दो गठबंधनों के मध्य लड़ा गया। इस निर्वाचन में कांग्रेस के नेतृत्व वाले यू0पी0ए0 गठबंधन को भाजपा के नेतृत्व वाले एन0डी0ए0 गठबंधन के मुकाबले जीत हासिल हुई। यद्यपि उसे स्पष्ट बहुमत नहीं मिला पर वाम दलों के बाह्य समर्थन के उपलब्ध हो जाने से डॉ0 मनमोहन सिंह के नेतृत्व में यह गठबंधन सरकार बनाने में सफल रहा।

प्रधानमंत्री नियुक्त होने के लिए किसी शैक्षणिक अर्हता, व्यावसायिक अनुभव अथवा आयु सीमा का उल्लेख नहीं है। यही बात मंत्रिपरिषद् के सदस्यों के संबंध में भी है। संविधान की भावना तो यही है कि प्रधानमंत्री और मंत्रिपरिषद् के सदस्य संसद का सदस्य होने की योग्यता रखते हों किन्तु यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि कोई ऐसा व्यक्ति जो संसद का सदस्य न हो वह प्रधानमंत्री या मंत्री नियुक्त हो सकता है, संवैधानिक अनिवार्यिता यह है कि वह छह माह के भीतर संसद के किसी सदन की सदस्यता ग्रहण कर ले। श्री नरसिम्हाराव और श्री देवगौड़ा प्रधानमंत्री बनते समय किसी भी सदन के सदस्य नहीं थे। एक बात और ज्ञातव्य है कि यद्यपि संविधान मंत्रिपरिषद् के लोकसभा के प्रति सामूहिक उत्तरदायित्व का उपबंध करता है परन्तु प्रधानमंत्री लोकसभा का ही सदस्य होगा ऐसा प्रावधान नहीं करता। श्रीमती इंदिरा गांधी 1966 में तथा 1996 में श्री देवगौड़ा और उनके उपरान्त श्री इंद्र कुमार गुजराल राज्यसभा के सदस्य थे।

8.4 पदच्युति

प्रधानमंत्री तथा मंत्रिमंडल के सदस्य राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यन्त ही अपने पद पर रह सकते हैं। इसका यह अभिप्राय निकलता है कि राष्ट्रपति प्रधानमंत्री को कभी भी अपदस्थ कर सकता है किन्तु यह केवल संवैधानिक व्यवस्था है वास्तविकता नहीं। व्यावहारिक स्थिति यह है कि प्रधानमंत्री को केवल लोकसभा में बहुमत प्राप्त न रह पाने कि स्थिति में ही अपदस्थ किया जा सकता है और ऐसी दशा में प्रधानमंत्री स्वयं ही अपना त्यागपत्र दे देता है। 1989 के बाद हुए आम चुनावों के पश्चात् यह स्थिति भारत में बार-बार देखने को मिली। वस्तुतः एक दलीय वर्चस्व की समाप्ति के हो जाने से गठबंधनों का दौर प्रारम्भ हुआ। राष्ट्रपति ने प्रधानमंत्रियों की नियुक्ति के साथ ही यह शर्तें आरोपित करना प्रारम्भ किया कि प्रधानमंत्री लोकसभा का विश्वास प्राप्त करें। 1996 में अटल बिहारी बाजपेयी को प्रधानमंत्री नियुक्त किया गया पर वे लोक सभा में बहुमत का समर्थन जुटा पाने में असफल रहे और उन्होंने अपना पद त्याग कर दिया। इससे पूर्व 1990 में विश्वनाथ प्रताप सिंह की सरकार को भारतीय जनता पार्टी द्वारा बाहर से दिये जा रहे समर्थन के वापस लेने के कारण लोक सभा में विश्वास मत हेतु प्रस्ताव रखना पड़ा था और उसके पारित न होने के कारण त्याग पत्र देना पड़ा था। देवीगौड़ा (1997) तथा अटल बिहारी बाजपेयी (1999) को विश्वास मत प्राप्त न कर पाने के कारण त्याग पत्र देने पड़े। मोरारजी देसाई (1979), चौधरी चरण सिंह (1980), चन्द्रशेखर (1991) तथा इन्द्र कुमार गुजराल (1997) ने अपने प्रधानमंत्री पद से इसलिए त्याग पत्र दिया क्योंकि उन्हें यह स्पष्ट हो गया था कि वे लोक सभा में विश्वास का मत प्राप्त नहीं कर सकते।

इस संबंध में एक विचारणीय विषय यह भी है कि यदि प्रधानमंत्री के विरूद्ध अपने बहुमत को बनाये रखने के लिए भ्रष्ट उपायों का सहारा लेने के आरोप हों, संवैधानिक संस्थाओं की अवमानना का आरोप हो तो क्या उसे राष्ट्रपति द्वारा अपदस्थ किया जा सकता है? इस प्रश्न का उत्तर दे पाना मुश्किल है। नरसिम्हाराव और राजीव गाँधी के उदाहरणों को यदि देखा जाय तो स्पष्ट होता है कि जब तक लोकसभा में प्रधानमंत्री का बहुमत अक्षुण्ण हो और अपने दल का वह सर्वमान्य व स्वीकार्य नेता हो राष्ट्रपति के लिए उसे अपदस्थ कर पाना असंभव नहीं तो बहुत कठिन अवश्य है। ज्ञातव्य हो कि बोफोर्स के मामले में राजीव गांधी के प्रधानमंत्री पद पर बने रहते तथा झारखण्ड मुक्ति मोर्चा घूस कांड

में नरसिम्हाराव का नाम आने से उनके प्रधानमंत्री पद पर बने रहने पर आपत्तियाँ उठाई गई थीं।

8.5 प्रधानमंत्री की शक्तियाँ एवं कार्य

शासन के प्रमुख, सरकार के मुखिया, संसद के नेता आदि विभिन्न रूपों में प्रधानमंत्री के विविध कार्य होते हैं। इन कार्यों के निष्पादन से उसकी शक्तियाँ जन्म लेती हैं। अतः प्रधानमंत्री के कार्य एवं शक्तियों का विवेचन विभिन्न क्षमताओं और संस्थाओं के साथ कार्य करते हुए कई शीर्षकों के अंतर्गत किया जाना चाहिए।

(अ) प्रधानमंत्री और मंत्रिपरिषद्

ब्रिटिश प्रधानमंत्री के संदर्भ में अभिव्यक्त लास्की का मत कि "प्रधानमंत्री मंत्रिमण्डल रुपी मेहराब की आधारशिला है। वह इसके निर्माण जीवन तथा इसके अंत के लिए केन्द्रभूत है" भारतीय प्रधानमंत्री के लिए भी अक्षरशः लागू होता है। राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री की सलाह पर ही मंत्रियों की नियुक्ति करता है। मंत्रिपरिषद् का आकार कैसा और कितना हो, मंत्रियों की कितनी श्रेणियाँ हों तथा मंत्रियों का विभाग क्या हो यह तय करना प्रधानमंत्री का ही विशेषाधिकार है। वह किसी मंत्री को उप-प्रधानमंत्री का पदनाम भी दे सकता है। वह किसी मंत्री से पदत्याग करने के लिए कह सकता है अथवा किसी मंत्री को पदमुक्त करने हेतु सिफारिश कर सकता है। वह मंत्रिपरिषद् का कभी भी पुनर्गठन कर सकता है, मंत्रालयों का पुनर्गठन कर सकता है, नए मंत्रालयों का सृजन कर सकता है अथवा विद्यमान मंत्रालयों में कोई भी परिवर्तन कर सकता है। मंत्रिमण्डल की बैठकें प्रधानमंत्री ही बुलाता है। वह इन बैठकों की अध्यक्षता करता है उनका कार्यक्रम निर्धारित करता है, बैठकों में विचार-विमर्श की प्रकृति, स्वरूप आदि को प्रभावित करता है और मंत्रिमण्डल के निर्णयों को निरूपित करता है। प्रधानमंत्री द्वारा किसी विषय अथवा प्रश्न पर की गयी सार्वजनिक घोषणाएँ अथवा दिए गए वक्तव्य सरकार की नीति या निर्णयों के समतुल्य होते हैं यदि ये अभी मंत्रिमंडल में विचारित न किए गए हों तो मंत्रिमंडल के लिए उनका अनुमोदन करना एकमात्र विकल्प रह जाता है। प्रधानमंत्री का कार्य विविध मंत्रियों के मध्य समन्वय करना भी है। मंत्रियों अथवा मंत्रालयों के मध्य मतभेदों का प्रधानमंत्री ही समाधान करता है। प्रधानमंत्री की शासन के प्रमुख होने के कारण यह जिम्मेदारी है कि विविध मंत्रालयों के मध्य सामंजस्य तथा सहयोग स्थापित कर सर्वश्रेष्ठ परिणाम प्राप्त किए जाएँ। इस हेतु वह मंत्रिमण्डल की बैठकों में मतैक्य स्थापित करने का प्रयास करता है उसे **यह सुनिश्चित** करना होता है कि मंत्रिमंडल द्वारा निर्धारित नीति का विविध मंत्रालयों एवं विभागों द्वारा निष्ठापूर्वक पालन किया जाए। वह ऐसे प्रयास एवं **उपाय भी करता है कि मंत्रिमंडलीय नीतियों के प्रति विभागों द्वारा उपेक्षा अथवा अवहेलना न प्रदर्शित हो । प्रधानमंत्री को दलीय घोषणापत्र अथवा यदि साझा हो तो 'सामान्य न्यूनतम कार्यक्रम' के** अनुपालन का भी ध्यान रखना होता है।

मंत्रिमण्डलीय सचिवालय एवं प्रधानमंत्री कार्यालय दोनों ही प्रधानमंत्री के नियंत्रण एवं निर्देशन में कार्य करते हैं। ज्ञातव्य है कि प्रशासन के संदर्भ में इनकी भूमिका न सिर्फ अति महत्त्वपूर्ण है बल्कि प्रशासन में, विगत अनुभव यही दर्शाते हैं कि, प्रधानमंत्री कार्यालय की स्थिति एक धुरी के समतुल्य है।

स्पष्ट है कि प्रधानमंत्री को उचित ही अपने मंत्रिमंडल के संदर्भ में 'समकक्षों में प्रथम' या 'नक्षत्रों में चंद्रमा' के रूप में दर्शाया जाता है। एक लेखक रिचर्ड क्रासमैन का तो विचार है कि संसदीय या मंत्रिमण्डलीय शासन प्रणाली को अब प्रधानमंत्री शासन प्रणाली कहा जाना चाहिए।

यह प्रधानमंत्रि का विशेष दायित्व होता है कि वह देश में कानून-व्यवस्था, आर्थिक विकास एवं नियोजन, आवश्यक वस्तुओं की उचित मूल्यों पर आपूर्ति, राष्ट्रीय सुंरक्षा, दूसरे देशों से मधुर संबंध, एक भ्रष्टाचार मुक्त प्रशासन इत्यादि को सुनिश्चित कराए। यह बात भी गौरतलब है कि प्रधानमंत्री

आवश्यक रूप से किसी विभाग को अपने पास रखे यह जरूरी नहीं। वास्तविकता तो यह है कि ऐसे विभाग जो किसी मंत्री के अधीनस्थ नहीं होते प्रधानमंत्री के पास ही होते हैं और अति महत्त्वपूर्ण विभाग प्रायः या तो प्रधानमंत्री के पास रहते हैं अथवा वे प्रधानमंत्री की कठोर निगरानी में कार्य करते हैं। उदाहरण के लिए आणविक ऊर्जा मंत्रालय नेहरू के समय से ही लगभग सभी प्रधानमंत्रियों ने अपने ही अधीनस्थ रखा। राष्ट्रीय प्रतिरक्षा के बारे में यह सार्वभौम सत्य है कि यह विषय प्रधानमंत्री की निगरानी का ही विषय होता है और युद्धकाल में तो प्रधानमंत्री की भूमिका और अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है। विदेशी राष्ट्रों से संबंध एवं विदेश नीति के बारे में प्रधानमंत्री राष्ट्र का न सिर्फ प्रतिनिधि बल्कि एक अधिकृत प्रवक्ता होता है। उसके वक्तव्य विदेश नीति के प्रमाणिक वचन माने जाते हैं। अंतरराष्ट्रीय सम्मेलनों अथवा अंतर्राष्ट्रीय संधियों में वह राष्ट्र का प्रतिनिधित्व भी करता है और राष्ट्र की विदेश नीति का निरूपण भी। गंभीर अंतर्राष्ट्रीय मुद्दों पर राष्ट्र की प्रतिक्रियास्वरूप प्रायः सभी निगाहें प्रधानमंत्री की ओर ही टिकी रहती हैं।

वे वित्तीय नीतियाँ जिनसे सरकार की आर्थिक विचारधारा या सामाजिक प्रतिबद्धता उजागर होती हो उनका निर्धारण केवल प्रधानमंत्री ही कर सकता है। आर्थिक नियोजन एवं विकास भी किसी सरकार की पहचान होती है, अतः इनके आधारभूत सिद्धांत, प्राथमिकताएँ, लक्ष्य एवं स्वरूप के निर्धारण में प्रधानमंत्री की भूमिका केन्द्रीय होती है।

(ब) प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति

प्रधानमंत्री राष्ट्रपति तथा मंत्रिपरिषद के मध्य संचार का माध्यम होता है। जैसा कि पूर्व में कहा गया है कि प्रधानमंत्री का दायित्व है कि वह शासन की नीतियों से राष्ट्रपति को अवगत कराए। राष्ट्रपति की स्थिति दल एवं राजनीति से ऊपर समझी जाती है पर वह राजनीतिक व्यवस्था और राजनीतिक प्रक्रिया का एक अभिन्न भाग होता है। राष्ट्रपति में एक अनुभवी, परिपक्व तथा एक राजनेता को देखा जाना चाहिए जो अपने सुझाव, विचार अथवा प्रस्तावों से प्रधानमंत्री को प्रभावित तो कर सकता है पर बाध्य नहीं। प्रायः इन दोनों के मध्य संबंध उनके व्यक्तिगत समीकरण पर निर्भर करते हैं। परन्तु राजनीतिक परिस्थितियाँ भी इन्हें प्रभावित करने में समर्थ हो सकती हैं। सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों ही दृष्टियों से प्रधानमंत्री कार्यपालिका का वास्तविक प्रधान एवं शक्तिशाली पदधारक होता है। भारत में अब तक का इतिहास भी इस बात का प्रमाण है कि इन दो पदधारियों के मध्य संबंधों तथा शक्तियों के संदर्भ में प्रधानमंत्री का ही पलड़ा भारी रहा है। यदा-कदा राष्ट्रपति सक्रिय रहते हुए भी संवैधानिक सीमाओं में ही जनहित एवं सार्वजनिक नैतिकता का समर्थन करते रहे और प्रधानमंत्रियों को अप्रत्यक्ष रूप में अपनी नीतियों पर पुनर्विचार हेतु प्रेरित करते रहे।

(स) प्रधानमंत्री और संसद

प्रधानमंत्री लोकसभा में बहुमत दल का नेता होता है। संसदीय जनतंत्र कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका के मध्य शक्ति पृथक्करण पर आधारित व्यवस्था नहीं है। अतः संसद के कार्यक्रम एवं उसकी कार्यवाही दोनों ही पर प्रधानमंत्री का स्वाभाविक नियंत्रण होता है। लोकसभा के स्पीकर के चयन में प्रधानमंत्री निर्णायक भूमिका अदा करता है। स्पीकर सदन में अनुशासन बनाए रखने हेतु प्रधानमंत्री (तथा विरोधी दल के नेता) के सहयोग तथा सहायता पर निर्भर करता है। प्रधानमंत्री लोकसभा में सदन का नेता होता है (प्रधानमंत्री के लोकसभा का सदस्य न होने की स्थिति में किसी अन्य मंत्री को सदन का नेता मनोनीत किया जाता है। सदन का कार्यक्रम निर्धारण करते हुए स्पीकर सदन के नेता से परामर्श करता है। प्रधानमंत्री सदन की कार्य सलाहकार समिति का सदस्य होता है। उसके परामर्श से ही संसद की बैठक बुलायी जाती है। प्रधानमंत्री राष्ट्रपति को लोकसभा को भंग करने का परामर्श दे सकता है। संसद का सत्रावसान प्रधानमंत्री के परामर्श पर ही होता है। अन्य निकायों से संपर्क करने में प्रधानमंत्री ही सदन का अधिकृत माध्यम होता है। औपचारिक अवसरों पर भी सदन का नेतृत्व प्रधानमंत्री ही करता है। सरकार की ओर से महत्त्वपूर्ण घोषणाएँ सदन में प्रधानमंत्री द्वारा ही की जाती

है। सरकार का प्रमुख होने के कारण सरकारी नीतियों कार्यक्रमों आदि का पक्ष रखना, सदन में सदस्यों के आक्रोश को शांत करना या ऐसे प्रश्नों का उत्तर देना जो किसी मंत्रालय विशेष से संबंधित न हों या फिर प्रश्नोत्तर काल में अपने असहज साथी मंत्रियों के पक्ष में बोलना प्रधानमंत्री का दायित्व है। संसदीय दल प्रधानमंत्री की शक्ति का स्रोत भी होता है और उसकी सीमा भी। यह बात साझा मंत्रिमण्डलों के संदर्भ में कहीं अधिक महत्वपूर्ण होती है क्योंकि साझा सरकार को विभिन्न दलों के मध्य संसदीय सामंजस्य बनाए रखना होता है। और इसी कारण से साझा सरकारें अपने समर्थक दलों की समन्वय समितियाँ गठित करती हैं।

(द) प्रधानमंत्री और उसका राजनीतिक दल

यह तो स्पष्ट ही है कि प्रधानमंत्री अपने दल का एक शक्तिशाली, प्रतिभाशाली और चमत्कारिक शक्ति का स्वामी व्यक्ति होता है। वह दल की नीतियों, कार्यक्रमों एवं विचारधारा को प्रभावित करता है। प्रधानमंत्री के लिए अपने दल का अध्यक्ष होना आवश्यक नहीं है परन्तु अपने दल में उसका स्थान महत्वपूर्ण होता है इसमें कोई संशय नहीं। उसकी स्थिति दलीय नेतृत्व और उसे प्राप्त दलीय समर्थन पर निर्भर करती है। आमतौर पर प्रधानमंत्री दल के समस्त शीर्षस्थ अंगों का प्रमुख अथवा निर्णायक सदस्य होता है। दल के महत्वपूर्ण निर्णय उसके अनुमोदन के उपरान्त ही लिए जा सकते हैं। आम चुनावों में पार्टी उम्मीदवारों के चयन में प्रधानमंत्री का परामर्श अनुमोदन तथा सम्मति आवश्यक शर्तें होती हैं। राष्ट्रपति एवं उपराष्ट्रपति पद के लिए पार्टी उम्मीदवारों का चयन करने में भी उसकी भूमिका महत्वपूर्ण होती है। चुनावी घोषणा पत्र तैयार करने तथा चुनाव अभियान में उसकी भूमिका निर्णायक होती है। वस्तुस्थिति तो यह है कि संसदीय लोकतंत्रों में आमचुनाव प्रधानमंत्री का ही चुनाव होता है। प्रधानमंत्री की चुनावी छवि उसके नेतृत्व तथा उसके दल के लिए निर्णायक होती है। चूंकि राजनीतिक दल राजनीतिक सत्ता प्राप्ति का माध्यम हैं अतः प्रधानमंत्री का व्यक्तित्व, दल की शक्ति, लोकप्रियता तथा जनाधार प्राप्त करने में निर्णायक भूमिका अदा करते हैं। भारत के संदर्भ में अनुभवों तथा दलीय व्यवहार के आधार पर यह निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि जब-जब प्रधानमंत्री की स्थिति अपने दल में कमजोर हुई तब-तब उसके राजनीतिक दल को सत्ता से वंचित हो जाना पड़ा। साझा सरकारों के स्थायित्व के बारे में तो यह निष्कर्ष कहीं अधिक सटीक है।

8.6 मंत्रिपरिषद्

भारत की संसदीय व्यवस्था के संचालन में मंत्रिपरिषद् की भूमिका महत्वपूर्ण है। वस्तुतः संघ की वास्तविक कार्यकारिणी शक्ति मंत्रिपरिषद में ही निहित है। संविधान के अनुच्छेद 74 (1) में उल्लिखित है कि "राष्ट्रपति को सहायता एवं परामर्श देने के लिए एक मंत्रिपरिषद् होगी जिसका मुखिया प्रधानमंत्री होगा। राष्ट्रपति अपने कार्यों का निष्पादन इसके परामर्श के अनुसार ही करेगा।"

संविधान के अनुसार मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। व्यावहारिक स्थिति यह है कि राष्ट्रपति द्वारा प्रधानमंत्री की नियुक्ति किए जाने के उपरान्त प्रधानमंत्री राष्ट्रपति को मंत्रिपरिषद् में शामिल किए जाने वाले सदस्यों की सूची प्रेषित करता है और इन्हें राष्ट्रपति द्वारा संघ सरकार के मंत्रियों के रूप में पद एवं गोपनीयता की शपथ दिलायी जाती है। मंत्रिपरिषद् का स्वरूप एवं आकार प्रधानमंत्री द्वारा ही निर्धारित किया जाता है। प्रधानमंत्री को अपनी मंत्रिपरिषद् में अपनी इच्छानुसार कोई भी परिवर्तन करने का विशेषाधिकार प्राप्त है।

मंत्रिपरिषद् प्रायः तीन श्रेणियों के मंत्रियों से मिलकर बनती है ये हैं–

1. मंत्रिमण्डलीय मंत्री (Cabinet Minister)
2. राज्य मंत्री (Minister of State)

3. उपमंत्री (Deputy Minister)

इन तीनों श्रेणियों के मंत्रियों के समूह को मंत्रिपरिषद् कहा जाता है। जबकि प्रथम श्रेणी के मंत्रियों का समूह 'मंत्रिमण्डल' कहलाता है। मंत्रिमण्डल तथा मंत्रिपरिषद् परसार समानार्थी नहीं है। मंत्रिमंडल के सदस्य मंत्रिपरिषद् के सदस्य होते हैं जबकि मंत्रिपरिषद् के सभी सदस्य मंत्रिमण्डल के सदस्य नहीं होते। स्पष्ट है कि मंत्रिमण्डल मंत्रिपरिषद् की तुलना में एक छोटा निकाय है। इसके सदस्य महत्त्वपूर्ण विभागों के प्रमुख होते हैं फिर विभाग के सभी मामलों का संचालन करते हैं अन्य मंत्री इनकी सहायता करते हैं।

इनके अतिरिक्त कभी-कभी कुछ कनिष्ठ मंत्री भी संसदीय सचिवों के रूप में नियुक्ति किए जाते हैं पर इनकी नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा न होकर प्रधानमंत्री द्वारा की जाती है पर ये मंत्रालय अथवा सरकार का अंग होते हैं। यह एक रोचक प्रसंग है कि केन्द्रीय मंत्रिपरिषद् जब एक ही राजनीतिक दल से निर्मित हुआ तो मंत्रियों की तीनों श्रेणियां और संसदीय सचिव (कुछ अवसरों पर) उसमें देखे जा सकते हैं जबकि साझा मंत्रिपरिषदों का स्वरूप अधिकतर द्विस्तरीय अर्थात् कैबिनेट मंत्री तथा राज्य मंत्रियों की श्रेणियों से युक्त रहा।

क्योंकि प्रधानमंत्री द्वारा ही मंत्रिपरिषद् के आकार एवं स्वरूप का निर्धारण किया जाता है अतः विभिन्न प्रधानमंत्रियों के काल में मंत्रिपरिषद् के आकार तथा रूप में भिन्नता दिखायी पड़ती है। मंत्रिपरिषद् के आकार के विषय में संविधान के 91वें संशोधन (2004) द्वारा अधिनियमित कर दिया गया है कि संघीय मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की कुल संख्या लोकसभा की कुल सदस्य संख्या के 15 प्रतिशत से अधिक नहीं होगी।

यद्यपि मंत्रिपरिषद् का गठन प्रधानमंत्री का विशेषाधिकार है तो भी मंत्रिपरिषद् के निर्माण में प्रधानमंत्री कतिपय प्रतिबंधों से मुक्त नहीं होता। संसदीय शासन, संसद (लोकसभा) में बहुमत प्राप्त दल को सरकार बनाने का अधिकार प्रदान करता है। मंत्रिमण्डल की राजनीतिक समरसता एवं सामूहिक उत्तहदायित्व इसकी दो महत्वपूर्ण विशेषताएं हैं। ज्ञातव्य है कि संविधान में मंत्रिपरिषद् को लोकसभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी बताया गया है (अनुच्छेद 75 (3) । मंत्रिपरिषद् के गठन में प्रधानमंत्री को अनेक मर्यादाओं का अनुपालन करना होता है। यदि एक राजनीतिक दल की सरकार हो और प्रधानमंत्री चमत्कारिक नेतृत्व का स्वामी हो, लोकसभा के चुनाव में दल की विजय उसके नेतृत्व एवं दलीय वर्चस्व के आधार पर प्राप्त हुई हो तो प्रधानमंत्री मंत्रिपरिषद् के गठन में अत्यधिक स्वतंत्रता का उपभोग कर सकता है परन्तु दल के वरिष्ठ नेताओं की अनदेखी कर पाना उसके लिए संभव नहीं है। दल के अनेक सदस्य मंत्रिपरिषद् में अपने व्यक्तित्व और कृतित्व के आधार पर अपना स्थान स्वयं ही बना लेते हैं। कोई भी राजनीतिक दल गुटों में न बंटा हो यह संभव नहीं है इसलिए प्रधानमंत्री को मंत्रिपरिषद् के निर्माण में गुटों के मध्य संतुलन बनाए रखना पड़ता है। मंत्रिपरिषद् की धर्म निरपेक्ष छवि को बनाए रखने के लिए विभिन्न धर्मों का प्रतिनिधित्व मंत्रिपरिषद् में हो यह भी प्रधानमंत्री को ध्यान में रखना होता है। भारत जैसें विशाल देश में विभिन्न क्षेत्रों को भी मंत्रिपरिषद् में प्रतिनिधित्व देना आवश्यक होता है। मंत्रिपरिषद में महिलाओं तथा समाज के कमजोर वर्गों यथा अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति एवं पिछड़ा वर्ग आदि के प्रतिनिधित्व का भी ध्यान रखा जाना अपेक्षित होता है। मंत्रिपरिषद निर्माण में प्रधानमंत्री अपने दल के वरिष्ठ सहयोगियों के सुझावों की अनदेखी भी नही कर सकता। यह भी देखा गया है कि प्रधानमंत्रियों द्वारा विशिष्ट क्षेत्रों की प्रतिभाओं को भी मंत्रिपरिषद् में स्थान दिया गया। सामान्यतः यह भी परंपरा है कि लोकसभा चुनावों में पराजित व्यक्तियों को [illegible] में स्थान नहीं दिया जाता। अटल बिहारी बाजपेयी द्वारा 1999 में इसी परम्परा का निर्वहन [illegible] जसवन्त सिंह एवं प्रमोद महाजन को मंत्री नियुक्त नहीं किया था बाद में राज्य सभा की सदस्यता प्राप्त कर लेने के बाद उन्हें मंत्रि-पद सौंपे गए थे। परन्तु 2004 में मनमोहन सिंह मंत्रिपरिषद् में शिवराज पाटिल तथा पी0एम0सईद को चुनाव में पराजित होने के बावजूद भी स्थान दे दिया गया।

साझा **सरकारों में** मंत्रिपरिषद् का गठन एक टेढ़ी खीर है। प्रायः साझा सरकार का प्रधानमंत्री साझा सरकार में शामिल घटक दलों की आम सहमति से ही होता है। स्वाभाविक है कि ऐसे प्रधानमंत्री के मंत्रिपरिषद् में विभिन्न घटक दलों का प्रतिनिधित्व एक राजनीतिक सौंदेबाजी से तय होता है। यह सौंदेबाजी न सिर्फ मंत्रिपरिषद में शामिल किए जाने को लेकर होती है बल्कि मंत्रियों में विभागों के बंटवारे में भी इसकी भूमिका महत्वपूर्ण होती है। साझा सरकारों में शामिल हुए दल प्रधानमंत्री द्वारा विभागीय आवंटन के विशेषाधिकार की दुहाई भले ही देते हों पर वास्तव में वे अपने दल के लिए मंत्रियों तथा उनके विभागों के बारे में सौदेबाजी अवश्य कर लेते हैं। भारत में साझा सरकारों के टूटने **में यह भी एक महत्वपूर्ण कारण साबित हुआ है। यद्यपि देश का राजनीतिक परिदृश्य तथा दलीय समीकरण भी महत्वपूर्ण निर्धारक रहे हैं।**

8.7 मंत्रिमण्डल की शक्तियाँ एवं कार्य

मंत्रिपरिषद् का कार्यकारी भाग मंत्रिमण्डल ही होता है। सामान्यतः मंत्रिपरिषद् की कभी कोई बैठक होती है ऐसा देखने में नहीं आता है। मंत्रिमण्डल की बैठकें नियमित रूप से हुआ करती हैं। आवश्यकता पड़ने पर मंत्रिमण्डल की तात्कालिक/आपातकालीन बैठकें कभी भी हो सकती हैं। मंत्रिमण्डल के कार्य अधिकार एवं शक्तियों के दो पक्ष हैं–पहला-सामूहिक और दूसरा व्यक्तिगत।

सामूहिक रूपसे मंत्रिमण्डल के कार्यों को निम्नवत् रूप में सूचीबद्ध किया जा सकता है-

1. **शासकीय नीतियों का निर्धारण और उन पर संसद का अनुमोदन प्राप्त करना**
2. विदेश नीति का निर्धारण और उस पर संसद का अनुमोदन प्राप्त करना
3. शासकीय नीतियों के अनुरूप संघीय कार्यपालिका का संचालन तथा नियंत्रण करना
4. विभिन्न मंत्रालयों के कार्यों के मध्य समन्वय स्थापित करना।

यह संक्षिप्त सूची मंत्रिमंडल के कार्य एवम् शक्तियों की विशालता का ज्ञान कराने हेतु पर्याप्त नहीं है। वस्तुतः सरकार की समस्त शक्तियों का केन्द्र बिन्दु मंत्रिमंडल ही होता है। विधायन, प्रशासन तथा वित्त पर मंत्रिमंडल का पूर्ण नियंत्रण होता है। भले ही संसद कानून बनाने का शक्ति रखती हो, पर क्या कानून बनाया जाना है? यह पहल मंत्रिमंडल के द्वारा ही होती है और वास्तविकता भी यही है कि मंत्रिमण्डल के द्वारा निर्धारित कानून संसद वाद-विवाद के पश्चात् पारित कर देती है, ऐसे कानून की संसद द्वारा अस्वीकृति का अर्थ मंत्रिपरिषद के प्रति अविश्वास होता है और ऐसी स्थिति में मंत्रिपरिषद को त्यागपत्र देना पड़ सकता है।

मंत्रिमंडल सम्पूर्ण प्रशासन पर नियंत्रण रखता है। यह नियंत्रण उसका कार्य भी है और अधिकार भी। प्रशासनिक पदों पर नियुक्तियों का दायित्व मंत्रिमंडल का ही है। वस्तुतः राष्ट्रपति की कार्यपालिका शक्तियों में जितनी भी प्रशासनिक पदों पर नियुक्तियाँ की चर्चा पूर्व के अध्याय में की गई है वे सभी नियुक्तियाँ मंत्रिमंडल के द्वारा ही की जाती हैं। प्रशासन पर नियंत्रण का पूर्ण अधिकार मंत्रिमंडल का होता है। यह बात ध्यान में रखी जानी चाहिए कि मंत्रिमंडल एक राजनीतिक कार्यपालिका है जो जनता द्वारा चुनी गई तथा जनता के प्रति अंततः जवाबदेही होती है अतः प्रशासन में किसी भी तरह की शिथिलता अथवा अन्य किसी तरह के आरोपों का दायित्व मंत्रिमंडल का होता है। अतः प्रशासन के मार्गदर्शन का कार्य मंत्रिमंडल का होता है।

अंततः मंत्रिमंडल ही वित्तीय प्रशासन की शक्ति भी रखता है। वह राष्ट्रीय वित्त पर निमंत्रण रखता है। विदेश-व्यापार, आयात-निर्यात, वाणिज्य कृषि, ऊर्जा, रसायन, खाद, उत्पादन, उद्योग आदि सभी विषयों पर नीति निर्माण, उनका कार्यान्वयन तथा उनका वित्तीय प्रबंधन मंत्रिमंडल का दायित्व है। यह तथ्य भी गौरतलब है कि भारत की संघीय प्रणाली के अन्तर्गत राज्य वित्तीय मामलों में प्रायः केन्द्र

सरकार पर नजर टिकाये रहते हैं। राज्यों को वित्तीय अनुदान केन्द्रीय मंत्रिमंडल द्वारा ही स्वीकृत किया जाता है। भारत के योजना आयोग की सिफारिशों का अनुमोदन तथा इन पर विचार व अंतिम निर्णय भी केन्द्रीय मंत्रिमंडल द्वारा ही किये जाते हैं।

मंत्रिमण्डल भले ही एक सामूहिक इकाई हो, प्रत्येक मंत्री वैयक्तिक स्थिति में किसी एक मंत्रालय का राजनीतिक प्रधान भी होता है। इस हैसियत में शासन के नित्य प्रति के कार्यों का निर्वहन उसका वैयक्तिक दायित्व होता है भले ही, नीति संबंधी निर्णय मंत्रिमण्डल की बैठकों द्वारा ही लिए जाते हैं। प्रत्येक मंत्री द्वारा अपने मंत्रालय से संबंधित नीति, उद्देश्यों और कार्य प्रणाली के नियमों का निर्धारण किया जाता है यद्यपि इन निर्णयों को मंत्रिमण्डल के सामूहिक निर्णयों के अनुरूप होना चाहिए। प्रत्येक मंत्री को अपने मंत्रालय से संबंधित, संसद के अधिवेशन के दौरान, सांसदों द्वारा पूछे गए प्रश्नों का उत्तर देना पड़ता है। प्रत्येक मंत्री अपने मंत्रालय संबंधी संसदीय कार्यों यथा विधेयकों का प्रस्तुतीकरण, वाद-विवादों में सहभागिता, समितियों में विचार-विमर्श आदि में पहल करता है।

8.8 मंत्रिमण्डल की बैठकें

मंत्रिमण्डल की सामान्य बैठकें प्रारंभ से ही प्रति सप्ताह होती रही हैं परन्तु आवश्यकता पड़ने पर आपातकालीन बैठकें भी आहूत की जाती हैं। इनके अतिरिक्त प्रधानमंत्री मंत्रिमण्डल की अनौपचारिक बैठकें भी बुलवाने का अधिकार रखता है। इन बैठकों में सभी मंत्रियों का भाग लेना अथवा बुलाया जाना आवश्यक नहीं है। मंत्रिमण्डल की बैठकों में केबिनेट मंत्री ही आमंत्रित किए जाते हैं अन्य मंत्री आवश्यकता पड़ने पर विशिष्ट अतिथियों के रुप में बुलाए जा सकते हैं। यह भी संभव है कि मंत्रिमण्डल की बैठकों में गैर मंत्री यथाः उच्च अधिकारी, योजना आयोग के सदस्य, मुख्यमंत्री या सचिव को भी आमंत्रित कर लिया जाए।

मंत्रिमण्डल की बैठकों की अध्यक्षता प्रधानमंत्री ही करता है और प्रधानमंत्री की अनुपस्थिति में साधारणतया ये बैठकें नहीं होती। परन्तु अपरिहार्य परिस्थितियों में ऐसी बैठकें बुलायी जा सकती है। इनकी अध्यक्षता प्रधानमंत्री द्वारा मनोनीत मंत्री अथवा वरिष्ठतम मंत्री करता है। मंत्रिमण्डल की बैठकों का कार्यक्रम प्रधानमंत्री ही तय करता है तथा निर्णय सर्वसम्मति से लिए जाते हैं। निर्णय लेने हेतु औपचारिक मतदान नहीं होता। व्यवहार में महत्त्वपूर्ण प्रश्न और प्रस्ताव वरिष्ठ मंत्रियों एवं प्रधानमंत्री के सलाहकारों द्वारा पूर्व ही विचार विमर्श कर निर्धारित कर लिए जाते हैं जिनपर मंत्रिमण्डल अपनी बैठकों में औपचारिक स्वीकृति प्रदान कर देता है। मंत्रिमण्डल की कार्यवाही गोपनीय होती है। कोई भी मंत्री उसका रहस्योद्घाटन नहीं कर सकता। ज्ञातव्य है कि इस आशय की शपथ प्रत्येक मंत्री अपना पद धारण करते समय ग्रहण करता है। मंत्रिमण्डलीय बैठकों में विरोध के स्वर अवश्य व्यक्त होते हैं पर मंत्रिमण्डल का निर्णय एक सामूहिक निर्णय माना जाता है, अतः ऐसे निर्णयों का आदर और उन्हें कार्यान्वित करना साथ ही सार्वजनिक रूप से इनका समर्थन करना सभी मंत्रियों का कर्तव्य होता है। यही सामूहिक उत्तरदायित्व का आशय भी है। ऐसा न करने वाले मंत्री से यह अपेक्षित होता है कि वह अपना पद त्याग कर दे।

एकदलीय सरकार के रहते मंत्रिमण्डल में विरोध के स्वर मुखर होने की संभावना कम ही रहती है। मंत्रिगण अपने विचारों को प्रकट करने में कितनी स्वतंत्रता रखते हैं यह प्रधानमंत्री से उनके समीकरणों तथा उनके अपने व्यक्तित्व पर निर्भर करता है। इससे भिन्न साझा मंत्रिमण्डलों में मंत्रिमण्डल की बैठकों में विविध घटक दलों के मंत्रियों के बीच अहं की टकराहट की संभावना सदैव बनी रहती है इसके साथ ही बाह्य समर्थन देने वाले दल भी मंत्रिमण्डल के निर्णय को प्रभावित करने के लिए दबाव बनाते रहते हैं। यही नहीं प्रधानमंत्री को ऐसे दल के शीर्षस्थ नेताओं की भावनानों तथा प्रतिक्रियाओं का भी सम्मान करना पड़ता है।

8.9 मंत्रिमण्डल की समितियाँ

मंत्रिमण्डल की कार्यप्रणाली में मंत्रिमण्डल की समितियों की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण होती है। मंत्रिमण्डल की अनेक समितियाँ होती हैं इनकी संख्या, आकार तथा गठन प्रधानमंत्री पर निर्भर करता है। समितियों द्वारा किसी प्रस्ताव, नीति या कार्यक्रम के प्रशासकीय तथा राजनीतिक पक्ष पर गहन विचार किया जाता है। समिति मंत्रिमण्डल के विचारार्थ प्रारूप तैयार करती है। मंत्रिमण्डल की कुछ समितियाँ स्थायी होती हैं और कुछ तदर्थ। इन समितियों की संख्या घटती बढ़ती रहती है। प्रशासकीय सुधार आयोग ने 12 मंत्रिमण्डलीय समितियों का उल्लेख किया है। मंत्रिमण्डलीय समितियों में 'राजनीतिक मामलों की समिति' सर्वाधिक महत्वपूर्ण समिति है। इसके अतिरिक्त 'प्रतिरक्षा समिति', 'ऊर्जा समिति', 'विदेशी निवेश समिति', 'अनुसूचित जाति -जनजाति तथा अल्पसंख्यकों से संबंधित समिति' आदि समितियाँ भी है। इनमें से कुछ समितियाँ प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में कार्य करती हैं जबकि कुछ अन्य समितियों की अध्यक्षता कोई अन्य मंत्री करता है। मंत्रिमण्डल की समितियों के माध्यम से राज्यमंत्री और उपमंत्री भी शासन के कार्यों में सहयोगी बनाए जा सकते हैं।

8.10 मंत्रिपरिषद् का महत्व

संसदीय प्रणाली में मंत्रिपरिषद् सरकार का कार्यकारिणी और प्रशासकीय अंग होती है। वास्तविक कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग मंत्रिपरिषद् ही करती है राष्ट्रपति तो नाममात्र का कार्यपालिका अध्यक्ष होता है जो मंत्रिपरिषद् की सलाह पर कार्य करता है और इसके विपरीत या इसके बिना वह कार्य नहीं कर सकता। मंत्रिमण्डल मंत्रिपरिषद् का प्रभावकारी अंग होता है। दलीय संगठन और दलीय अनुशासन मंत्रिमण्डल को व्यवस्थापिका अर्थात् संसद पर भी प्रभुत्व प्रदान कर देता है। लोक सभा को भंग करने की मंत्रिमण्डल की शक्ति संसद पर इसके प्रभुत्व को और अधिक सशक्त करती है। सिद्धान्ततः भले ही मंत्रिमण्डल लोकसभा के प्रति उत्तरदायी है, इस अर्थ में लोकसभा उसकी स्वामिनी है और लोकसभा में बहुमत का समर्थन उसके प्रभुत्व की बुनियाद है पंरन्तु व्यावहारिक स्थिति यह है कि लोकसभा में बहुमत के समर्थन के रहते तथा दलीय संगठन एवं अनुशासन के रहते मंत्रिमण्डल अपने स्थायित्व के बारे में आश्वस्त रहता है। मंत्रिमण्डल के सदस्य दल के भी प्रभावशाली नेता होते हैं अतः उसका निर्देशन भी करते हैं। यह बात भी महत्त्वपूर्ण है कि दल-बदल विरोधी कानून के रहते सांसदों को दलीय आदेश (ह्विप) के विरुद्ध मतदान करना उन्हें संसद की सदस्यता से वंचित कर सकता है। ब्रिटेन के संदर्भ में 'रैम्जे म्योर' का यह कथन है "ब्रिटिश शासन व्यवस्था का सार यह है कि शासन की समग्र शक्ति और दायित्व अधिकाधिक मात्रा में सरकार में केन्द्रित होती जा रही है और जबतक सरकार का संसद में बहुमत पर निर्बाध प्रभुत्व है उसकी शक्तियाँ वस्तुतः असीमित और अनियंत्रित हैं।" रैम्जेम्योर एक सर्वशक्तिमान कैबिनेट की संकल्पना करता है और मंत्रिमण्डल की तानाशाही तक की ओर ध्यान आकर्षित करता है। इस परिकल्पना के पक्ष में वह मंत्रिमण्डल के कार्यों का संदर्भ प्रस्तुत करते हैं। उन्होंने इस कार्य सूची में मंत्रिमण्डल द्वारा क्रमशः राष्ट्रीय नीति निर्धारण तथा किसी भी समस्या से कैसे निपटा जाए, प्रशासन का संचालन, नियंत्रण तथा निर्देशन, विधेयकों का प्रारूप तैयार करना और संसद में उनको प्रेषित करना, इस क्रम में विधि-निर्माण में इसके एकाधिकार का होना, राष्ट्रीय बजट का निर्धारण, सार्वजनिक पदों पर नियुक्तियाँ तथा संसद के कार्यक्रम और समय सारणी निर्धारित करना, को शामिल किया है अपने निष्कर्ष में वह कहते हैं कि एक निकाय जो इन शक्तियों से विभूषित हो उसे वास्तव में सर्वशक्तिमान कहा जा सकता है। स्पष्ट है कि रैम्जे म्योर के मत से ब्रिटिश शासन व्यवस्था का संसदीय स्वरूप बदलकर मंत्रिमण्डलीय शासन का स्वरूप हो गया। परिणामस्वरूप संसद की शक्ति तथा प्रतिष्ठा का ह्रास हुआ है। संसद की कार्यवाही प्रभावहीन हो गयी हैं और संसद का एकमात्र उद्देश्य एक सर्वशक्तिमान मंत्रिमण्डल को बनाए रखना अथवा उसकी आलोचना करना मात्र रह गया है। संसदीय शासन को मंत्रिमण्डलीय

शासन के नाम से पुकारे जाने के बात ब्रिटेन के ही संदर्भ में जेनिंग्स तथा कीथ की रचनाओं में भी देखी जा सकती है। रैम्जे म्योर ने मंत्रिमण्डल को "राज्य रूपी जहाज का संचालन चक्र" कहा है। अतः वे इस सैद्धान्तिक मंतव्य से असहमति रखते हैं कि मंत्रिमण्डल संसद की एक समिति मात्र है तथा संसद उस पर नियंत्रण रखती है। उनके विचार से मंत्रिमण्डल ही संसद को पूर्णतः नियंत्रण में रखता है।

लास्की ने अपनी पुस्तक 'इंग्लैण्ड में संसदीय शासन' में रैम्जे म्योर के विचारों का खण्डन किया है। लास्की का विचार है कि संसदीय शासन प्रणाली की कुशलता का रहस्य संसद पर मंत्रिमण्डल का नियंत्रण अवश्य है परन्तु इस नियंत्रण का उद्देश्य एक सुसंगत कार्यक्रम के अनुसार शासन का संचालन करना है तथा इसके लिए औपचारिक कानूनी स्वीकृति प्राप्त करना भी। ऐसी स्वीकृति देने का अधिकार संसद का है शासन प्रणाली की सफलता मंत्रिमंडल द्वारा ऐसी स्वीकृति प्राप्त करने पर निर्भर करती है। मंत्रिमंडल ऐसी स्वीकृति को बलात् प्राप्त नहीं कर सकता, इसके लिए उसे यत्न करना पड़ता है। लास्की सामूहिक उत्तरदायित्व को बनाए रखने हेतु मंत्रिमण्डल के हाथों में दलीय अनुशासन तथा नेतृत्व के होने को एक महत्वपूर्ण उपाय मानता है। लास्की ने लिखा है कि "बहुमत बनाए रखना कभी सरल या सीधी बात नहीं होती। अनुयायियों का अनुशासन सैनिकों द्वारा सेनापति की आज्ञापालन नहीं इसमें अनेक मनोवैज्ञानिक तत्व होते हैं जिनका सही अनुमान लगाना मंत्रिमण्डल के जीवन के लिए निर्णायक हैं।"

उपर्युक्त निष्कर्ष यद्यपि ब्रिटेन के संदर्भ में दिए गए हैं परन्तु भारत में जब कभी संसदीय शासन पर कोई विचार किया जाता है तो ब्रिटेन के संदर्भों को आवश्यक रूप से लिया जाता है। भारत के विशेष संदर्भ में अब तक के संसदीय शासन के इतिहास में, मंत्रिमण्डल द्वारा संसद को नियंत्रित किए जाने अथवा इसके विपरीत संसद द्वारा मंत्रिमण्डल को नियंत्रित किए जाने के, दोनों ही दृष्टान्त देखे जा सकते हैं। यों तो कोई भी सरकार बिना बहुमत के **शासन** में बनी नहीं रह सकती पर यदि सरकार ने अपने बहुमत के होते हुए भी संसद में प्रस्तावित विधेयकों को वापस लेना पड़े, बजट प्रस्ताव में संशोधन करना पड़े अथवा सरकार के मंत्रियों को त्यागपत्र देना पड़े तो इसे क्या संसद के द्वारा सरकार को नियंत्रित करना नहीं कहा जाएगा? पुनश्च साझा सरकारों में तो मंत्रिमण्डलों के ऊपर संपूर्ण संसद और सहयोगी दलों की तुष्टि का दबाव बना ही रहता है। साझा सरकारों का भारतीय प्रयोग तो निरपवाद इस तथ्य की भी पुष्टि करता है कि ऐसी सरकारों में सामूहिक उत्तरदायित्व का सिद्धान्त तक शिथिल हो गया है और मंत्रिमण्डल में समरसता का अभाव दिखता है। मंत्रिमण्डल में शामिल घटक दलों के मंत्रियों के मध्य पारस्परिक खींचतान, जिनके कि विशुद्ध राजनीतिक स्वार्थ होते हैं, साथ ही ऐसे मंत्रियों के परस्पर विरोधी स्वर दृष्टिगोचर होते रहते हैं। प्रायः ऐसे ही विषयों का समाधान करने के लिए साझा सरकार के घटक दलों की 'समन्वय समिति' गठित की जाती है। साथ ही ऐसी सरकारें सत्ता में आने से पूर्व किसी 'न्यूनतम साझा कार्यक्रम' पर सहमति बनाती हैं। यही कार्यक्रम साझा सरकारों को ऑक्सीजन प्रदान करता रहता है। एक दलीय सरकार के मंत्रिमण्डलों से तानाशाही प्रवृत्ति अपनाए जाने का विचार एक कल्पना ही कहा जाएगा ऐसी स्थितियाँ अपवाद स्वरूप ही दिखायी पड़ती है। तथा ऐसी प्रवृत्तियों को अपनाने वाली सरकारों के हश्र से भी हम परिचित हैं। इंदिरा गाँधी द्वारा आपात् काल (1975) को लागू करने और उस दौरान सरकार की शासन शैली का उत्तर पाने में उन्हें अधिक समय नहीं लगा। अगले ही चुनाव (1977) में उनके दल तथा उनकी स्वयं की पराजय भविष्य की सभी सरकारों के लिए एक बड़ी सीख है और इसने अन्ततः संसदीय शासन के संदर्भ में 'कानूनी संप्रभु के ऊपर राजनीतिक संप्रभु के वर्चस्व' को स्थापित किया है। इस संबंध में यदि 1977 से प्रत्येक संसदीय आम चुनावों पर एक दृष्टि डाली जाए और भारतीय जनता के मतदान आचरण का अवलोकन किया जाए तो यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भारतीय मतदाता ने अपनी राजनीतिक परिपक्वता का परिचय दिया है। **सरकारों की कार्यशैली में स्वेच्छाचारिता,**अहं भाव, सुशासन दे पाने में असमर्थता एवं जनाकांक्षाओं की उपेक्षा का जवाब जनता ने अपने संप्रभु राजनीतिक अस्त्र

(मताधिकार) का प्रयोग करके दिया है। अतः मंत्रिमण्डल की तानाशाही का विचार एक कोरी कल्पना ही है।

8.11 सारांश

संघीय कार्यपालिका के वास्तविक प्रमुख की भूमिका अन्य संसदीय प्रणाली वाले देशों की भाँति भारतवर्ष में भी प्रधानमंत्री द्वारा निभायी जाती है। प्रधानमंत्री की राय पर ही राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की नियुक्ति करता है। मंत्रिमण्डल के निर्णयों में भी प्रधानमंत्री की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है। विगत वर्षों में भारतवर्ष में एकदलीय और मिश्रित मंत्रिपरिषदों के कार्य संचालन तथा उनके प्रमुख के रुप में प्रधानमंत्री की भूमिका देखने को मिली है। स्वभावतः दलीय स्थिति ने प्रधानमंत्री और मंत्रिपरिषद के सम्बन्धों और उनके कार्य-निष्पादन को प्रभावित किया है।

8.12 उपयोगी पुस्तकें

1. ग्रेनविल आस्टिन : दि इण्डियन कांस्टिट्यूशन, कार्नरस्टोन ऑफ ए नेशन
2. एच0 एम0 जैन : दि यूनियन एक्जिक्यूटिव
3. डी0 सी0 गुप्ता : इण्डियन गवर्नमेन्ट एण्ड पालिटिक्स
4. जे0 सी0 जौहरी : इण्डियन गवर्नमेन्ट एण्ड पालिटिक्स
5. एम0 वी0 पायली : कांस्टिट्यूशन आफ इण्डिया
6. वी0 एन0 शुक्ला : भारत का संविधान
7. एस0 एम0 सईद : भारतीय राजनीतिक प्रणाली
8. जे0 एन0 पाण्डेय : भारत का संविधान
9. सुभाष कश्यप : अवर कान्स्टिट्यूशन
10. सुभाष कश्यप : अवर पार्लियामेन्ट
11. हरिमोहन जैन : भारतीय शासन और राजनीति
12. एस0 एस0 खेरा : दि सेन्ट्रल एक्जिक्यूटिव

8.13 सम्बन्धित प्रश्न

(a) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. भारत के प्रधानमंत्री के अधिकार और शक्तियों का परीक्षण कीजिए। भारत की शासन प्रणाली में उसकी भूमिका का परीक्षण कीजिए।
2. केन्द्रीय मंत्रिमंडल के कार्य एवम् शक्तियों की विवेचना कीजिए।
3. भारत के संदर्भ में मंत्रिमंडल तथा संसद के संबंधों का परीक्षक कीजिए।

(b) लघु उत्तरीय प्रश्न

1. मंत्रिपरिषद और मंत्रिमंडल में अंतर कीजिए।
2. केन्द्रीय मंत्रिपरिषद का गठन किस तरह होता है।
3. साझा मंत्रिमंडल से क्या आशय है?

4. सामूहिक उत्तरदायित्व से क्या अभिप्राय होता है?

(c) वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. निम्नांकित में से प्रधानमंत्री का कार्य है/हैं–
   (क) कैबिनेट द्वारा लिए गए सभी निर्णयों से राष्ट्रपति को अवगत कराना
   (ख) कैबिनेट की बैठकों के लिए कार्यसूची तैयार करना
   (ग) विभिन्न विभागों के कार्यों में समन्वय स्थापित करना
   (घ) उपर्युक्त सभी
2. संघीय मंत्रिपरिषद् किसके प्रति उत्तरदायी होती है–
   (क) प्रधानमंत्री
   (ख) राष्ट्रपति
   (ग) राज्य सभा
   (घ) लोकसभा
3. मंत्रिपरिषद् कब तक अपने अधिकारों का उपभोग कर सकती है–
   (क) राष्ट्रपति की इच्छा पर्यन्त
   (ख) एक निश्चित कार्यकाल तक
   (ग) जब तक इसे संसद सदस्यों के बहुमत का समर्थन प्राप्त होता है।
   (घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं।
4. मंत्रिपरिषद् की रचना, जीवन और अंत में कौन केन्द्रीय स्थान रखता है–
   (क) प्रधानमंत्री
   (ख) लोकसभा का अध्यक्ष
   (ग) राज्यसभा का सभापति
   (घ) राष्ट्रपति।

8.14 प्रश्नोत्तर

1. (घ)
2. (घ)
3. (ग)
4. (क)

इकाई 9 – संसद

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य
9.1 प्रस्तावना
9.2 संसद
9.3 संसद का गठन
9.4 राज्य सभा की संरचना
9.5 लोकसभा की संरचना
9.6 सांसदों द्वारा शपथ
9.7 सांसदों के विशेषाधिकार एवं उन्मुक्तियाँ
9.8 संसद के पदाधिकारी
9.9 लोकसभां का अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष
9.10 सदन की समितियाँ
9.11 भारतीय संसद में विधि निर्माण प्रक्रिया
9.12 विधेयक का दूसरे सदन में भेजा जाना
9.13 वित्त-विधेयक पारित करने की प्रक्रिया
9.14 संसद की शक्तियाँ एवं कृत्य
9.15 संसद के दोनों सदनों के मध्य पारस्परिक संबंध
9.16 संसद और मंत्रिपरिषद्
9.17 संसद और न्यायपालिका
9.18 व्यवस्थापिकाओं का ह्रास
9.19 भारतीय संसद का मूल्यांकन और निष्कर्ष
9.20 सारांश
9.21 उपयोगी पुस्तकें
9.22 सम्बन्धित प्रश्न
9.23 प्रश्नोत्तर

9.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

- भारतीय गणतंत्र की सर्वोच्च प्रतिनिध संसद और उसके गठन का उल्लेख कर सकेंगे,
- संसद की कार्यप्रणाली एवं शक्तियों की विवेचना कर सकेंगे।

9.1 प्रस्तावना

इस इकाई का उद्देश्य भारतीय गणतंत्र की सर्वोच्च प्रतिनिधि संस्था संसद का अध्ययन करना है। संसद एक द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका है। संसद का निचला सदन लोक सभा भारत की जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित प्रतिनिधि सभा है और उच्च सदन राज्य सभा राज्यों का प्रतिनिधित्व करती है जिसके सदस्य प्रत्येक राज्य के लिए निर्धारित किये गये हैं और इनका चुनाव राज्यों की विधान सभाएँ करती हैं, राज्यसभा में 12 सदस्यों का नामांकन राष्ट्रपति द्वारा किया जाता है। ये सदस्य समाज के विभिन्न क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करते हैं तथा अपने क्षेत्र विशेष के लब्ध-प्रतिष्ठित व्यक्ति होते हैं। यह इकाई संसद के गठन, कार्य प्रणाली, शक्तियों तथा उसकी स्थिति का अध्ययन और विवेचन करती है।

9.2 संसद

भारतीय संघ की सर्वोच्च व्यवस्थापन शक्ति जिस संस्था में निहित है उसे संसद कहा गया है। संसद सारे देश की व्यवस्थापिका है तथा इसे भारतीय जनता की प्रतिनिधि सभा कहा जाता है। जैसा कि एक संसदीय जनतंत्र के लिए स्वाभाविक है भारत की संसद देश के शासन-संचालन में अति महत्वपूर्ण स्थान रखती है। संसद को जहां व्यवस्थापन पर एकाधिकार है वहीं इसकी अनुमति के बिना सरकार न तो कोई कर लगा सकती है और न ही कोई व्यय कर सकती है। संविधान द्वारा मंत्रिपरिषद को संसद के लोकप्रिय सदन-लोकसभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी कहा गया है। संसद ही देश के संविधान में संशोधन की अधिकारिणी है। यह प्रश्न विद्वानों के मध्य विवादास्पद है कि भारतीय व्यवस्था में संप्रभु शक्ति का निवास कहाँ है। जहाँ एक मत संसद की संप्रभुता के समर्थन में इसे ब्रिटिश संसद के समतुल्य मानता है और अपने मत के समर्थन में संसद के संविधान संशोधन की शक्ति का तर्क देता है वहीं एक दूसरा मत जो प्रायः विधि विशेषज्ञों का है यह तर्क करता है कि भारतीय संसद की संविधान संशोधन की शक्ति असीमित नहीं है इसके समर्थन में यह वर्ग संविधान के मूल ढाँचे के सिद्धांत की दलील देता है तथा सर्वोच्च न्यायालय के न्यायिक पुनरावलोकन के अधिकार का भी संदर्भ लेता है। उक्त प्रश्न के विषय में एक तीसरा मत संप्रभुता को संविधान में निहित मानता है। इस मत के अनुसार संविधान में राजनीतिक संप्रभुता को भारत की जनता में निहित माना गया है। यह मत अपने तर्क के समर्थन में संविधान की प्रस्तावना का संदर्भ देता है।

9.3 संसद का गठन

संविधान के भाग पाँच का अध्याय दो (अनुच्छेद 79 से 122 तक) भारतीय संसद के गठन, उसकी संरचना, उसकी कार्यविधि, कार्यसंचालन, पदाधिकारियों आदि सभी विषयों का विस्तार से वर्णन करता है। अनुच्छेद 79 के अनुसार संसद, राष्ट्रपति तथा दो सदनों जिनके नाम क्रमशः राज्य सभा तथा लोकसभा हैं, से मिलकर बनती है। इस अनुच्छेद में इसे 'संघ के लिए एक संसद' कहा गया है जिसका अभिप्राय यह निकलता है कि संघ के लिए संसद सदैव बनी रहनी चाहिए। राष्ट्रपति को संविधान द्वारा संसद का अभिन्न अंग घोषित किया गया है यद्यपि राष्ट्रपति संसद की बैठकों में भाग नहीं लेता परन्तु संसद के दोनों सदनों को सत्राहुत करने, सत्रावसान करने तथा मंत्रिपरिषद् की सलाह पर लोकसभा को भंग करने की शक्ति रखता है। संसद के दोनों सदनों द्वारा पारित विधेयकों पर राष्ट्रपति की स्वीकृति आवश्यक होती है। इसके उपरान्त ही विधेयक कानून बनता है। संविधान राष्ट्रपति को संसद के सत्रावसान की अवधि में अध्यादेश जारी करे की शक्ति प्रदान करता है और ऐसे अध्यादेशों की भी वहीं शक्ति होती है जो कि संसद द्वारा बनाए गए कानून की। राष्ट्रपति संसद के दोनों सदनों को प्रत्येक वर्ष के पहले सत्र में संबोधित भी करता है।

9.4 राज्य सभा की संरचना

राज्य सभा अपने नाम के अनुरूप राज्यों की परिषद् है यह अप्रत्यक्ष रूप में भारतीय जनता, जो कि संघ के विविध घटक राज्यों एवं केंद्रशासित प्रदेश के रूप में समूहित है, का प्रतिनिधित्व करती है। संविधान के अनुच्छेद 80 में राज्यसभा की अधिकतम सदस्य संख्या 250 निर्धारित की गयी है। इनमें से 12 सदस्य राष्ट्रपति द्वारा नाम निर्देशित किए जाते हैं जो साहित्य, विज्ञान, कला एवं समाज सेवा से संबंधित विषयों में विशेष ज्ञान अथवा व्यावहारिक अनुभव प्राप्त हों। राज्य सभा के अन्य सदस्य राज्यों तथा केन्द्र शासित प्रदेशों की विधान सभाओं द्वारा निर्वाचित होते हैं। वर्तमान में राज्य सभा की कुल सदस्य संख्या 245 है। राज्यसभा में राज्यवार प्रतिनिधित्व की स्थिति संलग्न तालिका में प्रदर्शित है–

तालिका–1

राज्य और संघ राज्य क्षेत्रों का राज्य सभा में प्रतिनिधित्व

राज्य/केन्द्र शासित प्रदेश	राज्य सभा में सदस्य संख्या
असम	07
अरुणाचल	01
आंध्र प्रदेश	18
उत्तर प्रदेश	31
उड़ीसा	10
कर्नाटक	12
केरल	09
गुजरात	11
गोवा	01
जम्मू कश्मीर	04
नागालैण्ड	01
तमिलनाडु	18
पश्चिम बंगाल	16
पंजाब	07
उत्तरांचल	03
बिहार	16
मणिपुर	01
महाराष्ट्र	19
मध्य प्रदेश	11
मेघालय	01
मिजोरम	01
राजस्थान	10
सिक्किम	01
हरियाणा	05
हिमाचल प्रदेश	03

त्रिपुरा	01
दिल्ली	03
पांडिचेरी	01
झारखंड	06
छत्तीसगढ़	05
राष्ट्रपति द्वारा नामांकित	12
कुल सदस्य	**245**

राज्य सभा एक स्थायी सदन है तथा इसे भंग नहीं किया जा सकता। राज्य सभा के किसी सदस्य का कार्यकाल छह वर्ष का होता है और राज्य सभा के एक तिहाई सदस्य प्रति दो वर्ष की समाप्ति पर पदनिवृत्त हो जाते हैं। (अनुच्छेद 83 (1)]। भारत का उपराष्ट्रपति राज्य सभा का पदेन सभापति होता है। (अनुच्छेद 64 तथा अनुच्छेद 89 (1)]। राज्य सभा अपने सदस्यों में से ही किसी एक सदस्य को सदन के उपसभापति के रूप में निर्वाचित करती है। (अनुच्छेद 89 (2)]

9.5 लोकसभा की संरचना

लोकसभा संसद का निचला परन्तु लोकप्रिय सदन है। इसके सदस्य भारत की जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होते हैं। संविधान के अनुच्छेद 326 के प्रावधानों के अंतर्गत भारत का प्रत्येक वह नागरिक, जिसकी उम्र 18 वर्ष या इससे अधिक है और जिसे अन्यथा कानून द्वारा अनर्ह घोषित न किया गया हो, लोकसभा चुनाव में अपने मताधिकार का प्रयोग कर सकता है। संविधान के प्रावधानों के अनुसार ही लोकसभा में–

1. राजाओं में प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों से प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा चुने गए अधिकतम 530 सदस्य,
2. संघ-राज्य क्षेत्रों से प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा चुने गए अधिकतम 20 सदस्य तथा
3. संविधान के अनुच्छेद 331 के प्रावधानों के अनुसार यदि राष्ट्रपति की राय में लोकसभा में आंग्ल भारतीय समुदाय का समुचित प्रतिनिधित्व नहीं है तो वह दो सदस्यों को नाम निर्दशित कर सकता है।

इस तरह लोकसभा की अधिकतम सदस्य संख्या 552 हो सकती है। वर्तमान समय में लोकसभा में कुल 545 सदस्य हैं।

तालिका–2

लोक सभा में राज्य / केन्द्र शासित प्रदेशों से सदस्य संख्या

क्रम संख्या	*राज्य / केन्द्र शासित प्रदेश*	*सदस्य संख्या*
1.	आंध्र प्रदेश	42
2.	अरुणाचल	02
3.	आसाम	14
4.	बिहार	40
5.	छत्तीसगढ़	11
6.	दिल्ली	07

7.	गुजरात	26
8.	गोवा	02
9.	हरियाणा	10
10.	हिमाचल प्रदेश	04
11.	जम्मू और काश्मीर	06
12.	झारखण्ड	14
13.	केरल	20
14.	कर्नाटक	28
15.	मध्य प्रदेश	29
16.	महाराष्ट्र	48
17.	मेघालय	02
18.	मिजोरम	01
19.	मनीपुर	02
20.	नागालैण्ड	01
21.	उड़ीसा	21
22.	पंजाब	13
23.	राजस्थान	25
24.	सिक्किम	01
25.	तमिलनाडु	39
26.	त्रिपुरा	02
27.	उत्तर प्रदेश	80
28.	उत्तरांचल	05
29.	पश्चिम बंगाल	42
30.	अण्डमान व निकोबार	01
31	चण्डीगढ़	01
32.	दादर व नागर हवेली	01
33.	दमन व दीव	01
34.	पाण्डिचेरी	01
35.	लक्ष्यद्वीप	01
कुल निर्वाचित सदस्य		543
राष्ट्रपति द्वारा नामांकित		02
कुल सदस्य		545

लोकसभा के कुल सदस्यों को राज्यों के मध्य इस तरह वितरित किया जाता है कि यथा संभव प्रत्येक राज्य को लोकसभा में आवंटित स्थान तथा उसकी जनसंख्या का अनुपात समान रहे। इसके साथ ही प्रत्येक राज्य को प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों में इस तरह विभाजित किया जाता है कि संपूर्ण राज्य में प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र हेतु यथासंभव जनसंख्या का समान वितरण हो। अनुच्छेद 82 प्रत्येक जनगणना

के पश्चात् प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों के पुनः समायोजन का प्रावधान करता है।

लोकसभा के कार्यकाल के विषय में अनुच्छेद 83 (2) में प्रविधित है कि "लोकसभा यदि पहले ही विघटित नहीं कर दी जाती है तो अपने अधिवेशन के लिए नियत तारीख से पाँच वर्ष तक बनी रहेगी, इससे अधिक नहीं और पाँच वर्ष की उक्त अवधि की समाप्ति का परिणाम लोकसभा का विघटन होगा।"

परन्तु उक्त अवधि को जब आपात की घोषणा लागू हो तब संसद विधि द्वारा ऐसी अवधि के लिए बढ़ा सकेगी जो एक बार में एक वर्ष से अधिक नहीं होगी। साथ ही आपात घोषणा के वापस ले लिए जाने की दशा में इस तिथि के पश्चात् किसी भी दशा में लोकसभा के कार्यकाल का विस्तार छह माह से अधिक नहीं हो सकता।

लोकसभा में अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजातियों हेतु उनकी जनसंख्या के अनुपात में स्थान सुरक्षित किए गए हैं। ऐसे स्थानों का आरक्षण संविधान के 79वें संशोधन द्वारा 2010 तक के लिए बढ़ाया गया है।

संसद के सदस्यों की अर्हताएँ एवं अनर्हताएँ

अनुच्छेद 84 द्वारा संसद के दोनों सदनों हेतु अर्हताएँ निर्धारित की गयी है। जो निम्नवत् हैं–

1. वह भारत का नागरिक हो,
2. वह राज्य सभा में स्थान के लिए कम से कम 30 वर्ष और लोकसभा में स्थान के लिए कम से कम 25 वर्ष की आयु का हो,
3. उसके पास अन्य वे अर्हताएँ होनी चाहिए जिन्हें संसद समय-समय पर विधि द्वारा निर्धारित करे। साथ ही उसे भारत की प्रभुसत्ता तथा अखण्डता को अक्षुण्ण रखने की शपथ लेनी होती है।

अनुच्छेद 102 द्वारा संसद की सदस्यता हेतु अनर्हताएँ निर्धारित की गयी है जो निम्नवत् हैं–

1. भारत के गैर-नागरिक अथवा ऐसे नागरिक जिन्होंने किसी विदेशी राज्य की नागरिकता स्वेच्छा से अर्जित कर ली है अथवा किसी राज्य के प्रति निष्ठा को स्वीकार कर लिया हो,
2. यदि नागरिक विकृत मस्तिष्क का हो,
3. यदि वह अननुमोचित दिवालिया हो, तथा
4. यदि वह भारत सरकार अथवा राज्य सरकार के अधीन किसी लाभ के पद पर हो।

अनुच्छेद 101 (4) के अनुसार संसद के किसी सदन का कोई सदस्य जो लगातार 60 दिन की अवधि तक सदन की अनुज्ञा के बिना सभी अधिवेशनों में अनुपस्थित रहता है तो सदन उसके स्थान को रिक्त घोषित कर सकेगा।

इसके अतिरिक्त संविधान के संशोधन अधिनियमों 52 वें तथा 91 वें के प्रावधानों के अनुरूप कोई भी सांसद दल-बदल का दोषी पाए जाने पर सदन की सदस्यता के लिए अयोग्य हो जाता है। यदि संसद के किसी सदन के सदस्य की अयोग्यता के बारे में कोई प्रश्न उपस्थित हो तो इसका निर्णय राष्ट्रपति द्वारा चुनाव आयोग की राय से किया जाता है परन्तु दल-बदल की स्थिति में अयोग्यता के निर्धारण का अधिकार लोकसभा के अध्यक्ष या राज्यसभा के सभापति द्वारा किया जाता है। कोई भी व्यक्ति एक समय में संसद अथवा राज्य विधान मण्डलों के किसी एक ही सदन का सदस्य हो सकता है।

9.6 सांसदों द्वारा शपथ :

संसद के प्रत्येक सदस्य के लिए अनुसूची तीन में प्राविधित प्रारूप के अनुरूप शपथ लेना अनिवार्य है। (अनुच्छेद 99)।

सांसदों के वेतन तथा भत्ते :

संसद के दोनों सदनों के सदस्य संसद द्वारा विधि द्वारा निर्धारित वेतन तथा भत्ते प्राप्त करने के अधिकारी होते हैं।

9.7 सांसदों के विशेषाधिकार एवं उन्मुक्तियाँ

अनुच्छेद 105 में संसद सदस्यों के विशेषाधिकार निर्धारित किए गए हैं जो इस प्रकार हैं–

1. **संसद में भाषण की स्वतंत्रता, जो संविधान की** व्यवस्थाओं तथा संसद के नियमों के अनुकूल निर्धारित है। ऐसे भाषणों के संबंध में उनके विरुद्ध किसी न्यायालय में कोई कार्यवाही नहीं की जा सकती। ऐसी स्वतंत्रता संसद की समितियों के बारे में भी लागू होती है।

2. संसद के सत्र के प्रारंभ होने के 40 **दिन पूर्व तथा पश्चात्** किसी सदस्य को फौजदारी विषयों से संबंधित अपराधों के **अतिरिक्त बंदी नहीं** बनाया जा सकता। किसी भी सांसद की गिरफ्तारी की सूचना तत्काल सदन के अध्यक्ष को दिया जाना आवश्यक है। संसद के अधिवेशनों के दौरान अध्यक्ष की अनुमति के बिना किसी सदस्य को संसद भवन परिसर से गिरफ्तार नहीं किया जा सकता।

3. यदि कोई अधिकारी संसद सदस्य का अपमान करे अथवा उसके साथ दुर्व्यवहार करे तो सदस्य द्वारा इसकी शिकायत सदन के अध्यक्ष को किए जाए की स्थिति में ऐसे अधिकारी को दण्डित किया जा सकता है।

4. वस्तुतः संसद स्वयं अपनी विधि से सदस्यों के विशेषाधिकारों तथा उन्मुक्तियों के नियम बनाने में सक्षम है।

9.8 संसद के पदाधिकारी

जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है भारत का उपराष्ट्रपति राज्यसभा का पदेन सभापति होता है। राज्य सभा अपने किसी सदस्य को अपना उपसभापति चुनती है। उपसभापति, सभापति (उपराष्ट्रपति) को अनुपस्थिति में उसके कार्यों का निर्वहन करता है। ऐसी परिस्थिति में जबकि उपराष्ट्रपति राष्ट्रपति के रूप में कार्य कर रहा हो और राज्य सभा के उपसभापति का पद भी रिक्त हो गया हो तो राष्ट्रपति किसी सदस्य को इस पद के लिए नियुक्त कर सकता है। राज्य सभा के सभापति अथवा उप सभापति को उस स्थिति में जबकि इनको अपने पद से हटाए जाने का कोई संकल्प सदन में विचाराधीन है, सदन की अध्यक्षता करने का अधिकार प्राप्त नहीं है।

9.9 लोकसभा का अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष

लोकसभा अपने ही सदस्यों में से अपने अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष का चुनाव करती है। अध्यक्ष की अनुपस्थिति में उपाध्यक्ष, अध्यक्ष पद के कार्यों का निर्वहन करता है। लोकसभा अपने समस्त सदस्यों के बहुमत से पारित किसी प्रस्ताव द्वारा अध्यक्ष अथवा उपाध्यक्ष को पद से हटा सकती है।

संसद के प्रत्येक सदन का अपना पृथक सचिवालय होता है। जो क्रमशः अपने-अपने अध्यक्ष/सभापति

के नियंत्रण तथा निर्देशन में कार्य करता है।

लोकसभा अध्यक्ष की शक्तियाँ–लोकसभा के अध्यक्ष का पद एक प्रतिष्ठा एवं गौरव का पद है। लोकसभा अध्यक्ष के रूप में उसकी गरिमा का आधार उसकी निष्पक्षता में निहित है। यद्यपि भारत में ब्रिटेन की तरह स्पीकर पद के संबंध में परम्पराएँ इस रूप में विकसित नहीं हो पायीं कि वह अपने पद पर चुने जाने के उपरान्त अपनी दलीय सदस्यता से त्यागपत्र दे दे और न ही "एक बार स्पीकर सदैव स्पीकर" जैसी परम्परा ही विकसित हो सकी। लोकसभा का अध्यक्ष सदन का औपचारिक प्रधान होता है और सदन में उसका अधिकार सर्वोच्च होता है। सदन की उससे यह अपेक्षा रहती है कि वह अपने आचरण में एक निष्पक्ष न्यायधीश की भाँति राजनीतिक दृष्टि से तटस्थ रहेगा। अध्यक्ष के कार्य आसान नहीं है वह बाह्य जगत के लिए सदन का एकमात्र प्रतिनिधि तथा सदन की अंतरात्मा का रक्षक होता है। स्पीकर अथवा अध्यक्ष के कार्यों को संक्षेप में निम्नवत् वर्णित किया जा सकता है–

1. वह सदन की बैठकों की अध्यक्षता करता है तथा सदन के संचालन का नियंत्रण भी करता है। सदन में अनुशासन तथा व्यवस्था बनाए रखना उसका प्रमुख कर्त्तव्य है। सदन तथा सदन के सदस्यों की मर्यादा की रक्षा का दायित्व उसी का है। सदन के विशेषाधिकारों की रक्षा का दायित्व भी अध्यक्ष का ही है। वह सदन के सदस्यों के विरुद्ध अनुशासनिक कार्यवाही करने का अधिकार रखता है।
2. सदन की बैठकों में सदस्यों को बोलने की अनुमति अध्यक्ष ही प्रदान करता है। सदस्य–अध्यक्ष को संबोधित करके ही अपना विचार रखते हैं।

   सदन के नियमों के अनुसार सदन में प्रस्तुत किए जाने वाले विभिन्न प्रस्तावों की स्वीकृति तथा उन पर वाद-विवाद की अनुमति अध्यक्ष ही देता है। सदन में वाद-विवाद पर नियंत्रण स्थापित करना उसी का दायित्व है।
3. सदन में उठाए गए व्यवस्था के प्रश्नों पर निर्णय भी अध्यक्ष ही देता है। अध्यक्ष द्वारा दी गयी व्यवस्था अंतिम मानी जाती है।
4. सदन के कार्यवाही संबंधी नियमों को लागू करना तथा उनकी व्याख्या करना स्पीकर का कार्य है।
5. सामान्यतया अध्यक्ष सदन में मतदान में भाग नहीं लेता पर समान मत विभाजन होने की दशा में वह निर्णायक मत कर सकता है।
6. संसद के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक की अध्यक्षता लोकसभा का अध्यक्ष ही करता है।
7. किसी विधेयक के विषय में, यह विवाद उत्पन्न होने पर कि वह धन विधेयक है अथवा नहीं, निर्णय अध्यक्ष ही करता है और उसका निर्णय अंतिम होता है जब लोकसभा से पारित होकर धन विधेयक राज्यसभा को भेजा जाता है तो अध्यक्ष ही उसे इस आशय से प्रमाणित करता है।
8. सदन की बैठकों को स्थगित करने का अधिकार अध्यक्ष का होता है।
9. अध्यक्ष सदन और राष्ट्रपति के बीच संचार का माध्यम होता है।
10. अध्यक्ष ही यह निर्णय करता है कि सदस्यों द्वारा मंत्रियों से पूछे गए प्रश्नों को स्वीकार किया जाएगा अथवा नहीं साथ ही वह मौखिक उत्तर के लिए पूछे गए प्रश्न को लिखित उत्तर के लिए स्वीकार कर सकता है।
11. अध्यक्ष सदन की अनेक समितियों के सदस्यों को मनोनीत करता है। इनमें प्रमुख हैं–

कार्यक्रम परामर्शदात्री समिति, याचिका समिति, विशेषाधिकार समिति, सरकार द्वारा दिए गए आश्वासनों से संबंधित समिति, नियम समिति आदि। नियम समिति की अध्यक्षता स्पीकर स्वयं ही करता है।

12. अध्यक्ष द्वारा सदन के सदस्यों में से छह सदस्यों की एक तालिका (पैनल) मनोनीत की जाती है जिनमें से अध्यक्ष अथवा उपाध्यक्ष की अनुपस्थिति में किसी एक को सदन की अध्यक्षता करने का अनुरोध किया जाता है।

13. दल-बदल विरोधी संविधान संशोधन अधिनियमों ने लोकसभा के अध्यक्ष की भूमिका को और अधिक शक्तिशाली बना दिया है। दल-बदल संबंधी विवाद में अध्यक्ष को ही यह व्यवस्था देने का अधिकार है कि क्या दल का विधिवत् रूप से विभाजन हुआ है अथवा नहीं? दल-बदल कानून के अंतर्गत दल-बदल करने की स्थिति में सदस्यों को सदन की सदस्यता हेतु अयोग्य करार दिए जाने की शक्ति अध्यक्ष की ही है।

9.10 सदन की समितियाँ

संसद की कार्य प्रणाली में संसदीय समितियों की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। वस्तुतः विधानमण्डलों के कार्यों में अत्यधिक वृद्धि हो जाने के कारण तथा इनके कार्यों की जटिल प्रकृति के परिणामस्वरूप विधानमण्डलों को समितियों के रूप में सहायक संस्थाओं की आवश्यकता अनिवार्य हो गयी है। विश्व के सभी विधानमण्डल संसदीय समितियों का गठन अपने सदस्यों में से करते हैं। समितियों का गठन उनके कार्यों के अनुसार उनसे संबंधित विषयों में विशेष दक्षता रखने वाले सदस्यों को उनमें नियुक्त करके किया जाता है। इस दृष्टि से समितियाँ कार्य-विभाजन तथा कार्य-विशिष्टीकरण के सिद्धांतों के अनुरूप कार्य करती है। संसदीय समितियाँ जहाँ एक ओर विधानमण्डलों के कार्यभार को हल्का करती हैं वहीं दूसरी ओर वे अपने समक्ष विचारार्थ की प्राविधिकता पर भली-भाँति विचार-विमर्श कर सकती हैं। वे विभिन्न विषयों से संबंधित आवश्यक सूचना तथा सामग्री एकत्रित करती है। वे ऐसे विषयों से प्रभावित हितों अथवा व्यक्तियों की सुनवाई करती हैं, साक्ष्य लेती हैं तथा मौके पर जाकर जाँच करती हैं। समितियाँ शासन की नीतियों के निर्माण को प्रभावित करती हैं। वे प्रशासन पर नियंत्रण और सरकार तथा जनता के मध्य कड़ी के रूप में भी कार्य करती हैं। आमतौर पर विधानमण्डलों में विभिन्न विषयों पर दलीय आधार पर विचार किया जाता है इसलिए विधान मण्डलों में होने वाले वाद-विवाद निष्पक्ष नहीं हो पाते। समितियाँ विभिन्न विषयों पर गुणवत्ता के आधार पर विचार करती हैं। संसदीय समितियाँ सदन के विभिन्न दलों का प्रतिनिधित्व करती है अतः उन्हें 'लघु सदन' भी कहा जाता है।

भारत में संसदीय समितियाँ ब्रिटेन तथा अमेरिका से भिन्न रूप में गठित की जाती है। भारत में अधिकांश समितियों की नियुक्ति सदन के अध्यक्ष द्वारा की जाती है और कुछ समितियाँ का निर्वाचन सदन द्वारा किया जाता है। भारतीय संसद की समितियों को दो मुख्य श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है–

पहला–स्थायी समितियाँ और

दूसरा–प्रवर समितियाँ।

स्थायी समितियाँ वे समितियाँ हैं जिनका निर्माण सदन के नियमों के अंतर्गत किया जाता है। इनकी नियुक्ति प्रतिवर्ष की जाती है। इनसे भिन्न प्रवर समितियाँ अस्थायी होती है। इन्हें विभिन्न विषयों अथवा विधियकों पर विचार करने के लिए आवश्यकतानुसार संबंधित सदन के प्रस्ताव द्वारा गठित किया जाता है। ये समितियाँ अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करने के बाद स्वयं ही समाप्त हो जाती हैं। संसद के प्रत्येक सदन को यह अधिकार है कि वह आवश्यकतानुसार नयी समितियों का निर्माण कर सकता है। संसद के किसी भी सदन द्वारा अपने प्रस्ताव से किसी विधेयक के संबंध में संयुक्त समितियों को भी गठित

किया जा सकता है।

1989 में लोकसभा के नियमों में संशोधन कर स्थायी विभागीय समितियों को गठित किया गया। वर्तमान समय में ऐसी 17 विभागीय समितियाँ हैं जिनकी परिधि में सभी मंत्रालय और विभाग आ जाते हैं। इन समितियों का उद्देश्य कार्यपालिका के क्रिया कलापों में सांसदों की सहभागिता को प्रोन्नत करना होता है। ये समितियाँ निम्नलिखित हैं–

1. वाणिज्य समिति 2. गृह मामलों की समिति, 3. मानव संसाधन विकास समिति, 4. उद्योग समिति, 5. विज्ञान, प्रौद्योगिकी, पर्यावरण तथा वन समिति 6. परिवहन एवं पर्यटन समिति, 7. कृषि समिति, 8. संचार समिति, 9. रक्षा समिति, 10. ऊर्जा समिति, 11. विदेशी विभाग के मामलों से संबंधित समिति, 12. वित्त समिति, 13. खाद्य नागरिक पूर्ति व सार्वजनिक वितरण समिति, 14. श्रम व कल्याण समिति, 15. पेट्रोलियम एवं रसायन समिति, 16. नगर एवं विकास समिति तथा 17 रेलवे समिति। ये समितियां संसद की संयुक्त समितियाँ हैं। और प्रत्येक समितियों में अधिकतम 45 सदस्य नामजद किए जाते हैं। इनमें से 30 लोक सभा से 15 राज्य सभा से क्रमशः इन सदनों के अध्यक्षों द्वारा नामजद किए जाते हैं।

इन विभागीय समितियों के अतिरिक्त लोक सभा में वर्तमान में निम्नलिखित समितियाँ भी हैं–

1. कार्य मंत्रणा समिति, 2. गैर-सरकारी सदस्यों के विधेयकों तथा संकल्पों संबंधी समिति, 3. याचिका समिति, 4. विशेषाधिकार समिति, 5. अधीनस्थ विधायन समिति, 6. सरकारी आश्वासनों संबंधी समिति, 7. सार्वजनिक उद्यमों से संबंधित समिति, 8. नियम समिति, 9. सभा की बैठकों में सदस्यों की अनुपस्थिति से संबंधित समिति, 10. अनुसूचित जाति एवं जनजातियों के कल्याण से संबंधित समिति, 11. आवास समिति, 12. सदन पटल पर रेखे जाने वाले पत्रों से संबंधित समिति, 13. सामान्य उद्देश्य समिति, 14. पुस्तकालय समिति, 15. लोक लेखा समिति, 16. प्राक्कलन समिति। इन समितियों में से कुछ समितियाँ संसद के दोनों सदनों की संयुक्त समितियाँ हैं।

उक्त समितियों में से लोक लेखा समिति संसद की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समिति है। वस्तुतः यह संसद की एक संयुक्त समिति है जिसमें 22 सदस्य होते हैं। इनमें से सात सदस्य राज्य सभा से तथा 15 सदस्य लोक सभा से होते हैं। लोकसभा इस समिति के 15 सदस्यों का चुनाव आनुपातिक प्रतिनिधित्व की एकल संक्रमणीय मत प्रणाली द्वारा करती है। यह समिति वित्तीय प्रशासन पर लोकसभा के नियंत्रण का प्रभावपूर्ण साधन है। इस समिति का कार्य सरकार के विनियोग लेखों तथा नियंत्रक तथा महालेखा परीक्षक के प्रतिवेदनों पर विचार करते हुए यह देखना होता है कि सरकारी विभाग धन का न्याय संगत और विधिपूर्ण ढंग से व्यय कर रहे हैं। यह समिति सरकारी व्यय में की जाने वाली वित्तीय अनियमितताओं को उजागर करती है। स्पष्ट है कि शासन एवं प्रशासन के सभी विभाग उस समिति से भय खाते हैं।

प्राक्कलन समिति लोकसभा की एक महत्त्वपूर्ण वित्तीय समिति है। इसमें 30 सदस्य होते हैं। यह समिति वित्तीय प्रशासन में मितव्ययिता लाने तथा प्रशासन में कुशल एवं वैकल्पिक नीतियों के संबंध में सुझाव देने हेतु बनायी गयी हैं। अपने नाम के अनुरूप यह समिति प्रत्येक वर्ष के बजट में से विभागों का चयन कर उनके प्राक्कलनों की छानबीन इस उद्देश्य से करती है कि उनके द्वारा अपनायी नीतियाँ तथा योजनाएं कहाँ तक उपयोगी है और उन्हें किस तरह मितव्ययिता के साथ कार्यान्वित किया जा सकता है।

उपर्युक्त समितियां या तो संयुक्त समितियाँ हैं या विशुद्धतः लोक सभा की समितियाँ। इसके अतिरिक्त राज्य सभा की कुछ अपनी समितियाँ निम्नलिखित हैं–1. अधीनस्थ विधायन समिति, 2. सरकारी आश्वासनों से संबंधित समिति, 3. सदन पटल पर रखे जाने वाले कागजातों से संबंधित समिति, 4. नियम समिति, 5. सदन की समिति तथा 6. सामान्य उद्देश्य समिति।

9.11 भारतीय संसद में विधि निर्माण प्रक्रिया

भारतीय संसद देश की सर्वोच्च विधानमण्डल है। इसका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य देश के लिए कानून बनाना है। भारत में एक संघीय व्यवस्था को अपनाए जाने के कारण संघ तथा राज्य के विधायन अधिकार क्षेत्रों को सूचीबद्ध किया गया है। ये सूचियां क्रमशः संघ सूची, राज्य सूची तथा समवर्ती सूची हैं। संघ सूची के सभी विषयों पर संसद को कानून बनाने का एकाधिकार प्राप्त है। राज्य सूची के विषयों पर भी कतिपय परिस्थितियों में संसद कानून बना सकती है। समवर्ती सूची के विषयों में संघ तथा राज्य दोनों ही कानून बना सकते हैं पर संवैधानिक प्रावधान यह है कि इन दोनों कानूनों में असंगति होने की दशा में संघीय कानून राज्य के कानून पर अभिभावी होगा।

संसद की विधायी प्रक्रिया संविधान के अनु0 107 में बतायी गई है, यह अनुच्छेद विधेयकों के पुनः स्थापित और पारित किये जाने की उपबंध बताता है, इसेक पश्चातवर्ती अनुच्छेद कुछ दशाओं में संसद के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक तथा धन विधेयक के संबंध में विशेष प्रक्रिया का उल्लेख करते हैं।

पर संविधान संसद की विधायिनी निर्माण प्रक्रिया का स्पष्ट उल्लेख नहीं करता परन्तु संविधान में जहाँ पर संसद के दोनों सदनों के अधिकार उल्लिखित हैं वहीं पर विधायिनी प्रक्रिया का भी कुछ प्रासंगिक वर्णन मिलता है। संसद के दोनों सदन अपनी विधायिनी प्रक्रिया का निर्धारण संवैधानिक उपबंधों के अधीन अपने नियमों द्वारा करते हैं (अनुच्छेद 118)। जैसा कि सर्वविदित है विधानमंडलों द्वारा पारित किए जाने वाले कानून विधेयक के रूप में व्यवस्थापिका के किसी सदन में प्रस्तुत किए जाते हैं। संसद द्वारा पारित किए जाने वाले विधेयक दो तरह के होते हैं–

1. सरकारी विधेयक
2. गैर सरकारी सदस्यों के विधेयक।

सरकारी विधेयक तीन तरह के होते हैं–

1. साधारण विधेयक, 2. वित्त अथवा धन विधेयक तथा 3. संविधान संशोधन विधेयक

जबकि गैर सरकारी सदस्यों के विधेयक दो प्रकार के होते हैं–1. साधारण विधेयक तथा 2. संविधान संशोधन विधेयक।

सरकारी विधेयक से अभिप्राय मंत्रिपरिषद के किसी सदस्य द्वारा प्रस्तुत किए जाने वाले विधेयक से है। जबकि गैर सरकारी विधेयक संसद के किसी अन्य सदस्य द्वारा प्रस्तुत किए जाने वाले विधेयक को कहते हैं यह एक तथ्य है कि संसद की कार्य व्यस्तता तथा संसद के पास समयाभाव के कारण सरकारी कार्यों के अतिरिक्त गैर सरकारी सदस्यों के लिए समय शायद ही मिल पाता है। लोकसभा में सप्ताह के प्रति शुक्रवार के दिन के अंतिम ढाई घंटे इसके लिए निर्धारित है जो कि बहुत कम समय है परिणामतः संसद द्वारा पारित किए जाने वाले सारे विधेयक प्रायः सरकारी विधेयक ही होते हैं किसी गैर सरकारी विधेयक का संसद द्वारा पारित हो जाना एक अपवाद ही होता है।

भारतीय संसद की विधि निर्माण प्रक्रिया की एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि यहाँ विधि निर्माण में समितियों का प्रयोग अनिवार्य नहीं है यह सदन की इच्छा पर निर्भर करता है कि वह विधेयक को किसी समिति को निर्दिष्ट कर दे। विधि निर्माण प्रक्रिया के तीन चरण हैं–

1. प्रथम वाचन–इस अवस्था में विधेयक सदन में प्रस्तुत किया जाता है। विधेयक का **प्रस्तुतकर्ता** सदन में खड़ा **होकर** उसका शीर्षक तथा मूल उद्देश्य बताता है और विधेयक की **प्रकाशित प्रतिया** सदन में वितरित कर दी जाती हैं। विधेयक का प्रस्तावक सदन से उसे प्रस्तुत किए जाने की आज्ञा मांगता है। सदन में ध्वनिमत से उसका समर्थन/विरोध करता है। यद्यपि यह परम्परा है कि इस स्तर

पर सदन में कोई वाद-विवाद नहीं होता और न ही विधेयक के प्रस्तुतीकरण का विरोध ही किया जाता है परन्तु कुछ ऐसे उदाहरण हैं जब ऐसे विधेयकों का विरोध भी किया गया और उन पर वाद-विवाद भी हुआ। यदि विधेयक का विरोध संवैधानिक अनियमितता होने के आधार पर किया जाता है तो अध्यक्ष उस पर वाद-विवाद की अनुमति देता है जिसमें भारत का महान्यायवादी सहभागिता कर सकता है। इसके पश्चात् अध्यक्ष सदन से यह आज्ञा चाहता है कि क्या सदन की राय विधेयक को पारित करने के पक्ष में है? सदन की अनुमति मिल जाने पर प्रथम वाचन अर्थात् विधेयक के प्रस्तुतीकरण की औपचारिकता पूरी हो जाती है। तथा विधेयक को गजट में प्रकाशित कर दिया जाता है।

2. द्वितीय वाचन–द्वितीय वाचन विधेयक के पारित होने का सबसे महत्वपूर्ण चरण होता है। द्वितीय वाचन अध्यक्ष द्वारा निर्धारित तिथि को होता है। इस वाचन के स्तर पर विधेयक पर सदन द्वारा विस्तार से विचार किया जाता है। इस स्तर पर विधेयक का प्रस्तावक निम्नलिखित प्रस्ताव कर सकता है–

(i) कि विधेयक किसी प्रवर समिति को संदर्भित कर दिया जाए अथवा

(ii) कि विधेयक पर जनमत जानने के लिए प्रसारित कर दिया जाए। अथवा

(iii) कि सदन द्वारा तत्काल विधेयक पर विचार-विमर्श कर लिया जाए।

यदि सदन द्वारा विधेयक को प्रवर समिति को संदर्भित कर दिया जाता है तो इस आशय की समिति गठित हो जाती है तथा अध्यक्ष द्वारा समिति के अध्यक्ष को नामांकित कर दिया जाता है। समिति द्वारा विधेयक का परीक्षण विस्तार से किया जाता है। समिति में विधेयक पर संशोधन भी लाए जा सकते हैं परन्तु उन्हें विधेयक के मूल सिद्धान्तों के अनुरूप ही होना चाहिए। समिति द्वारा अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत कर दिए जाने के उपरान्त जब सदन में विधेयक को विचारार्थ लाया जाता है तो सदन में इस पर चर्चा आरम्भ होती है यहाँ पर सदन विधेयक पर धारावार विचार करता है और विधेयक पर संशोधन भी प्रस्तुत किए जा सकते हैं। सदन द्वारा वाद-विवाद के उपरान्त विधेयक को मतदान द्वारा पारित कर दिए जाने पर द्वितीय वाचन पूर्ण हो जाता है।

3. **तृतीय वाचन**–तृतीय वाचन की निर्धारित तिथि को विधेयक एक बार पुनः सदन के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है। इस अवस्था में विधेयक पर मामूली ऐसे संशोधन किए जा सकते हैं जिनसे भाषागत या अन्य अस्पष्टताओं का निराकरण हो सके। अंततः विधेयक पर मतदान करा लिया जाता है और सदन द्वारा पारित होने पर अध्यक्ष इस आशय की घोषणा करता है।

9.12 विधेयक का दूसरे सदन में भेजा जाना

किसी एक सदन में पुर! स्थापित उपर्युक्त विधेयक उस सदन द्वारा पारित हो जाने के उपरान्त सदन का अध्यक्ष उसे दूसरे सदन को प्रेषित कर देता है। दूसरे सदन में भी विधेयक को पहले सदन की उपर्युक्त प्रक्रियानुसार विभिन्न चरणों से गुजर कर पारित होना होता है। दोनों सदनों द्वारा विधेयक के पारित हो जाने के उपरान्त विधेयक राष्ट्रपति की स्वीकृति हेतु प्रेषित कर दिया जाता है तथा राष्ट्रपति के हस्ताक्षर हो जाने पर यह विधेयक कानून का रूप धारण कर लेता है।

दूसरे सदन द्वारा विधेयक पर असहमति व्यक्त करने की स्थिति में अथवा दूसरे सदन द्वारा विधेयक पर प्रस्तावित संशोधनों पर पहले सदन की असहमति होने पर विधेयक के बारे में गत्यावरोध उत्पन्न हो जाता है। ऐसे गत्यावरोध की दशा में राष्ट्रपति संसद का संयुक्त अधिवेशन बुलाता है और उसमें उस विधेयक पर विचार करने के पश्चात् उसके संबंध में बहुमत से निर्णय लिया जाता है। उस परिस्थिति में जबकि एक सदन द्वारा पारित विधेयक दूसरे सदन में उसके विचार किए बिना ही छह माह तक लम्बी हो तो भी संविधान के अनुच्छेद 108 के प्रावधानों के अधीन राष्ट्रपति द्वारा संसद का संयुक्त अधिवेशन आहूत किया जाता है तथा इस अधिवेशन में विधेयक के भविष्य का निर्धारण हो जाता है।

9.13 वित्त-विधेयक पारित करने की प्रक्रिया

साधारण विधेयकों से भिन्न वित्त-विधेयक के पारित होने की प्रक्रिया अलग है। संविधान के अनुच्छेद 265 में प्राविधित है कि सरकार द्वारा बिना विधि के प्राधिकार के न तो कोई कर आरोपित किया जा सकता है और न ही संग्रहीत। अतः कार्यपालिका करारोपण अथवा धन का व्यय संसद की अनुमति से ही कर सकती है। कोई भी वित्तीय विधेयक, साधारण विधेयक से भिन्न, पहले लोकसभा में ही प्रस्तुत किया जा सकता है। एक वित्त विधेयक की परिभाषा संविधान के अनुच्छेद 110 में दी गयी है। मोटे तौर पर किसी वित्तीय वर्ष में सरकार द्वारा प्रस्तावित सभी कर, शुल्क तथा व्यय आदि वित्त विधेयक की श्रेणी में आते हैं। कोई विधेयक वित्त विधेयक है अथवा नहीं ऐसा विवाद उत्पन्न होने की स्थिति में इस पर अंतिम निर्णय लोक सभा के अध्यक्ष द्वारा किया जाता है। लोकसभा का अध्यक्ष लोकसभा द्वारा प्रत्येक वित्तीय विधेयक को पारित कर देने के उपरान्त उसे इस आशय से प्रमाणित भी करता है। विधेयक के पारित होने की प्रक्रिया सामान्य विधेयक जैसी ही है परन्तु लोकसभा द्वारा इसे पारित कर दिए जाने के उपरान्त राज्य सभा इसे अधिकतम 14 दिन तक रोक सकती है। वित्त विधेयक के मामले में लोकसभा की सर्वोच्चता स्थापित की गयी है। राज्य सभा के पास सीमित रूप से ही देर करने की शक्ति प्राप्त है। स्मरणीय है कि इस क्षेत्र में राज्य सभा संभवतः विश्व के उच्च सदनों में सबसे कमजोर स्थिति में है। इंग्लैण्ड की लार्ड सभा भी धन विधेयक को एक माह तक रोक सकती है।

संसद के दोनों सदनों द्वारा विधेयकों के पारित हो जाने के बाद जब विधेयकों पर राष्ट्रपति के हस्ताक्षर हो जाते हैं तो वे कानून/विधि बन जाते हैं।

9.14 संसद की शक्तियाँ एवं कृत्य

भारत की संसद को प्राप्त शक्तियों तथा उसके कार्यों को निम्नलिखित रूप में रखा जा सकता है–

1. व्यवस्थापन संबंधी शक्तियाँ–संसद देश का सर्वोच्च विधान मण्डल है और जहाँ तक साधारण विधायन का संबंध है संसद के दोनों सदनों की शक्तियाँ लगभग समान हैं। इसका अभिप्राय यह है कि देश का प्रत्येक कानून संसद के दोनों सदनों द्वारा पारित होना चाहिए। जैसा कि संसद की कानून निर्माण प्रक्रिया का वर्णन करते हुए ऊपर बताया जा चुका है कानून निर्माण हेतु किसी भी विधेयक की पुरः स्थापना संसद के किसी भी सदन में हो सकती है। इस सदन द्वारा निर्धारित प्रक्रिया से पारित विधेयक जब दूसरे सदन में निर्धारित प्रक्रिया द्वारा उसी रूप में पारित हो जाता है तो वह राष्ट्रपति के हस्ताक्षर हो जाने पर कानून का रूप धारण कर लेता है। स्मरणीय है कि किसी विधेयक के बारे में दोनों सदनों के मध्य असहमति होने की स्थिति में राष्ट्रपति द्वारा संसद का संयुक्त अधिवेशन आहूत कर विधेयक के पारित किए जाने का संवैधानिक प्रावधान उपलब्ध है।

2. वित्तीय शक्तियाँ–साधारण विधेयक से भिन्न किसी वित्तीय विधेयक की स्थिति में लोकसभा को राज्यसभा की तुलना में वरीयता प्रदान की गयी है। इसका कारण लोकसभा के सदस्यों का भारत की जनता (मतदाताओं) द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होना है। लोकसभा की उक्त वरीयता प्रथमतः इस अर्थ में है कि वित्तीय विधेयक पहले लोकसभा में ही पुरः स्थापित किए जा सकते हैं और द्वितीयतः राज्य सभा इन विधेयकों पर मात्र देरी करने की शक्ति रखती है और वह भी सिर्फ चौदह दिनों की। इस अवधि में राज्यसभा द्वारा वित्त विधेयक को लोकसभा को न लौटाए जाने की स्थिति में इसे पारित मान लिया जाता है। यह भी ज्ञातव्य है कि वित्त विधेयक में राज्य सभा द्वारा की गयी संस्तुतियों को लोकसभा के मानने के लिए बाध्य नहीं है।

3. कार्यपालिका पर नियंत्रण की शक्ति– यह कहा जा सकता है कि लोकसभा ही मंत्रिपरिषद् का निर्माण करती है। इस कथन का आशय यह है कि मंत्रिपरिषद् का गठन लोकसभा में बहुमत प्राप्त

दल अथवा दलीय गठबंधन से ही हो सकता है। इस तरह मंत्रिपरिषद् लोकसभा की एक समिति के रूप में देखी जा सकती है। यद्यपि मंत्रिपरिषद् में राज्य सभा के सदस्यों को भी स्थान दिए जाते हैं। संसद के कार्यपालिका पर नियंत्रण का वास्तविक अर्थ भी लोकसभा द्वारा कार्यपालिका पर नियंत्रण ही है। इस संदर्भ में संविधान के अनुच्छेद 75 (3) में स्पष्ट उल्लिखित है कि मंत्रिपरिषद् सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होगी। इसका आशय यह है कि कोई भी मंत्रिपरिषद् लोकसभा के विश्वास पर्यन्त ही बनी रह सकती है। लोकसभा मंत्रिपरिषद् के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पारित कर उसे अपदस्थ कर सकती है।

कार्यपालिका पर नियंत्रण का आशय सामान्य प्रशासन पर नियंत्रण से भी है। सामान्य प्रशासन हेतु कार्यपालिका प्रशासनिक विभागों में विभक्त होती है। प्रत्येक प्रशासनिक विभाग के शीर्ष पर राजनीतिक कार्यपालिका के प्रतिनिधि के रूप में एक मंत्री विराजमान होता है। विभागीय कृत्यों के विषय में संसद के प्रति अंतिम जवाबदेही विभागीय मंत्री की ही होती है। संसद द्वारा कार्यपालिका पर ऐसा नियंत्रण विभिन्न संसदीय उपकरणों का प्रयोग करके स्थापित किया जाता है। वे उपकरण हैं– संसद में प्रश्न पूछा जाना, काम रोको प्रस्ताव, निंदा प्रस्ताव, कटौती प्रस्ताव और अंततः अविश्वास प्रस्ताव।

4. संवैधानिक शक्तियाँ–संसद की संवैधानिक शक्तियों का आशय संसद के संविधान संशोधन की शक्ति से है। संसद के दोनों सदन इस संबंध में समान शक्तियाँ रखते हैं। संविधान के अनुच्छेद 368 में संविधान संशोधन की विधि वर्णित है। प्रत्येक संविधान संशोधन की पहल संसद के माध्यम से ही हो सकती है तथा इसके पारित किए जाने हेतु संसद के दोनों सदनों में अलग-अलग विशेष बहुमत की आवश्यकता होती है। यह विशेष बहुमत सदन की कुल सदस्य संख्या का बहुमत तथा उपस्थित एवं मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों का दो तिहाई होता है।

5. निर्वाचन संबंधी शक्तियाँ–भारत की संसद के निर्वाचित सदस्य भारत के राष्ट्रपति के निर्वाचन में राज्यों तथा संघ शासित प्रदेशों की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्यों के साथ मिलकर निर्वाचक मण्डल का निर्माण करते हैं। भारत के उपराष्ट्रपति का चुनाव संसद के दोनों सदनों के समस्त सदस्य मिलकर करते हैं।

6. पदाधिकारियों को अपदस्थ करने की शक्ति–संविधान द्वारा संसद को निम्नलिखित संवैधानिक पदाधिकारियों को उनके पद से अपदस्थ किए जाने की शक्ति प्रदान की गयी है–

(अ) भारत का राष्ट्रपति–संसद संविधान के अनुच्छेद 61 में वर्णित महाभियोग की प्रक्रिया से राष्ट्रपति को उसके पद से अपदस्थ कर सकती है।

(ब) भारत का उपराष्ट्रपति–को संविधान के अनुच्छेद 67 (B) में उल्लिखित प्रक्रिया द्वारा संसद उसके पद से पदच्युत कर सकती है।

(स) उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीश–संसद द्वारा उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों को साबित कदाचार या असमर्थता के आधार पर उनके पद से अपदस्थ किए जाने का प्रावधान संविधान के अनुच्छेद 124 (4) में वर्णित है। यह प्रक्रिया भी महाभियोग प्रक्रिया ही है। उच्च न्यायालय के न्यायधीश को अपदस्थ करने की शक्ति भी संसद को उपर्युक्त प्रक्रिया के अनुसार ही प्राप्त है।

(द) भारत का नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक–जिसकी नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा अनुच्छेद 148 (1) के तहत की जाती है, इसी अनुच्छेद के प्रावधानों के अंतर्गत भारत की संसद द्वारा ठीक वही प्रक्रिया अपनाकर जो कि उच्चतम न्यायालय के न्यायधीश के लिए निर्धारित है, अपने पद से अपदस्थ किया जा सकता है।

9.15 संसद के दोनों सदनों के मध्य पारस्परिक संबंध

भारत में संसद के लिए द्विसदनात्मक व्यवस्था को अपनाया जाना एक अनिवार्यता थी क्योंकि भारत के लिए एक संघीय व्यवस्था को अपनाया गया था। जैसा कि सभी संघीय व्यवस्थाओं में देखा जा सकता है व्यवस्थापिका के पहले सदन को जिसे प्रायः निम्न सदन कहकर पुकारा जाता है, संपूर्ण राज्य क्षेत्र को निर्वाचन क्षेत्रों में विभाजित कर प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र से एक प्रतिनिधि को प्रत्यक्ष मतदान की व्यवस्था द्वारा चुनकर संगठित किया जाता है। संघीय व्यवस्थाओं में व्यवस्थापिका का दूसरा सदन जिसे उच्च सदन कहा जाता है राज्यों का प्रतिनिधित्व करता है। संघीय व्यवस्थाओं में आमतौर पर इस सदन में राज्यों को समान प्रतिनिधित्व दिया गया है किन्तु भारत इसका एक अपवाद है क्योंकि यहाँ राज्य सभा में राज्यों को प्रतिनिधित्व देने का आधार राज्य की जनसंख्या है। भारत में राज्य सभा की संरचनात्मक प्रकृति आंशिक रूप से नामांकित और आंशिक से अप्रत्यक्ष रूप में निर्वाचित सदन की है। यद्यपि विधायी कार्यों को संपन्न करने हेतु संसद के दोनों सदन मिल जुलकर कार्य करते हैं परन्तु निम्नलिखित मामलों के संदर्भ में लोकसभा की राज्यसभा की अपेक्षा श्रेष्ठतर स्थिति है–

1. जहाँ तक मंत्रिपरिषद् तथा संसद के पारस्परिक संबंधों का प्रश्न है संविधान यह स्पष्ट रूप से प्रावधान करता है कि मंत्रिपरिषद् सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होगी। (अनुच्छेद 75 (3)। इसका अभिप्राय यह है कि मंत्रिपरिषद् लोकसभा के विश्वास पर्यन्त ही बनी रह सकती है। इस अर्थ में संसद की कार्यपालिका को नियंत्रित करने की शक्ति, वस्तुतः लोकसभा की शक्ति हो जाती है। यह बात और है कि राज्य सभा भी मंत्रिपरिषद् से शासन संबंधी सभी प्रश्नों पर पूर्ण विवरण प्राप्त करने का अधिकार रखती है। राज्य सभा मंत्रिपरिषद के विरुद्ध निन्दा प्रस्ताव पारित करने का अधिकार नहीं रखती। और न ही यह सरकार के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव ही कर सकती है।

2. वित्त अथवा धन विधेयकों के संबंध में राज्य सभा को नाममात्र की शक्ति प्राप्त है। अनुच्छेद 109 के प्रावधानों के तहत धन विधेयक राज्य सभा में पुरःस्थापित नहीं किया जाता, राज्य सभा को लोक सभा द्वारा पारित विधेयक 14 दिन के भीतर लोकसभा को लौटाना होता है तथा लोकसभा राज्य सभा द्वारा संस्तुत किसी या सभी सिफारिशों को स्वीकार या अस्वीकार कर सकती है। इस तरह राज्य सभा की वित्तीय विधेयकों के मामले में शक्तियाँ मात्र परामर्श देने तक ही सीमित हैं।

3. अन्य विधायी कार्यों में जिनके अंतर्गत संवैधानिक संशोधन भी शामिल हैं, दोनों ही सदन समान शक्तियां रखते हैं परन्तु यहां पर भी दोनों सदनों के मध्य गतिरोध उत्पन्न हो जाने की दशा में, दोनों सदनों की संयुक्त बैठक में बहुमत द्वारा निर्णय किए जाने का प्रावधान लोकसभा को अपनी संख्यात्मक शक्ति के कारण अधिक शक्तिशाली बना देता है।

प्रायः संविधान के अध्ययनकर्त्ता व्यवस्थापिकाओं के सदनों की अन्य देशों के साथ तुलना भी करते हैं। ऐसी तुलना में भारत की राज्य सभा अमेरिका की सीनेट या आस्ट्रेलिया की सीनेट और यहां तक कि वित्त विधेयक की विलम्बकारी शक्ति के संदर्भ में ब्रिटिश लार्ड सभा से भी कम शक्तिशाली दर्शायी जाती है। किन्तु इसकी तुलना के आधार पर राज्य सभा के बारे में यह निष्कर्ष निकालना उचित नहीं होगा कि यह सदन मात्र एक अलंकारिक सदन है। संविधान निर्माता भी राज्य सभा को एक विशिष्ट प्रकार का उपयोगी सदन बनाना चाहते थे। इस संबंध में यह भी ध्यान देने योग्य है कि राज्य सभा में प्रायः वरिष्ठ राजनेता एवं समाज के विभिन्न क्षेत्रों के विशेषज्ञ प्रतिनिधित्व प्राप्त करते हैं। अतः राज्य सभा लोकसभा के द्वारा पारित विधेयकों को मात्र स्वीकृति प्रदान करने वाला सदन नहीं है। राज्य सभा स्वयं विधेयकों को पुनः स्थापित कर या संशोधन प्रस्ताव द्वारा लोकसभा को उसकी भूलों का एहसास भी करा सकती है। संविधान में ही राज्य सभा को कुछ ऐसे अधिकार प्रदान किए गये हैं जो लोकसभा को प्राप्त नहीं है। ये निम्नलिखित हैं–

(i) संविधान के अनुच्छेद 249 के अंतर्गत राज्य सभा सदन की कुल संख्या के बहुमत तथा मतदान

में भाग लेने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत द्वारा यह घोषित कर सकती है कि राष्ट्रहित में यह आवश्यक हो गया है कि राज्य सूची के किसी विषय पर संसद विधि निर्माण करें। राज्य सभा द्वारा ऐसा प्रस्ताव पारित हो जाने के उपरान्त संसद को उस विषय में भारत के संपूर्ण राज्य क्षेत्र अथवा उसके किसी भाग के लिए एक वर्ष तक की अवधि के लिए विधि-निर्माण की शक्ति प्राप्त हो जाती है।

(ii) राज्य सभा का दूसरा विशिष्ट अधिकार राष्ट्रहित में नयी अखिल भारतीय सेवाओं को स्थापित करने से संबंधित है। इसकी विधि भी उपर्युक्तानुसार ही है।

(iii) जब राज्यों में संवैधानिक तंत्र विफल होने की दशा में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया हो और कदाचित् यदि ऐसे ही समय लोकसभा भी भंग हो जाए तो राष्ट्रपति की ऐसी घोषणा का अनुमोदन राज्य सभा द्वारा किया जाता है।

(iv) भारत का संविधान मंत्रिपरिषद् के गठन में संसद के दोनों सदनों के मध्य कोई भेद नहीं करता। अतः मंत्रिमंडलों के गठन में राज्य सभा को आवश्यक रूप से प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाता है। यही नहीं भारत में प्रधानमंत्री भी राज्य सभा के सदस्यों में से चयनित हुए हैं। 1966 में 'इंदिरा गाँधी जब पहली बार प्रधानमंत्री बनीं तब वह राज्य सभा की सदस्य बनी। 1996 में देवगौड़ा प्रधानमंत्री पद ग्रहण करते समय संसद के किसी भी सदन के सदस्य नहीं थे और बाद में उन्होंने राज्य सभा की सदस्यता प्राप्त कर ली। इंद्र कुमार गुजराल भी प्रधानमंत्री के रूप में राज्य सभा के ही सदस्य रहे।

9.16 संसद और मंत्रिपरिषद्

भारत में संसद तथा मंत्रिपरिषद् क्रमशः शासन के परम्परागत त्रिवर्गीय विभाजन में व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका का निर्माण करते हैं। भारत में संसदीय शासन व्यवस्था को अपनाया गया है और यह व्यवस्था व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका को परस्पर एक दूसरे से आबद्ध करती है। दूसरे रूप में कहा जाए तो संसदीय शासन कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका के बीच शक्ति पृथक्करण के सिद्धांत पर आधारित नहीं है। संसदीय शासन का शास्त्रीय विचार संसद की संप्रभुता का विचार है परन्तु यह विचार ब्रिटेन के संदर्भ में दिया गया विचार है जहाँ कि एक लिखित संविधान का अंगीकरण नहीं किया गया है। स्पष्ट है कि भारत की संसद के विषय में संसदीय संप्रभुता के विचार की अभिव्यक्ति नहीं की जा सकती। जब हम संसद एवं मंत्रिपरिषद् के पारस्परिक संबंधों की चर्चा करते हैं तो हमारा आशय संवैधानिक व्यवस्था और राजनीतिक व्यवहार में इनके मध्य संबंधों को दर्शाना होता है। भारत में मंत्रिपरिषद् अर्थात् सरकार के निर्माण की प्रक्रिया लोकसभा के आम चुनाव से प्रारंभ होती है। लोकसभा में बहुमत प्राप्त दल अथवा दलीय गठबंधन के चुने गए नेता को सर्वप्रथम राष्ट्रपति द्वारा प्रधानमंत्री के रूप में नियुक्त किया जाता है और उसकी सलाह पर राष्ट्रपति अन्य मंत्रियों की नियुक्ति करता है। इस अर्थ में लोकसभा मंत्रिपरिषद् की जननी हो जाती है। मंत्रिपरिषद् सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी है। यह एक संवैधानिक प्रावधान है। लोकसभा द्वारा अपने बहुमत से पारित अविश्वास प्रस्ताव द्वारा मंत्रिपरिषद् को अपदस्थ किया जा सकता है। यही नहीं मंत्रिपरिषद् के किसी मंत्री के विरुद्ध भी संसद द्वारा अभिव्यक्त अविश्वास मंत्रिपरिषद् के त्यागपत्र दे देने का कारण बन सकता है। संसद के दोनों सदनों द्वारा मंत्रिपरिषद् को नियंत्रित किए जाने के उपायों की चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं।

संसद की ऐसी स्थिति को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि मंत्रिपरिषद् संसद की अधीनस्थ संस्था है परन्तु वास्तविक स्थिति इससे भिन्न है। व्यावहारिक दृष्टि से दल प्रणाली के विकास के साथ ही मंत्रिपरिषद् की स्थिति इतनी मजबूत हो गयी है कि वह संसद को नियंत्रित करती है। इस संदर्भ में 'मंत्रिमण्डल की तानाशाही' के विचार भी व्यक्त किए गए हैं। जिसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है। वर्तमान समय में मंत्रिपरिषद् मात्र सरकार का कार्यकारिणी अंग ही नहीं है अपितु उसने संसद में

विधायिनी नेतृत्व भी अपने हाथों में ले लिया है और यह कहना अनुचित नहीं होगा कि आज संसद के मौलिक कार्य विधि निर्माण का संपादन मंत्रिपरिषद् द्वारा ही किया जाता है। दलीय अनुशासन के रहते और संसद में बहुमत के रहते हुए सरकार किसी भी कानून को संसद द्वारा पारित कराने में सक्षम होती है। मंत्रिपरिषद् के द्वारा संसद (व्यवहार में लोकसभा) को नियंत्रित करने की सबसे बड़ी शक्ति प्रधानमंत्री को यह अधिकार है कि वह राष्ट्रपति को सलाह देकर लोकसभा को किसी भी समय भंग करवा सकता है। निष्कर्ष यह निकलता है कि 'मंत्रिपरिषद् जब तक संसद में अपने बहुमत के बारे में आश्वस्त होती है वही संसद को नियंत्रित करती है।

9.17 संसद और न्यायपालिका

भारत के संविधान द्वारा न्यायपालिका की स्वतंत्रता के सिद्धांत को मान्यता प्रदान की गयी है। संविधान एक सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना करता है जो कि संसद के नियंत्रण से मुक्त होकर कार्य करता है। किन्तु संविधान के अनुच्छेद 125 के प्रावधानों के अधीन सर्वोच्च न्यायालय के न्यायधीशों के विशेषाधिकार, वेतन, भत्ते आदि संसद द्वारा निर्मित विधि से निर्धारित होते हैं। परन्तु संसद किसी कार्यरत न्यायधीश के लिए इन सब विषयों में कोई अलाभकारी परिवर्तन नहीं कर सकती। न्यायपालिका के क्षेत्र में संसद की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शक्ति न्यायधीशों को पदच्युत करने का अधिकार है। संविधान द्वारा न्यायपालिका को न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति प्रदान की गयी है जिसका आशय यह है कि न्यायपालिका संसद द्वारा पारित किसी कानून की संवैधानिकता की जाँच कर सकती है और न्यायपालिका को यदि ऐसा लगता है कि कोई कानून 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया' का अनुगमन नहीं करता तथा संविधान की भावना के अनुरुप नहीं है, तो वह उसे असंवैधानिक घोषित कर सकती है। इस संबंध में यह बात ध्यान रखने योग्य है कि न्यायपालिका स्वयं ही किसी कानून की संवैधानिकता का परीक्षण नहीं करती बल्कि किसी पक्षकार द्वारा न्यायपालिका से ऐसी याचिका किए जाने पर ही करती है। संसद की कानून बनाने की शक्ति और न्यायपालिका की न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति के मध्य अधिकार क्षेत्र के संबंध में चर्चित विवाद क्रमशः शंकरीप्रसाद, सज्जन सिंह, गोलकनाथ, केशवानंद भारती, मिनर्वा मिल आदि के मामले रहे। इनका उल्लेख मूल अधिकार की इकाई में किया जा चुका है। इन समस्त विवादों की परिणति 'संविधान के मूल ढाँचा सिद्धान्त' के रूप में हुई और अंततः यह स्थापित हुआ कि संसद संविधान संशोधन का असीमित अधिकार नहीं रखती। इसके साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य है कि विगत कुछ वर्षों में लोकहित-वादों के माध्यम से उभरी न्यायिक सक्रियता के कारण संसद को विधि-निर्माण के क्षेत्र में **न्यायपालिका** से महत्वपूर्ण दिशा-निर्देश प्राप्त हुए हैं।

9.18 व्यवस्थापिकाओं का ह्रास

विश्व की लगभग सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं पर यदि एक दृष्टि डाली जाए तो ऐसा प्रतीत होता है कि व्यवस्थापिकाओं की शक्ति कार्यपालिकाओं की शक्ति की तुलना में कमजोर हुई है। विभिन्न व्यवस्थाओं में इनके कारण भिन्न-भिन्न रहे हैं। भारत के संदर्भ में इसके कारणों की पहचान निम्नलिखित बिंदुओं में की जा सकती है–

1. एकदलीय प्रभुत्व–स्वतंत्र भारत में अब तक संवैधानिक व्यवस्था के क्रियान्वयन पर एक दृष्टि डालने पर यह स्पष्ट होता है कि भारतीय राजनीतिक व्यवस्था का एक बड़ा काल खण्ड कांग्रेस के एक दलीय प्रभुत्व का रहा। परिणामस्वरूप सत्तारुढ़ दलीय नेतृत्व ने संसदीय प्रक्रिया के ऊपर भी निर्विवाद रूप में अपना प्रभुत्व बनाए रखा। विपक्ष संसद की भीतर और संसद के बाहर मात्र शासकीय पक्ष की आलोचना करने तक ही सीमित रहा। संसद एक संप्रभु जनता की सर्वोच्च प्रतिनिधि सभा होते हुए भी बहुमत दल की नीतियों, जो कि वस्तुतः दल के नेतृत्व की नीतियाँ रहीं, को अनुमोदित करने

वाली संस्था ही बनी रही। इस संबंध में पूर्व प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी बाजपेयी की यह टिप्पणी ध्यान देने योग्य है, ''संसद में कोई भी निर्णय बहस, तर्क अथवा तथ्यों के आधार पर नहीं लिए जाते। महत्वपूर्ण मुद्दों पर निर्णय उनकी योग्यता के बजाए संख्यात्मक शक्ति के आधार पर किए जाते हैं।''

2. कठोर दलीय अनुशासन–भले ही भारतीय राजनीति में दल-बदल, दलीय अनुशासन की अवहेलना, आम निर्वाचनों में आधिकारिक दलीय प्रत्याशी के विरुद्ध चुनाव लड़ना अथवा अन्य तरह की अनुशासन हीनताएँ एक आम तथ्य हों, तो भी दल-बदल संबंधी संविधान संशोधनों ने कम से कम संसद तथा विधानमण्डलों में कठोर दलीय अनुशासन को स्थापित करने में योगदान दिया है। दलीय ह्विप की अवहेलना के परिणामस्वरूप सदस्य को अपने पद से हाथ तक धोना पड़ सकता है। इसके अतिरिक्त शासकीय दल तथा विरोधी दल के सदस्य भी प्रधानमंत्री की लोकसभा कों भंग करवा सकने की शक्ति से अवश्य ही भयभीत रहते हैं। इन सारी व्यवस्थाओं ने कार्यपालिका को व्यवस्थापिका के ऊपर नियंत्रण स्थापित करने की स्थिति में पहुँचा दिया है।

3. प्रदत्त व्यवस्थापन–एक अन्य कारण जिसके परिणामस्वरूप संसद की शक्ति का ह्रास हुआ है, प्रदत्त अथवा अधीनस्थ व्यवस्थापन है। वर्तमान समय में विविध कारणों से शासकीय कार्यों में न सिर्फ वृद्धि हुई है बल्कि जटिलता भी आ गयी है। संसद के पास समय का अभाव रहता है और दिन प्रतिदिन के प्रशासकीय कार्य करने में वह असमर्थ रहती है। प्रायः संसद के सत्रावसान काल में भी बहुत से प्रशासकीय निर्णय अनिवार्यतः लेने होते हैं। इसके साथ ही विविध विषयों के संचालन की जटिल क्रियाविधि (जहाँ प्रायः विशिष्ट तकनीकी कौशल ज्ञान की और योग्यता की अपेक्षा होती है) आम संसद सदस्य की समझ से परे होती है। इन विषयों के संबंध में विस्तृत सिद्धान्त, नीति और लक्ष्य तो संसद निर्धारित कर देती है पर इनका क्रियान्वयन कार्यपालिका और प्रशासन पर छोड़ देती है। इनके क्रियान्वयन हेतु कार्यपालिका और प्रशासन जो नियम और उपनियम बनाते हैं उसे प्रदत्त व्यवस्थापना कहा जाता है।

4. गठबंधन सरकारें–गठबंधन सरकारों को व्यवस्थापिकाओं के ह्रास का कारण माने की वजह यह है कि अधिकांशतः गठबंधन सरकारें किसी सैद्धांतिक अथवा वैचारिक सहमति पर आधारित नहीं होती हैं। गठबंधन सरकारों का जन्म आम चुनाव में एक त्रिशंकु लोकसभा की संरचना हो जाने पर राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने के उद्देश्य से होता है चूँकि इसकी बुनियाद राजनीतिक सौदेबाजी पर टिकी होती है इसलिए इस बात से कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि संसद में अथवा संसद के बाहर भी सत्ता पक्ष के स्वरों में विरोधाभास दिखायी पड़ता है। गठबंधन सरकारों के मंत्रियों के वक्तव्य सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धांत की अवहेलना करने वाले होते हैं। सरकारी की नीतियों में गठबंधन के घटक दलों की राजनीतिक अपेक्षाएँ उजागर होती हुई दिखाई पड़ती है। परिणामस्वरूप संसद में गंभीर चर्चाओं/बहसों का नितांत अभाव पाया जाता है। यहाँ पर एक महत्वपूर्ण तथ्य यह भी नहीं भूला जाना चाहिए कि संसद का मंच सांसदों को अपनी प्रतिभा के प्रदर्शन एवं निखार हेतु सर्वोच्च मंच होता है। गठबंधन सरकारें इस मंच को ऐसा अवसर प्रदान करने में असमर्थ होती हैं। इसका अभिप्राय यह है कि गठबंधन दलों के सांसद संसदीय चर्चाओं में सैद्धांतिक एवं वैचारिक आधार पर अपना पक्ष प्रस्तुत करने में एक असमंजस्य की स्थिति में होते हैं अर्थात सांसदों को अपनी दलीय नीति के अनुकूल सरकार की नीति के विपरीत भी अपने तर्क रखने होते हैं और उन पर सरकार बचाए रखने की बाध्यता भी होती है। इस संबंध में भारत में गठबंधन सरकारों के व्यावहारिक प्रेक्षण के आधार पर यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि गठबंधन सरकारों के (निर्माण) में क्षेत्रीय राजनीतिक दलों की भूमिका महत्वपूर्ण हो गयी है। इन राजनीतिक दलों के पास राष्ट्रीय महत्व के विषयों पर किसी स्पष्ट नीति का प्रायः अभाव देखा गया है। उनका सर्वाधिक महत्वपूर्ण हित इस बात से निर्धारित होता है कि वे गठबंधन सरकार के माध्यम से सत्ता में बने रहें तथा दलीय हिंतो की रक्षा करते रहें और यथासंभव समय पूर्व चुनाव से बचते रहें।

5. राजनीति का अपराधीकरण–राजनीति का अपराधीकरण किसी भी जनतंत्र के लिए एक बड़ी चुनौती है। भारत भी इसका अपवाद नहीं है। वस्तु स्थिति यह है कि विगत कुछ वर्षों में आपराधिक छवि के लोगों ने अपनी एक राजनीतिक पहचान बनाने में सफलता प्राप्त कर ली है। अपराध जगत से जुडे लोग जब संसद एवं विधानमंडलों में प्रवेश पाने में सफल हो जाते हैं तो उनका अनुसरण करते हुए ऐसे ही अन्य व्यक्तियों की समान महत्त्वाकांक्षाएँ जन्म लेने लगती हैं। स्पष्ट है कि ऐसे तत्त्व जब विधि-निर्माताओं के रूप में संसद में प्रवेश पा जाऐं तो संसद की साख पर एक प्रश्न चिन्ह स्वतः ही लग जाता है। निश्चित ही व्यवस्थापिकाओं के ह्रास में यह एक महत्वपूर्ण कारक है।

9.19 भारतीय संसद का मूल्यांकन और निष्कर्षः

भारत की संसद का मूल्यांकन करते हुए सर्वप्रथम इस बात पर विचार किया जाना चाहिए कि संविधान निर्माता संसद को किस रूप में देखना चाहते थे? संविधान की संरचना ने भारत को एक संघीय व्यवस्था और संसदीय शासन व्यवस्था प्रदान की है। जाहिर है कि इनके पीछे एक ओर अमेरिकी व्यवस्था का संघीय प्रतिमान एक आदर्श था तो दूसरी ओर ब्रिटिश व्यवस्था का संसदीय संप्रभुता का विचार। भारत की राजनीतिक व्यवस्था में संघात्मक व्यवस्था और संसदीय शासन के मध्य एक तादात्म्य देखा जा सकता है। संघीय व्यवस्था एक लिखित एवं सर्वोच्च संविधान की मांग करती है जहाँ संविधान की सर्वोच्चता एक स्वतंत्र और सर्वोच्च न्यायालय द्वारा सुनिश्चित की जा सके। यह भी नहीं भूलना चाहिए कि संविधान नागरिकों के मूल अधिकारों की विस्तृत विवेचना करता है तथा न्यायपालिका को नागरिकों के मौलिक अधिकारों का प्रहरी मानता है और इसी उद्देश्य से संवैधानिक उपचारों का अधिकार नागरिकों को प्रदत्त करता है। ब्रिटेन में हम किसी लिखित संविधान को नहीं पाते हैं तथा ब्रिटिश संसद की संप्रभुता का विचार भी ब्रिटेन में ऐतिहासिक विकास क्रम में ही जन्मी अवधारणा है। निश्चित रूप में ब्रिटिश संसद को कानूनी संप्रभुता प्राप्त है। भारत में संसद एक सर्वोच्च विधान निर्मात्री संस्था है जो अपनी शक्तियाँ संविधान से प्राप्त करती है और संविधान द्वारा प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करने तक संप्रभु कही जा सकती है।

संसद सरकार की नीतियों को अनुमोदित करने वाली जन प्रतिनिधि संस्था है। इसी कारण संसद सरकार पर नियंत्रण स्थापित करने का एक प्रभावकारी यंत्र है। सरकार संसद के अनुमोदन के बिना न कोई कर आरोपित कर सकती है और नहीं कोई व्यय। संसद का कार्य सरकार का निर्माण करना भी है। संसद सरकार को उस समय तक समर्थन प्रदान करती है जब तक कि उसे उसमें विश्वास हो। यह विश्वास सरकार को शासन संचालन की सत्ता प्रदान करता है। संसद जनता के दुखों एवं संवेदनाओं को व्यक्त करने का मंच है। संसद सरकार से सूचना पाने का भी एक उपकरण है। संसद वह मंच है जो अपने वाद-विवादों द्वारा महत्वपूर्ण विषयों पर सार्वजनिक रुचि को बनाए रखती है और देश की जनता को राजनीतिक प्रशिक्षण प्रदान करती है तथा सरकार को दिशा निर्देश व मार्गदर्शन प्रदान करती है। संसद जनता एवं सरकार के मध्य संचार का सर्वाधिक शक्तिशाली मंच है। संसद की सफलता तथा प्रभावकारिता इस बात में निहित है कि प्रत्येक सरकार अपने नित्य प्रति के कार्यों में अपने उत्तरदायित्व का अनुभव करे और मनमानी न करे।

9.20 सारांश

भारत में सर्वोच्च प्रतिनिधि संस्था के रुप में संसद कार्य करती है। संसद के अंगों में राष्ट्रपति, लोकसभा तथा राज्यसभा सम्मिलित हैं। लोकसभा जनता द्वारा प्रत्यक्षतः निर्वाचित सदन है तथा राज्यसभा राज्यों का प्रतिनिधित्व करने वाला मुख्यतः राज्य विधानसभाओं द्वारा निर्वाचित सदन है। यद्यपि शक्तियों की दृष्टि से लोकसभा महत्त्वपूर्ण है किन्तु राज्यसभा की भूमिका को भी नकारा नहीं जा सकता है। यद्यपि कतिपय अवसरों पर विभिन्न विधायी विषयों में लोकसभा और राज्यसभा में मतभेद परिलक्षित हुए हैं। मतभेद मुख्य रुप से दोनों सदनों के विरोधी दलीय समीकरणों के कारण उभरकर

सामने आये। संक्षेप में कहा जा सकता है कि विगत वर्षों में भारतीय संसद द्वारा एक जनप्रतिनिध संस्था के रुप में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी गयी है। संसदीय उपकरणों के प्रयोग के द्वारा सरकार पर अपनी नियंत्रणकारी भूमिका में भी भारतीय संसद कमोवेश सफल रही है।

9.21 उपयोगी पुस्तकें

1. ग्रेनविल आस्टिन : दि इण्डियन कांस्टिट्यूशन, कार्नरस्टोन ऑफ ए नेशन
2. एच0 एम0 जैन : दि यूनियन एक्जिक्यूटिव
3. डी0 सी0 गुप्ता : इण्डियन गवर्नमेन्ट एण्ड पालिटिक्स
4. जे0 सी0 जौहरी : इण्डियन गवर्नमेन्ट एण्ड पालिटिक्स
5. एम0 वी0 पायली : कांस्टिट्यूशन आफ इण्डिया
6. वी0 एन0 शुक्ला : भारत का संविधान
7. एस0 एम0 सईद : भारतीय राजनीतिक प्रणाली
8. जे0 एन0 पाण्डेय : भारत का संविधान
9. सुभाष कश्यप : अवर कान्स्टिट्यूशन
10. सुभाष कश्यप : अवर पार्लियामेन्ट
11. हरिमोहन जैन : भारतीय शासन और राजनीति
12. एस0 एस0 खेरा : दि सेन्ट्रल एक्जिक्यूटिव

9.22 सम्बन्धित प्रश्न

(a) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. संसद के कार्यों एवम् शक्तियों का वर्णन कीजिए तथा संसद के दोनों सदनों के मध्य पारस्परिक संबंधों को दर्शाईये।
2. भारत की संसद में विधि निर्माण प्रक्रिया को सविस्तार समझाईये।
3. संसद की समिति व्यवस्था की विवेचना कीजिए।

(b) लघु उत्तरीय प्रश्न

1. सांसदों के विशेषाधिकार क्या हैं?
2. लोकसभा के स्पीकर के कार्यों को बताईये।
3. राज्य सभा की उपयोगिता क्या है?

(c) वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. निम्नांकित में से कौन एक भारतीय संसद का अंग नहीं है–

(क) राष्ट्रपति

(ख) लोकसभा

(ग) राज्य सभा

(घ) उपराष्ट्रपति

2. संसद के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक की अध्यक्षता करता है–

(क) राष्ट्रपति

(ख) लोकसभा का अध्यक्ष

(ग) राज्य सभा का सभापति

(घ) प्रधानमंत्री

3. निम्नांकित में से कौन से अधिकार केवल राज्यसभा को प्राप्त है–

(क) नयी अखिल भारतीय सेवाओं का गठन

(ख) राज्य सूची के किसी विषय को राष्ट्रीय महत्व का घोषित करना

(ग) उपराष्ट्रपति को पद से हटाने संबंधी प्रस्ताव को प्रारंभ करना

(घ) उपर्युक्त सभी।

4. संसद में प्रत्येक विधेयक पारित किए जाने की प्रक्रिया में कितने वाचनों से होकर गुजरता है–

(क) एक

(ख) दो

(ग) तीन

(घ) चार

9.23 प्रश्नोत्तर

1. (घ)
2. (ख)
3. (घ)
4. (ग)

इकाई 10 – सर्वोच्च न्यायालय एवम् न्यायिक सक्रियता

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 सर्वोच्च न्यायालय

10.3 सर्वोच्च न्यायालय का गठन

10.4 सर्वोच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार

10.5 सर्वोच्च न्यायालय की पुनर्विलोकन की शक्ति

10.6 न्यायिक सक्रियता

10.7 सारांश

10.8 उपयोगी पुस्तकें

10.9 सम्बन्धित प्रश्न

10.10 प्रश्नोत्तर

10.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप :

- सर्वोच्च न्यायालय की स्थिति व उसके गठन की विवेचना कर सकेंगे,
- सर्वोच्च न्यायालय की शक्तियों एवं क्षेत्राधिकार का वर्णन कर सकेंगे।

10.1 प्रस्तावना

हम सब जानते हैं कि सर्वोच्च न्यायालय किस तरह देश में कानून के शासन की व्यवस्था को बनाये रखने तथा उसका संरक्षण करने हेतु एक प्रधान अंग के रूप में अपनी भूमिका का निर्वहन करता है। सर्वोच्च न्यायालय भारत की संघीय व्यवस्था, नागरिकों के मूल्य अधिकारों **के संरक्षक तथा संविधान के प्रहगी के रूप में किस तरह कार्य करता है।** एक संवैधानिक संस्था के रूप में कार्य करते हुए किस तरह सर्वोच्च न्यायालय की भूमिका से न्यायिक सक्रियतावाद का जन्म हुआ और आज जनहितवाद के माध्यम से किस तरह एक न्यायिक क्रांति का देश में संचारण हुआ है जो सामाजिक न्याय की प्राप्ति के आदर्श स्वप्न को साकार कर सकेगी।

10.2 सर्वोच्च न्यायालय

शासन के तीन परम्परागत अंगों में से एक अंग न्यायपालिका है। भारत का संविधान एक संघीय व्यवस्था को अपनाता है। संघीय व्यवस्था की एक विशेषता एक स्वतंत्र तथा सर्वोच्च न्यायपालिका का होना है। प्रायः संघीय व्यवस्थाओं में दोहरी **न्यायपालिका** की व्यवस्था भी देखी जाती है परन्तु भारत में एकल न्यायिक व्यवस्था को अपनाया गया है और **इसे** न्यायपालिका का एकीकृत रूप भी कहा जा सकता है। वैसे तो भारतीय शासन अधिनियम, 1935 के अंतर्गत भी भारत में एक संघीय न्यायालय की स्थापना की गयी थी। परन्तु **तब यह न्यायालय सर्वोच्च न्यायालय** नहीं था क्योंकि इसके निर्णयों

के विरुद्ध ब्रिटिश प्रिवी कौंसिल में अपील की जा सकती थी। स्वतंत्र भारत के संविधान द्वारा स्थापित भारत का उच्चतम न्यायालय आज देश की न्यायपालिका का शीर्ष है। न्यायपालिका की स्वतंत्रता की सैद्धांतिक अवधारणा माण्टेस्क्यू के विचारों का प्रतिफल है। माण्टेस्क्यू के विचार वैयक्तिक स्वतंत्रता की सुनिश्चितता को बनाए रखने हेतु शासन के तीनों अंगों के पृथक्ककरण के संबंध में व्यक्त किए गए थे। माण्टेस्क्यू के विचार संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान निर्माताओं हेतु एक प्रेरणा स्रोत बने। संयुक्त राज्य अमेरिका में संघीय व्यवस्था को अपनाते हुए संघ तथा राज्यों के मध्य शक्ति विभाजन को संविधान द्वारा निर्धारित किया गया है। सर्वोच्च न्यायालय को स्थापित करने के पीछे वहाँ के संविधान निर्माताओं का मंतव्य यह था कि संघ तथा राज्यों के मध्य संविधान द्वारा निर्धारित शक्ति विभाजन की सुनिश्चितता निष्पक्ष रूप में सर्वोच्च न्यायालय के माध्यम से प्राप्त की जा सकती है।

भारत में संविधान-निर्माताओं ने संघीय व्यवस्था को अपनाते हुए संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान को एक आदर्श माना। यद्यपि भारतीय संघ का निर्माण अमेरिका से भिन्न प्रक्रिया द्वारा हुआ। अमेरिकी संघ का निर्माण जहाँ कुछ राज्यों के पारस्परिक समझौते के परिणामस्वरूप हुआ वहीं भारत में एक राज्य को संघीय इकाइयों में विभाजित कर भारतीय संघ का निर्माण किया गया। संपूर्ण भारत के लिए स्वतंत्रता के उपरान्त एक संविधान को निर्मित किया गया जबकि संघ की इकाइयों को अपने पृथक संविधान बनाने की अनुमति नहीं प्राप्त है। भारत के संविधान में संघ तथा राज्यों के मध्य शक्ति विभाजन एवं उनके पारस्परिक संबंधों की चर्चा विस्तार से संविधान के एक पूरे भाग (भाग-11) में की गयी है। स्पष्ट है कि संविधान में निर्धारित शक्ति विभाजन को सुनिश्चित करने तथा संविधान के उपबंधों की उचित व्याख्या करने हेतु एक स्वतंत्र और सर्वोच्च न्यायालय की आवश्यकता होती है। ऐसा न्यायालय निष्पक्ष एवं स्वतंत्र होना चाहिए ताकि यह संविधान के संरक्षक की भूमिका निभा सके। सर्वोच्च न्यायालय नागरिकों को संविधान द्वारा प्रदान किए गए मूल अधिकारों का भी संरक्षक है और जैसा कि ग्रेनविल आस्टिन ने लिखा है ''सर्वोच्च न्यायालय को नागरिकों और अल्प संख्यकों के अधिकारों के संरक्षण का कार्य सौंप कर वस्तुतः उसे सामाजिक क्रांति के संरक्षक का भार सौंपा गया है।''

10.3 सर्वोच्च न्यायालय का गठन

सर्वोच्च न्यायालय का गठन भारत के संविधान के अनुच्छेद 124 द्वारा उपबंधित है। इस अनुच्छेद द्वारा यह प्राविधित है कि भारत का एक सर्वोच्च न्यायालय होगा जिसमें एक मुख्य न्यायाधीश एवं जब तक संसद कानून द्वारा निर्धारित नहीं कर देती सात से अधिक अन्य न्यायधीश होंगे। संसद द्वारा सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की संख्या में विधि द्वारा वृद्धि की गयी है और वर्तमान समय में सर्वोच्च न्यायालय में मुख्य न्यायाधीश सहित कुल 26 न्यायाधीश हैं। अनुच्छेद 124 विस्तृत रूप में न्यायाधीशों की नियुक्ति, उनके कार्यकाल, उनकी योग्यताओं, उनके अपदस्थ किए जाने की प्रक्रिया और उनकी शपथ ग्रहण का भी प्रावधान करता है।

न्यायाधीशों की नियुक्ति–सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है परन्तु राष्ट्रपति इन नियुक्तियों को करने से पूर्व सर्वोच्च न्यायालय एवं उच्च न्यायालयों के ऐसे न्यायाधीशों से, जिनसे कि वह परामर्श करना आवश्यक समझे, परामर्श के उपरान्त इन नियुक्तियों को करता है। परन्तु सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायधीश का परामर्श वह अवश्य लेता है। सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के पद पर सर्वोच्च न्यायालय के ही किसी न्यायाधीश को नियुक्त किया जाता है।

इस संबंध में विधि आयोग ने 1956 में अपनी सिफारिश में यह सुझाव दिया था कि सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति केवल वरिष्ठता के आधार पर नहीं वरन् न्यायाधीश के गुण एवं उपयुक्तता के आधार पर की जानी चाहिए। परन्तु सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश

वरिष्ठता क्रम में ही नियुक्त किए जाते रहे। 1973 में इस परंपरा का उल्लंघन हुआ जब न्यायमूर्ति ए0एन0 रे को मुख्य न्यायाधीश नियुक्त किया गया जबकि उनसे वरिष्ठ तीन न्यायाधीशों न्यायमूर्ति शैलेट, हेगड़े तथा ग्रोवर की वरिष्ठता की अनदेखी की गयी। सरकार के इस निर्णय की तीव्र आलोचना हुई और सरकार पर यह आरोप लगा कि वह न्यायपालिका की स्वतंत्रता को नष्ट करने का प्रयास कर रही है। सरकार द्वारा अपने बचाव में संवैधानिक उपबंधों, विधि आयोग की सिफारिश, अन्य देशों के उदाहरण, न्यायाधीशों के सामाजिक दर्शन व न्यायाधीश के पास उपलब्ध बचे हुए कार्यकाल की अवधि आदि तर्क प्रस्तुत किए पर ये तर्क संतोषप्रद प्रतीत नहीं हुए। सरकार के इस निर्णय के विरोध में उक्त तीनों न्यायधीशों ने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया था। 1977 में एक बार फिर वरिष्ठताक्रम की अनदेखी करते हुए वरिष्ठतम न्यायाधीश एच0आर0खन्ना को मुख्य न्यायाधीश न बनाकर न्यायमूर्ति हमीदुल्ला बेग को मुख्य न्यायाधीश नियुक्त किया गया। न्यायाधीश खन्ना ने भी अपना रोष अपने त्यागपत्र के माध्यम से प्रकट किया। 1993 में सर्वोच्च न्यायालय के नौ न्यायधीशों की पीठ ने एस0सी0एडवोकेट्स आन रिकार्ड एसोशिएशन के वाद में दो के मुकाबले सात के बहुमत से यह निर्णय दिया कि भारत के मुख्य न्यायाधीश के पद पर उच्चतम न्यायालय के वरिष्ठतम न्यायधीश की ही नियुक्ति की जाए। इसी निर्णय में यह भी कहा गया कि अनुच्छेद 124 में प्रयुक्त 'परामर्श' शब्द का आशय किसी को स्वविवेक शक्ति प्रदान नहीं करता। चाहे वह प्रमुख कार्यपालिका ही क्यों न हो। इसमें यह भी निहित था कि मुख्य न्यायाधीश का परामर्श न्यायपालिका के अध्यक्ष के रूप में उसका परामर्श है अतः उसके परामर्श का सम्मान यह दर्शाता है कि न्यायधीश की नियुक्ति में कार्यपालिका की नहीं बल्कि न्यायपालिका के निर्णय की प्राथमिकता होनी चाहिए और यह न्यायपालिका की स्वतंत्रता को सुनिश्चित करता है।

योग्यताएँ–उच्चतम न्यायालय का न्यायधीश नियुक्त किए जाने हेतु संविधान निम्नलिखित योग्यताएं निर्धारित करता है–

1. वह भारत का नागरिक हो,
2. वह किसी उच्च न्यायालय अथवा ऐसे दो या अधिक न्यायालयों में कम से कम पाँच वर्ष तक लगातार न्यायाधीश रह चुका हो,
3. वह किसी उच्च न्यायालय का या ऐसे दो अथवा दो से अधिक न्यायालयों में कम से कम दस वर्ष तक लगातार अधिवक्ता रहा हो,
4. राष्ट्रपति की राय में वह एक पारंगत विधिवेत्ता हो।

कार्यकाल–सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश 65 वर्ष तक अपने पद पर बने रह सकते हैं। कोई न्यायाधीश राष्ट्रपति को संबोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा अपने पद से त्यागपत्र दे सकता है। न्यायधीशों को उनके पद से 'साबित कदाचार या असमर्थता' के आधार पर संसद के प्रत्येक सदन द्वारा अपनी कुल संख्या के बहुमत तथा उपस्थित एवं मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से पारित प्रस्ताव द्वारा जिस पर राष्ट्रपति ने हस्ताक्षर कर दिए हों, अपदस्थ किया जा सकता है। यह कार्यवाही संसद के एक ही सत्र में पूर्ण होनी चाहिए।

सर्वोच्च न्यायालय का न्यायधीश होने के लिए नियुक्त प्रत्येक व्यक्ति, अपना पद ग्रहण करने से पहले राष्ट्रपति या उसके द्वारा इस निमित्त नियुक्त व्यक्ति के समक्ष संविधान की तीसरी अनुसूची में इस प्रयोजन के लिए दिएं गए प्रारूप के अनुसार शपथ ग्रहण करता है।

न्यायधीशों के वेतन, विशेषाधिकार एवं उन्मुक्तियाँ–संविधान के अनुच्छेद 125 द्वारा प्रविधित है कि सर्वोच्च न्यायालय के न्यायधीशों का वेतन संसद विधि बनाकर निर्धारित करेगी और जब तक ऐसा नहीं किया जाता उन्हें संविधान की दूसरी अनुसूची में विनिर्दिष्ट किया गया वेतन प्राप्त होगा। मूल संविधान द्वारा मुख्य न्यायधीश का वेतन 5,000 रुपए प्रतिमाह तथा अन्य न्यायधीशों का वेतन 4,000

रुपए प्रतिमाह निर्धारित था। वर्ष 1986 में इसे बढ़ाकर क्रमशः 10,000 रुपए प्रतिमाह और 9,000 रुपए प्रतिमाह कर दिया गया था। वर्तमान समय में सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को 1998 में संसद द्वारा पारित (न्यायधीशों की सेवा की शर्तों) संशोधन अधिनियम द्वारा निर्धारित वेतन जो कि मुख्य न्यायधीश के लिए 33,000 रुपए प्रतिमाह तथा अन्य न्यायधीशों के लिए 30,000 रुपए प्रतिमाह है, प्राप्त होता है। न्यायधीशों के विशेषाधिकारों, वेतन तथा भत्तों में कोई ऐसा परिवर्तन उनकी नियुक्ति के बाद नहीं किया जा सकता जो उनके लिए अलाभकारी हो, यद्यपि वित्तीय आपात (अनुच्छेद 360) के लागू होने की दशा में यह संभव है।न्यायाधीशों के वेतन भारत की संचित निधि पर भारित होते हैं।

संविधान द्वारा सर्वोच्च न्यायालय के अधिकारियों और सेवकों की नियुक्ति हेतु भारत के मुख्य न्यायधीश को अधिकृत किया गया है। उनकी सेवा-शर्तें भी न्यायालय स्वयं निर्धारित करता है। न्यायालय के प्रशासनिक अधिष्ठान पर न्यायालय का पूर्ण नियंत्रण रहता है।

सर्वोच्च न्यायालय के न्यायधीशों को यह उन्मुक्ति प्राप्त है कि उनके निर्णयों की सार्वजनिक आलोचना नही की जा सकती है और न ही उन पर संसद में कोई चर्चा की जा सकती है। सर्वोच्च न्यायालय ऐसे किसी व्यक्ति के विरुद्ध अवमानना की कार्यवाही कर सकता है जो न्यायधीशों के विरुद्ध दुष्प्रचार अथवा बदनीयत से उनकी आलोचना में संलग्न हो। ऐसी कार्यवाही न्यायधीशों को प्रभावित करने हेतु किए जाने वाले प्रयासों के संबंध में भी की जा सकती है।

10.4 सर्वोच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार

भारत का सर्वोच्च न्यायालय संभवतः विश्व के किसी अन्य न्यायालय की अपेक्षा अधिक व्यापक क्षेत्राधिकार से युक्त है। सर्वोच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार को निम्नलिखित चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है–

1. अभिलेख न्यायालय (अनुच्छेद 129)
2. प्रारंभिक क्षेत्राधिकार (अनुच्छेद 131)
3. अपीलीय क्षेत्राधिकार (अनुच्छेद 132–136)
4. परामर्शदात्री क्षेत्राधिकार (अनुच्छेद 143)

1. अभिलेख न्यायालय–संविधान द्वारा सर्वोच्च न्यायालय को एक अभिलेख न्यायालय के रूप में घोषित किया गया है। अभिलेख न्यायालय से आशय प्रथमतः यह है कि न्यायालय के निर्णय और कार्यवाहियाँ लिखित होती हैं। इन्हें हमेशा के लिए संभालकर रखा जाता है ताकि भविष्य में अधीनस्थ न्यायालयों के समक्ष इन्हें पूर्व निर्णयों के रूप में प्रस्तुत किया जा सके। द्वितीयतः अभिलेख न्यायालय के रुप में सर्वोच्च न्यायालय अपने अवमान के लिए किसी भी व्यक्ति को दण्ड देने की शक्ति रखता है। वस्तुतः यह शक्ति अभिलेख न्यायालय की प्रकृति में निहित है। न्यायालय अवमानना अधिनियम, 1971 जो संसद द्वारा पारित किया गया है, के अनुसार न्यायालय की अवमानना के लिए छह महीने की सजा अथवा 2,000 रुपए जुर्माना अथवा दोनों ही दिए जा सकते हैं। ज्ञातव्य है कि सर्वोच्च न्यायालय द्वारा उत्तर प्रदेश के पूर्व मुख्यमंत्री कल्याण सिंह को वर्ष 1992 में अयोध्या के मामले में अवमानना का दोषी ठहराया गया और उन्हें एक दिन का प्रतीकात्मक कारावास तथा 2,000 रुपए जुर्माने का दण्ड दिया गया। सर्वोच्च न्यायालय द्वारा उन्हें न सिर्फ न्यायालय के आदेशों के उल्लंघन का दोषी ठहराया गया बल्कि न्यायालय को दिए गए वचन को न निभाने का भी दोषी पाया गया।

2. प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार–सर्वोच्च न्यायालय को निम्न लिखित पक्षकारों के मध्य किसी विवाद में प्रारंभिक क्षेत्राधिकार प्राप्त है–

(क) संघ तथा एक या एक से अधिक राज्यों के बीच

(ख) संघ और कोई राज्य एक ओर तथा एक या अधिक राज्य दूसरी ओर

(ग) दो या दो से अधिक राज्यों के बीच।

उपर्युक्त सभी प्रकार के विवाद प्रारंभिक रूप से सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष ही प्रस्तुत किए जायेंगे। स्मरणीय है कि प्रारंभिक क्षेत्राधिकार के अंतर्गत सर्वोच्च न्यायालय ऐसे विवादों को ही स्वीकार करेगा जहां कोई ऐसा ही तथ्य अथवा विधि का प्रश्न उपस्थित हो और जिस पर किसी विधिक अधिकार का अस्तित्व निर्भर करता हो। विधिक अधिकार से आशय उस अधिकार से है जो विधि द्वारा मान्य तथा न्यायालयों द्वारा प्रवर्तनीय हो। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि इसे न्यायालयों द्वारा ही लागू किया जाए। प्रारंभिक क्षेत्राधिकार के अंतर्गत राजनीतिक प्रश्नों से संबंधित मामले नहीं आते।

अपवाद–अनुच्छेद 131 का परन्तुक यह उल्लेख करता है कि यदि कोई विवाद किसी संधि, करार, प्रसंविदा, वचनबंध, सनद अथवा ऐसी ही अन्य किसी लिखत से प्राप्त हुआ है जो संविधान के लागू होने से पूर्व की गयी अथवा निष्पादित थी और उसके पश्चात् प्रवर्तन में है। इसके अतिरिक्त संविधान के अनुच्छेद 272 के अंतर्गत संसद विधि द्वारा किसी अंतरराज्यीय नदी अथवा नदी घाटी के या उसके पानी के प्रयोग, विसरण अथवा नियंत्रण आदि से संबंधित किसी विवाद को उच्चतम न्यायालय के क्षेत्राधिकार से बाहर कर सकती है। अनुच्छेद 280 के अंतर्गत वित्त आयोग को सौंपे हुए विषय से संबंधित विवाद प्रारंभिक क्षेत्राधिकार से बाहर है। अनुच्छेद 290 के अंतर्गत संघ तथा राज्य के बीच कतिपय खर्चों के समायोजन से संबंधित विवाद भी सर्वोच्च न्यायालय के प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार से पृथक हैं।

संविधान का अनुच्छेद 32 मूल अधिकारों के उल्लंघन के विरुद्ध नागरिकों को उपचार प्रदान कराने हेतु सर्वोच्च न्यायालय को प्रारंभिक क्षेत्राधिकार से युक्त करता है। यह अनुच्छेद देश के प्रत्येक नागरिक को अपने मौलिक अधिकारों के प्रवर्तन के लिए उचित कार्यवाहियों हेतु सीधे सर्वोच्च न्यायालय की शरण में जाने का अधिकार प्रदान करता है। इस प्रयोजन के लिए सर्वोच्च न्यायालय को ऐसे निदेश, आदेश अथवा रिट जिनके अंतर्गत बंदी प्रत्यक्षीकरण परमादेश, प्रतिषेध, अधिकार पृच्छा और उत्प्रेषण और आती हैं जो जारी करने की शक्ति प्राप्त है। ज्ञातव्य है कि यह अनुच्छेद नागरिकों के मूल अधिकारों के उल्लंघन के विरुद्ध शीघ्र उपचार का उपबंध करता है। इसीलिए सर्वोच्च न्यायालय को नागरिकों के मौलिक अधिकारों का संरक्षक कहा जाता है।

3. अपीलीय क्षेत्राधिकार–सर्वोच्च न्यायालय देश का सर्वोच्च अपीलीय न्यायालय है। सर्वोच्च न्यायालय को सभी राज्यों के उच्च न्यायालयों के निर्णय के विरुद्ध अपील सुनने का अधिकार प्राप्त है। इसके अपीली क्षेत्राधिकार को निम्नलिखित भागों में विभाजित किया जा सकता है–

(i) संवैधानिक मामले

(ii) सिविल (दीवानी) मामले

(iii) दाण्डिक अथवा फौजदारी मामले

(iv) विशेष इजाजत से अपील

(i) संवैधानिक मामले में अपील–भारत राज्य के किसी उच्च न्यायालय के निर्णय, डिक्री अथवा अंतिम आदेश वे चाहे दीवानी, फौजदारी या अन्य कार्यवाहियों में दिए गए हों के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय में अपील की जा सकती है। संविधान के अनुच्छेद 132 (1) के अंतर्गत सर्वोच्च न्यायालय में अपील दायर करने के लिए निम्नलिखित शर्तें हैं–

(क) अपील उच्च न्यायालय के दीवानी, फौजदारी, अथवा अन्य कार्यवाही में दिए गए किसी निर्णय, डिक्री अथवा अंतिम आदेश के विरुद्ध लेना चाहिए।

(ख) मामले में संविधान के निर्वचन के बारे में विधि का कोई सारवान प्रश्न अंतर्निहित हो। सारवान शब्द का तात्पर्य सार्वजनिक महत्व के किसी विषय से नहीं है बल्कि ऐसे मामलों से है जहाँ विभिन्न उच्च न्यायालयों के मध्य किसी विधि के प्रश्न पर कोई मतभेद हो तथा ऐसे प्रश्न पर सर्वोच्च न्यायालय का कोई सीधा निर्णय उपलब्ध न हो। साथ ही संविधान के किसी उपबंध का कोई नया निर्वचन भी सारवान विधि-प्रश्न होगा।

(iii) दीवानी मामलों में अपील–संविधान के अनुच्छेद 133 के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय, उच्च न्यायालय के द्वारा दीवानी मामले में दिए गए किसी निर्णय अथवा अंतिम आदेश के विरुद्ध अपील सुन सकता है बशर्ते उच्च न्यायालय यह प्रमाण पत्र दे कि–

(क) मामले में कोई सार्वजनिक महत्व का कानूनी प्रश्न निहित है, और

(ख) उच्च न्यायालय के मतानुसार ऐसे प्रश्न का निपटारा सर्वोच्च न्यायालय द्वारा किया जाना उपयुक्त है। परन्तु सर्वोच्च न्यायालय ऐसी अपीलों को सुनने के लिए बाध्य नहीं है और वह उच्च न्यायालय के ऐसे प्रमाण पत्र को रद्द कर सकता है।

यहाँ पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि यह प्रावधान संविधान के 30वें संशोधन द्वारा किए गए हैं। इस संशोधन से पूर्व सर्वोच्च न्यायालय में केवल उन मामलों में अपील की जा सकती थी जो कम से कम बीस हजार रुपए की धनराशि के हों अथवा जिन्हें उच्च न्यायालय द्वारा अपील के उपयुक्त प्रभावित कर दिया गया हो। वर्तमान में धनराशि की कोई सीमा नहीं हैं तथा अपील का आधार 'सामान्य महत्व का ठोस विधिक प्रश्न' कर दिया गया है।

(iii) फौजदारी मामलों में अपील–संविधान के अनुच्छेद 134 के अनुसार फौजदारी मामलों में सर्वोच्च न्यायालय में अपील तब तक की जा सकती है जबकि–

(क) उच्च न्यायालय ने अपील प्रस्तुत होने पर किसी व्यक्ति की मुक्ति का आदेश रद्द कर उसे मृत्युदण्ड दिया हो।

(ख) उच्च न्यायालय ने अपील अधीनस्थ न्यायालय के किसी मामले का विचारण करने के लिए अपने पास मँगा लिया हो और अभियुक्त को स्वयं मृत्युदण्ड दिया हो।

किन्तु ऐसे मामलों में जहाँ उच्च न्यायालय ने अपील में किसी अभियुक्त व्यक्ति के दोष सिद्धि के आदेश को उलट दिया है और उसकी रिहाई का आदेश दे दिया है सर्वोच्च न्यायालय में उसकी अपील नहीं की जा सकती है। यहाँ पर रिहाई से आशय केवल पूर्ण दोष विमुक्ति नहीं है बल्कि उसमें ऐसे मामले भी शामिल हैं जिनमें मृत्युदण्ड को बदलकर आजीवन कारावास कर दिया है।

फौजदारी मामलों में सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष अपील, अनुच्छेद 134 (ग) के अधीन उच्च न्यायालय द्वारा यह प्रमाणित कर दिए जाने पर कि मामला सर्वोच्च न्यायालय में अपील के लायक है, दायर की जा सकती है।

(iv) विशेष इजाजत से अपील–संविधान के अनुच्छेद 136 के प्रावधानों के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय भारत के राज्यक्षेत्र के अंतर्गत किसी भी न्यायालय अथवा अधिकरण द्वारा किसी मामले में पारित किए गए अथवा दिए गए किसी निर्णय, डिक्री, अवधारणा, दण्डादेश अथवा आदेश के विरुद्ध अपील के लिए विशेष अनुमति प्रदान कर सकता है। परन्तु ऐसी इजाजत सशस्त्र बलों से सम्बद्ध किसी विधि के अधीन गठित किसी न्यायालय के निर्णय इत्यादि के विरुद्ध नहीं दे सकता।

वस्तुतः यह अनुच्छेद सर्वोच्च न्यायालय को अत्यधिक विस्तृत शक्ति प्रदान करता है। इन शक्तियों की प्रकृति अनुच्छेद 132 से 135 तक सर्वोच्च न्यायालय को प्रदान शक्तियों से ऊपर है। इसका आशय यह है कि ऐसी अनुमति उन मामलों में दी जाती है जहाँ विधि की आवश्यकता देश के सर्वोच्च न्यायालय से हस्तक्षेप की अपेक्षा करती है। स्पष्ट है कि अनुच्छेद 136 के अधीन सर्वोच्च

न्यायालय इसके पूर्ववर्ती अनुच्छेदों (132 से 134) की तरह किन्हीं सीमाओं में बंधा नहीं है अर्थात् जहाँ ये (132 से 134) अनुच्छेद सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष उच्च न्यायालय के अन्तिम आदेशों के विरुद्ध अनुमति प्रदान करते हैं वहीं अनुच्छेद 136 के अधीन सर्वोच्च न्यायालय अधीनस्थ न्यायालयों के अस्थायी आदेश के विरुद्ध भी अपने समक्ष अपील करने की अनुमति प्रदान करता हैं। यह शक्ति सर्वोच्च न्यायालय की एक स्वविवेकी शक्ति है। जैसा कि सर्वोच्च न्यायालय ने 'प्रीतम सिंह बनाम राज' (ए0आई0आर0 1950, एस0सी0) मामले में कहा है कि "यह व्यापक स्वविवेकी शक्ति जो इस अनुच्छेद द्वारा सर्वोच्च न्यायालय में विहित की गयी है, बहुत कम तथा केवल अपवाद स्वरूप ही प्रयुक्त की जाएगी साथ ही यथासंभव इस अनुच्छेद के अंतर्गत सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष लाए जाने वाले विभिन्न प्रकार के मामलों में अपील की विशेष इजाजत देने में समान मापदण्ड अपनाया जाना चाहिए।" सर्वोच्च न्यायालय ने एक अन्य निर्णय में इसे एक विशिष्ट और अभिभावी शक्ति माना है तथा इसके प्रयोग में विशेष सावधानी बरतने की आवश्यकता को दर्शाया है। इस शक्ति का प्रयोग करते हुए सर्वोच्च न्यायालय किसी पक्षकार को साम्या (Equity) के आधार पर राहत प्रदान कर सकता है। इस अर्थ में सर्वोच्च न्यायालय एक साम्या न्यायालय भी है।

4. परामर्शदात्री क्षेत्राधिकार–संविधान का अनुच्छेद 143 भारत के राष्ट्रपति की सर्वोच्च न्यायालय से परामर्श करने की शक्ति का प्रावधान करता है। इस अनुच्छेद के प्रावधानों से सर्वोच्च न्यायालय के परामर्शदात्री क्षेत्राधिकार का जन्म होता है। अनुच्छेद 143 (1) के अनुसार यदि किसी समय भारत के राष्ट्रपति को ऐसा प्रतीत होता है कि विधि या तथ्यों का कोई ऐसा प्रश्न उत्पन्न हुआ है या उत्पन्न होने की संभावना है, जो ऐसी प्रकृति का और ऐसे सार्वजनिक महत्व का है कि उस पर सर्वोच्च न्यायालय की राय लेना समीचीन है तो वह उस प्रश्न को न्यायालय के समक्ष विचारार्थ भेज सकता है। न्यायालय ऐसी सुनवाई के पश्चात् जो कि वह ठीक समझे राष्ट्रपति को उस पर अपनी राय प्रतिवेदित कर सकेगा। अनुच्छेद 143 (2) के अनुसार राष्ट्रपति अनुच्छेद 131 के परन्तुक में किसी बात के होते हुए भी, इस प्रकार के विवाद को, जो उक्त परन्तुक में वर्णित है, राय देने के लिए सर्वोच्च न्यायालय को निर्देशित कर सकेगा। और सर्वोच्च न्यायालय, ऐसी सुनवाई के पश्चात् जो कि वह ठीक समझता है, राष्ट्रपति को उस पर अपनी राय प्रतिवेदित करेगा।

ज्ञातव्य है कि संयुक्त राज्य अमेरिका और आस्ट्रेलिया के संविधान उनके राष्ट्राध्यक्षों को सर्वोच्च न्यायालय से परामर्श प्राप्त करने का कोई प्रावधान नहीं करते जबकि कनाडा के संविधान में ऐसा प्रावधान किया गया है। भारत के संविधान में कनाडा के संविधान का अनुसरण किया गया है और सर्वोच्च न्यायालय को सलाहकारी क्षेत्राधिकार प्रदान किया गया है।

अनुच्छेद 143 के निर्वचन का प्रश्न सर्वप्रथम इन री एजूकेशन बिल (1958) के मामले में सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष आया तथा न्यायालय ने इस संबंध में निम्नलिखित सिद्धांत विहित किए–

(i) अनुच्छेद 143 (1) में प्रयुक्त 'कर सकेगा' (May) शब्दावली यह दर्शाती है कि सर्वोच्च न्यायालय सलाह देने के लिए बाध्य नहीं है। राय देना अथवा न देना उसकी इच्छा पर निर्भर है।

(ii) सर्वोच्च न्यायालय को कौन से प्रश्न सौंपे जाएं इसका निर्धारण राष्ट्रपति करता है तथा राष्ट्रपति के निर्णय पर आपत्ति नहीं की जा सकती। अनुच्छेद 143 के अंतर्गत सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दी गयी राय यद्यपि आदर के योग्य है परन्तु वह न्यायालयों के ऊपर बाध्यकारी नहीं है।

परन्तु 1978 में सर्वोच्च न्यायालय ने अपने उक्त मत को बदल दिया और यह अभिनिर्धारित किया गया कि अनुच्छेद 143 के अधीन सर्वोच्च न्यायालय राष्ट्रपति को राय देने के लिए बाध्य है साथ ही ऐसी राय सभी न्यायालयों पर आबद्धकर है परन्तु सर्वोच्च न्यायालय की राय में न्यायालय की राय हेतु 'निर्दिष्ट प्रश्नों' को ही सौंपा जाना चाहिए अस्पष्ट या सामान्य प्रकृति के प्रश्नों पर सर्वोच्च

न्यायालय अपनी राय देने के लिए बाध्य नहीं होगा। कावेरी जल विवाद अधिकरण के मामले में भी सर्वोच्च न्यायालय द्वारा राष्ट्रपति द्वारा मांगी गयी सलाह पर अपना निर्णय दिया था। 1994 में अयोध्या मामले पर सर्वोच्च न्यायालय के पाँच सदस्यों की संविधान पीठ ने सर्वसम्मति से इस विवाद पर अपनी सलाह देने से इन्कार कर दिया। इस मामले में सर्वोच्च न्यायालय से यह राय माँगी गयी थी कि क्या जहाँ 6 दिसम्बर 1992 को बाबरी मस्जिद ढहायी गयी थी वहाँ मूलरूप में एक मंदिर था? इस मामले में दूसरा प्रश्न विवादित क्षेत्र के आसपास की 67 एकड़ भूमि के केन्द्र सरकार द्वारा अधिग्रहण की वैधता के संबंध में था जिस पर सर्वोच्च न्यायालय की उक्त पीठ ने बहुमत से इस अधिग्रहण को वैध ठहराया था।

रिट जारी करने संबंधी क्षेत्राधिकार–सर्वोच्च न्यायालय के उपर्युक्त वर्णित क्षेत्राधिकारों के अतिरिक्त संविधान के अनुच्छेद 32 भारत के नागरिक को संविधान द्वारा प्रदत्त मौलिक अधिकारों के हनन के विरुद्ध संवैधानिक उपचारों का अधिकार प्रदान करता है और यह प्राविधित करता है कि संविधान के भाग–3 (मौलिक अधिकार) द्वारा प्रदत्त अधिकारों को प्रवर्तित कराने के लिए उसे सर्वोच्च न्यायालय में समावेदन करने का अधिकार प्रत्याभूत (गारण्टी) किया जाता है। यह अनुच्छेद सर्वोच्च न्यायालय को नागरिकों के मौलिक अधिकारों को प्रवर्तित कराने के लिए ऐसे निदेश या आदेश या रिट, जिनके अंतर्गत बंदी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, अधिकार-पृच्छा और उत्प्रेषण रिटें हैं, जो भी समुचित हो, जारी करने की शक्ति होगी। यह अनुच्छेद संविधान द्वारा अन्यथा उपबंधित के सिवाय निलंबित नहीं किया जाएगा। स्पष्ट है कि यह सर्वोच्च न्यायालय का एक क्षेत्राधिकार है। अनुच्छेद 139 में भी सर्वोच्च न्यायालय के रिट जारी करने की शक्ति को बताया गया है। जो यह बताता है कि सर्वोच्च न्यायालय मौलिक अधिकारों के लिए ही नहीं बल्कि किसी भी उद्देश्य के लिए निदेश, आदेश या रिट जारी कर सकता है।

10.5 सर्वोच्च न्यायालय की पुनर्विलोकन की शक्ति

संविधान के अनुच्छेद–137 द्वारा सर्वोच्च न्यायालय को अपने निर्णयों अथवा आदेशों के पुनर्विलोकन की शक्ति प्रदान की गयी है। न्यायालय का यह अधिकार संसद द्वारा निर्मित किसी विधि के अधीन होगा। इस शक्ति का प्रयोग संविधान के अनुच्छेद 145 के अधीन बनाए गए नियमों के अनुसार दीवानी प्रक्रिया संहिता के आदेश–47 नियम–1 में उल्लिखित आधारों पर किया जाएगा। ये आधार निम्नलिखित हैं–

1. साक्ष्य के नए तथा महत्वपूर्ण मामलों का प्रकटीकरण
2. निर्णय में प्रकट रूप में दृश्यमान कोई भूल अथवा त्रुटि और
3. कोई अन्य पर्याप्त कारण।

संविधान का अनुच्छेद 137 संसद को विधि द्वारा सर्वोच्च न्यायालय को ऐसी अनुपूरक शक्तियाँ प्रदान करने की शक्ति का प्रावधान करता है जो न्यायालय को उसे प्रदत्त क्षेत्राधिकार से कहीं अधिक दायरे में प्रयोग करने हेतु आवश्यक हों। परन्तु ये अनुपूरक शक्तियाँ संविधान के उपबंधों की संगति में ही होनी चाहिए।

इस संदर्भ में अनुच्छेद 138 का ध्यान लिया जाना भी आवश्यक है। यह अनुच्छेद सर्वोच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार की वृद्धि से संबंधित है और यह क्रमशः निम्नलिखित प्राविधित करता है–

(1) सर्वोच्च न्यायालय को संघ सूची के विषयों में से किसी के संबंध में ऐसा अतिरिक्त क्षेत्राधिकार तथा शक्तियां होंगी जो संसद विधि द्वारा इसे प्रदान करे।

(2) यदि संसद विधि द्वारा ऐसा उपबंध करती है तो सर्वोच्च न्यायालय को किसी विषय के संबंध में ऐसा अतिरिक्त क्षेत्राधिकार तथा शक्तियाँ होंगी जो कि भारत सरकार और संघ

के किसी राज्य की सरकार किसी विशेष करार द्वारा इसे प्रदान करे।

न्यायिक पुनर्विलोकन की अवधारणा का विकास संयुक्त राज्य अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णयों से प्रारम्भ हुआ वहाँ न्यायिक पुनर्विलोकन से अभिप्राय यह लिया गया कि यह देश के सर्वोच्च न्यायालय की वह शक्ति है जिसके अंतर्गत न्यायालय व्यवस्थापिका के किसी कृत्य की इस आधार पर समीक्षा कर सकता है कि वह संविधान के प्रावधानों के अनुरूप है अथवा नहीं। और यदि न्यायालय की दृष्टि में यह संविधान (जो कि देश का मौलिक कानून है) के अनुरूप न हो तो वह उसे असंवैधानिक घोषित कर सकता है। भारत का संविधान इस संबंध में एक सीमा तक अमेरिकी संवैधानिक व्यवहार का अनुगमन करता है। इसका आशय यह है कि संविधान को देश का मौलिक कानून मानते हुए संघ अथवा राज्य द्वारा बनाए गए किसी कानून को सर्वोच्च न्यायालय इस आधार पर असंवैधानिक घोषित कर सकता है कि वह संविधान के अनुरूप नहीं है। संक्षेप में न्यायिक पुनर्विलोकन को न्यायालय की ऐसी शक्ति कहा जाएगा जहाँ वह विधायिका द्वारा बनाए गए कानूनों की संवैधानिकता का परीक्षण करता है।

आज भारत का संविधान अपनी विषय वस्तु और अपनी सोच में मूल संविधान के पाठ से बहुत भिन्न दिखायी पड़ता है। संविधान में लगभग सौ संशोधन हो चुके हैं। इनमें से कुछ संशोधन विशेष महत्व के नहीं हैं, पर कुछ संशोधन सुधारात्मक प्रकृति के और कुछ विकास लक्ष्यों से प्रेरित हैं। इस संदर्भ में सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा दिये गये कतिपय निर्णय क्रांतिकारी साबित हुए हैं। संभवतः सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिए गए दो निर्णयों जिनमें क्रमशः 'संविधान के मूल ढाँचे' सिद्धांत और 'कानून की उचित प्रक्रिया का सिद्धांत' को देखने से तो यही प्रतीत होता है कि आज हमारा संविधान अपने मूल संविधान से एक भिन्न रूप ग्रहण कर चुका है। सर्वोच्च न्यायालय द्वारा इन दो सिद्धांतों का प्रतिपादन क्रमशः केशवानंद भारती (1973) और मेनका गाँधी (1978) के मामले में दिए गए निर्णयों से हुआ। केशवानंद भारती के मामले में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा इससे पूर्व गोलकनाथ वाद (1967) में दिए गए अपने निर्णय कि 'संसद मौलिक अधिकार (भाग तीन) में संशोधन करने का अधिकार नहीं रखती को उलटते हुए यह निर्णय दिया कि संसद मौलिक अधिकारों में संशोधन तो कर सकती है बशर्ते संविधान का मूल ढाँचा अपरिवर्तित रहे। परन्तु यह भी एक विडंबना है कि संविधान के मूल ढाँचे की कोई सुस्पष्ट परिभाषा नहीं दी गयी है। संविधान के मूल ढाँचे में कौन सी बातें सम्मिलित हैं यह सर्वोच्च न्यायालय के भिन्न-भिन्न निर्णयों में व्यक्तिगत न्यायधीशों की राय द्वारा अवलोकित हुआ है। उदाहरण के लिए सर्वोच्च न्यायालय ने 39वें संविधान संशोधन की धारा 14 को असंवैधानिक घोषित करने के लिए मूल ढाँचे के सिद्धांत को आधार बनाया और यह प्रतिपादित किया कि 'स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनाव' संविधान की मूल संरचना के भीतर आता है और इसे संशोधित नहीं किया जा सकता। यद्यपि संविधान के 42वें संशोधन द्वारा संविधान संशोधन करने की संसद की असीमित शक्ति बहाल करने के उद्देश्य से अनुच्छेद 368 में संशोधन कर दो खण्ड 368 (4) और 368 (5) जोड़े गए। 368 (4) यह घोषित करता है कि इस संशोधन के लागू होने (3-1-1977) और इसके पश्चात् किया जाने वाले किसी भी संशोधन को किसी भी आधार पर किसी भी न्यायालय में चुनौती नहीं दी जाएगी। अनुच्छेद 368 (5) में यह शामिल किया गया कि संविधान संशोधन की संसद की संविधायी शक्ति के ऊपर कोई सीमा नहीं है। मिनर्वा मिल (1980) के निर्णय में सर्वोच्च न्यायालय की पांच न्यायधीशों की पूर्ण पीठ ने एकमत से यह अभिनिर्धारित किया कि संविधान के 42वें संशोधन द्वारा संविधान के अनुच्छेद 368 में जोड़े गए खण्ड (4) तथा (5) जिनके द्वारा संसद की संशोधन शक्ति को असीमित बना दिया गया था वे असंवैधानिक हैं और वे संविधान के आधारभूत ढाँचे को नष्ट करते हैं। न्यायालय ने यह स्पष्ट किया कि भारत में संविधान सर्वोच्च है न कि संसद। संसद अपनी सीमित संशोधन शक्ति को बढ़ा नहीं सकती। इस तरह इस निर्णय में संविधान संशोधन की 'सीमित शक्ति' तथा 'न्यायिक पुनर्विलोकन' संविधान के आधारभूत ढाँचे के आवश्यक तत्व घोषित किए गए।

सर्वोच्च न्यायालय की सात सदस्यीय संविधान पीठ ने सर्वसम्मति से एल0चंद्रकुमार (1988) के

मामले में दिए गए अपने निर्णय से यह स्पष्ट कर दिया कि न्यायिक पुनर्विलोकन संविधान का आधारभूत ढांचा है और इसे संविधान संशोधन द्वारा अपवर्जित नहीं किया जा सकता। संक्षेप में, संसद द्वारा भविष्य में पारित कोई भी संवैधानिक संशोधन न्यायालयों को इसकी विधि मान्यता की जाँच करने से नहीं रोक सकता।

न्यायपालिका की स्वतंत्रता–जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है किसी भी संवैधानिक व्यवस्था की एक आवश्यक शर्त न्यायपालिका की स्वतंत्रता का होना है। प्रजातांत्रिक व्यवस्थाओं में भी यह एक अनिवार्यता है। जहाँ न्यायपालिका से निष्पक्षता की अपेक्षा की जाती है वहीं उसकी अपनी स्वतंत्रता भी समान रूप से महत्वपूर्ण है। भारत का संविधान न्यायपालिका की स्वतंत्रता को सुनिश्चित करने हेतु निम्नलिखित प्रावधान करता है–

(1) कार्यपालिका से न्यायपालिका का पृथक्करण।

2) न्यायधीशों की पदावधि की सुरक्षा

(3) न्यायधीशों के वेतन भत्ते तथा अन्य सुविधाओं का विधायिका के मतदान से परे होना।

(4) संसद द्वारा सर्वोच्च न्यायालय के अधिकार क्षेत्र को बढ़ाया तो जा सकता है पर कम नहीं किया जा सकता।

(5) न्यायधीशों के अपने कर्तव्य पालन में किए गए आचरण पर संसद में कोई चर्चा नहीं की जा सकती।

(6) न्यायपालिका के पास अपने अवमान के लिए दण्ड देने की शक्ति।

(7) न्यायधीशों को अवकाश प्राप्त करने के पश्चात् वकालत करने पर प्रतिबंध। (यद्यपि संविधान सरकार को यह अनुमति देता है कि विशेष प्रकार के कार्यों का संपादन करने जैसे-विशेष जाँच पड़ताल अथवा अन्वेषण हेतु उन्हें नियुक्त किया जा सकता है।)

10.6 न्यायिक सक्रियता

विगत कुछ वर्षों में भारत में न्यायपालिका की न्यायिक भूमिका में अद्भुत विस्तार को देखा जा सकता है। न्यायपालिका, विशेषकर सर्वोच्च न्यायालय द्वारा अनेक ऐसी शक्तियाँ हासिल कर ली गयी हैं जो कतिपय संविधानविदों के अनुसार न्यायपालिका की नहीं है। वस्तुतः हमारा संविधान जो "हम भारत के लोग" पदावली से प्रारंभ होता है, यह भी लक्षित करता है कि हमने अपने आप को इस तरह शासित करने का वचन लिया था कि इस संवैधानिक व्यवस्था के अंतर्गत मानवाधिकारों और प्रजातांत्रिक जवाबदेही के मूल सिद्धांतों का शासन संचालन में अभिपालन किया जाएगा। अंतिम विश्लेषण में प्रत्येक संवैधानिक जनतांत्रिक व्यवस्था की यह मान्यता है कि शासन शक्ति अंततः ज़नता में निहित है जिसका प्रयोग कानून के शासन द्वारा किया जाता है। संवैधानिक संस्थाएँ तो वे उपकरण होती हैं जो अपनी सीमित शक्तियों का प्रयोग करती हैं। एक देश का संविधान एक जीवित वस्तु होता है इसलिए इसको प्राकृतिक रूप में विकसित होने का अवसर मिलना चाहिए। परिवर्तन और प्रगति हेतु जनमत निर्माण किया जाना एक प्रजातांत्रिक पद्धति है। जनमत द्वारा सरकार से जन आकांक्षाओं एवं जन आवश्यकताओं की पूर्ति किए जाने की माँग करना उसका प्रजातांत्रिक अधिकार है। जन साधारण शासन से यह अपेक्षा करता है कि एक न्यासी के रूप में सुशासन प्रदान करने हेतु उसे जनहितों के प्रति संवेदनशील होना चाहिए। शासन के कार्यों में अभूतपूर्व रूप से वृद्धि हो चुकी है ऐसे में शासन लोकहित के आवश्यक क्षेत्रों की अनदेखी न करे साथ ही शासन द्वारा अपनी शक्तियों के प्रयोग में जनसाधारण का उत्पीड़न न हो, मानव अधिकारों का हनन न हो, शासनिक प्रक्रिया नैसर्गिक न्याय एवं सामाजिक न्याय के अनुरूप चलती रहे ये सभी ऐसे विषय हैं जो किसी भी व्यवस्था हेतु आवश्यक हैं। यह निर्विवाद रूप से एक यथार्थ है कि किसी राष्ट्र के विकास हेतु शासन

के सभी अंगों को पूर्णतः समरस होकर कार्य करना चाहिए परन्तु यह भी एक विडम्बना है कि जब कई अवसरों पर राजनीतिक एवं विधायी प्रक्रियाएं न्यायालयों के समक्ष निर्णयार्थ प्रस्तुत की गयी हैं न्यायालयों को अपने निर्णयों को देते हुए विधि की संवैधानिकता की समीक्षा तो करनी ही होती है साथ ही संविधान द्वारा प्रदत्त शक्तियों के क्षेत्र की व्याख्या भी करनी होती है इसका यह आशय नहीं होता कि न्यायालय सर्वोच्च व्यवस्थापन का कार्य करता है अपितु वह तो विधायी प्रावधानों की संवैधानिकता के अवलोकन को किए जाने को सुनिश्चित करता है। न्यायपालिका की ऐसी भूमिका को अलोकतांत्रिक रूप में नहीं देखा जा सकता क्योंकि न्यायालय स्वयं संविधान की उपज हैं और अपने निर्धारित क्षेत्र के अंतर्गत ही कार्य करते हैं। न्यायालयों द्वारा निभायी जाने वाली ऐसी भूमिका को 'न्यायिक सक्रियता' के नाम से जाना जाने लगा है। न्यायालयों द्वारा ऐसी सक्रियता प्रक्रियागत एवं सारभूत दोनो ही तरह के न्याय के विषय में अपनायी गयी है परिणामतः कई नवीनताओं को न्यायिक प्रक्रिया के अंतर्गत देखा जाता है।

कम से कम दो तरह की ऐसी परिस्थितियाँ हैं जहाँ न्यायालयों ने सक्रियतावादी रूख अपनाया है प्रथमतः वे परिस्थितियाँ जहाँ कानून में अस्पष्टताएँ अथवा रिक्तियाँ विद्यमान हैं अथवा जहाँ मौलिक अधिकारों के पूर्ण संरक्षण हेतु किसी नयी नीति के निर्माण की आवश्यकता अथवा निवर्तमान नीति को विस्तृत किए जाने की आवश्यकता महसूस की गयी है, ये कार्य वस्तुतः व्यवस्थापिकाओं के कार्य हैं। द्वितीयतः वे परिस्थितियाँ जहाँ न्यायालयों ने अपनी सक्रियता दिखायी उन विषयों से संबंधित हैं जिन्हें सामान्यतः कार्य पालिका कार्य कहा जाता है। ये वे क्षेत्र हैं जहाँ कानूनों को किसी कारणवश लागू नहीं किया जा सका और वैयक्तिक अधिकार अथवा सार्वजनिक हितों की अनदेखी हुई।

न्यायिक सक्रियता के परिणामस्वरूप न्यायालयों में प्रस्तुत की जाने वाली याचिकाओं के स्वरूप में परिवर्तन आ गया है। न्यायालयों द्वारा साधारण पोस्टकार्ड द्वारा भेजे संदेशों को भी 'समादेश याचिका' मान लिया गया, न्यायालयों ने समाचार पत्रों में छपे समाचारों के आधार पर भी कार्यवाहियाँ आरम्भ की गई, न्यायालयों द्वारा जनहित से प्रेरित व्यक्तियों, समुदायों अथवा संगठनों द्वारा प्रेषित याचिकाओं को भी स्वीकार कर लिया भले ही इनमें याचिकाकर्त्ता का अपना कोई हित न निहित रहा हो। न्यायालयों ने आपराधिक मामलों में निष्पक्ष अन्वेषण अथवा प्राथमिकी (एफ0आई0आर0) दर्ज करने से लेकर आरोप पत्र देने तक पुलिस एवं जाँच एजेंसियों के कार्यों पर निगरानी रखना प्रारम्भ किया। इस संबंध में यह ध्यान देने योग्य है कि सर्वोच्च न्यायालय द्वारा केंद्रीय जाँच ब्यूरों को भयमुक्त और निडर बनाने के लिए उसे प्रधानमंत्री कार्यालय के बजाय सीधे न्यायालय को रिपोर्ट करने के आदेश दिए। न्यायालयों द्वारा स्वयं अनेक मामलों में जाँच तथा छानबीन का कार्य स्वतंत्र एवं निष्पक्ष व्यक्तियों, निकायों अथवा संगठनों को सौंपा है जिससे कि सभी तथ्यों को एकत्रित कर वास्तविकता को उजागर किया जा सके।

सारभूत न्याय, न्यायिक सक्रियता का एक लक्ष्य है। इसके मार्ग में आने वाली बाधाओं तथा औपचारिकताओं का न्यायालय ने निराकरण किया। सर्वोच्च न्यायालय का यह निर्णय कि ''जहाँ समाज के दुर्बल वर्गों का प्रश्न है जैसे जेलों में सड़ रहे और न्यायिक कार्यवाही की प्रतीक्षा कर रहे कैदी, आगरा में सुरक्षागृह के निवासी या अजमेर जिले में सड़क निर्माण में लगे श्रमिक जो निर्धनता और दरिद्रता का जीवन बिता रहे हैं, जो अपने पसीने की कमाई से मुश्किल से अपना पेट पाल रहे हैं, जो शोषक समाज के निःसहाय शिकार हैं और जो न्यायालय तक नहीं पहुँच सकते, उनके मामलों में यदि कोई जनहित प्रेरित व्यक्ति उनको न्याय दिलाने के लिए आगे आता है तो ऐसे व्यक्ति के एक साधारण पत्र पर भी न्यायालय ध्यान देगा।'' न्यायालय ने आगे यह भी कहा ''आज न्यायिक प्रक्रिया में क्रांति आ रही है कानून का मंच तेजी से बदल रहा है और निर्धनों की समस्याएँ आगे आ रही हैं। न्यायालय को जन समूह को जो मूलभूत मानवाधिकारों से वंचित है और जिनके लिए स्वतंत्रता या स्वाधीनता का कोई अर्थ नहीं है, न्याय तक पहुँचने देने के लिए नए तरीके और नयी कार्य शैली प्रतिपादित करनी होगी।'' स्पष्ट है कि न्यायालय एक उद्देश्य परक एवं सक्रिय उपागम को अपनाने

के लिए प्रेरित हुआ हैं।

जब बिहार में जेल में बंद नेत्रहीन बंदियों की ओर एक जनहित याचिका के माध्यम से न्यायालय का ध्यान आकर्षित कराया गया जो ऐसे बंदियों के बारे में थी जो कि न्यायिक कार्यवाही प्रारंभ होने की प्रतीक्षा में जेलों में सड़ रहे थे और जिन्हें नेत्रहीन बनाने के लिए संभवतः पुलिस ही जिम्मेदार थी। इस जनहित याचिका के उपरांत तो जनहित याचिकाओं की एक बाढ़ सी आ गयी। मुंबई के फुटपाथ निवासी, बालगृहों में रहने वाले बालक, बंधुआ मजदूर, नारी निकेतनों की महिलाएँ, रिक्शा चालकों की दुर्दशा से लेकर पुलिस की ज्यादतियों के शिकार लोग, पर्यावरण सुरक्षा, प्रदूषण निवारण और यहां तक कि ऐतिहासिक स्मारकों की सुरक्षा तक के सभी विषय न्यायालयों के समक्ष उनके न्यायिक नियंत्रण, निर्देशन और अधीक्षण में आ गए। राजनीतिक सत्ता के दुरुपयोग, वित्तीय घोटाले, प्रशासनिक भ्रष्टाचार, अकर्मण्यता तथा लापरवाही के मामलों में सांसद मंत्री एवं अधिकारी सभी को न्यायिक नियंत्रण के घेरे में ला खड़ा कर दिया गया।

अनियमित रूप से आवासों तथा भूखण्डों के आवण्टन के लिए नगर विकास मंत्री श्रीमती शीला कौल को पहले मंत्रिमंडल से हटना पड़ा और फिर राज्यपाल पद से भी। कैप्टन सतीश शर्मा को पेट्रोल पंप और रसोई गैस की बिक्री के मामले में लाइसेंस देने में अनियमितता बरतने के लिए पदमुक्त होना पड़ा। यही नहीं उक्त दोनों मंत्रियों को जुर्माने की भारी रकम भी चुकानी पड़ी। जैन हवाला काण्ड में तो चार मंत्री क्रमशः माधवराव सिंधिया, बलराम जाखड़ बूटा सिंह तथा विद्याचरण शुक्ल को आरोप पत्र मिलते ही मंत्रिमंडल से हटना पड़ा। इसी मामले के चलते लालकृष्ण आडवानी ने नैतिक दबाव के रहते लोकसभा के एक चुनाव में नामांकन तक नहीं करवाया, चीनी आयात के मामले में ज्ञान प्रकाश समिति की रिपोर्ट के प्रकाश में न्यायालय ने नागरिक आपूर्ति मंत्री कल्पनाथ राय की भूमिका पर टिप्पणी करते उहे कहा 'यदि चीनी आयात के निर्णय में सोच समझ कर तथा जानबूझकर देरी की गयी तब न्यायालय को जनता के प्रति मंत्री की जवाबदेही पर और इसे लागू करवाने पर भी विचार करना होगा।'

पर्यावरण संरक्षण और प्रदूषण की रोकथाम हेतु न्यायालय द्वारा मथुरा के तेलशोधक कारखाने, कानपुर तथा तमिलनाडु में चमड़ा साफ करने वाली इकाइयों मिर्जापुर और वाराणसी में साड़ी रंगने वाले व्यापारियों पर अनेक प्रकार के प्रतिबंध लगाने या फिर ताज महल के संरक्षण हेतु उसके आसपास के घरों, दुकानों अथवा कार्यालयों को हटाने के आदेश दिए। न्यायालयों का ध्यान नगरों की देखरेख, उनकी सड़कों की सफाई, सार्वजनिक स्थलों पर भूमि हथियाने अथवा दुकानों या मकानों के अनधिकृत विस्तार जैसे सार्वजनिक प्रश्नों की ओर आकृष्ट हुआ। दिल्ली उच्च न्यायालय का यह आदेश कि "इस देश के नागरिकों को स्वच्छ हवा में साँस लेने का मूल अधिकार है जो जहरीली गैसों से दूषित न हो अतः सरकार का कर्तव्य है कि वह नागरिकों को साँस लेने के लिए स्वच्छ और ताजी हवा दिलवाना सुनिश्चित करे" एक महत्वपूर्ण दिशा निर्देश के रूप में देखा जा सकता है। न्यायमूर्ति पी0एन0भगवती के ये शब्द कि "लोक हित वाद विधिक सहायता आंदोलन की एक महत्त्वपूर्ण भुजा है और इसका उद्देश्य न्याय को निर्धन असुरक्षित लोगों तथा अन्याय के शिकार व्यक्तियों की पहुँच के भीतर लाना है" जनहित हेतु न्यायपालिका की सक्रिय भूमिका की आवश्यकता को उजागर करते हैं। न्यायपालिका की इस सक्रियता और जनहित याचिकाओं की बढ़ती संख्या से एक लोकहित वाद आंदोलन का ही जन्म हो गया है। लोकहितवाद किसी एक व्यक्ति के विरुद्ध दूसरे व्यक्ति के अधिकार के प्रवर्तन के लिए न्यायालय में याचिकाओ को लाना जाना मात्र नहीं है बल्कि इसका उद्देश्य तो लोकहित का संवर्द्धन और समर्थन करना है। जिसका तकाजा है कि एक बड़ी संख्या में ऐसे लोगों जो निर्धन और अज्ञानी हैं, जो सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से अलाभकर स्थिति में हैं, की संवैधानिक एवं कानूनी अधिकारों की अनदेखी से सुरक्षा और उनके प्रवर्तन में मौजूद कमियों को दूर किया जाना है। साथ ही यह सरकार को उसके मूलभूत दायित्वों के निर्वहन में कोताही न बरतने तथा जनहित के प्रति संवेदनशीलता बरतने हेतु आगाह करता है। निस्संदेह आज जनहित

याचिका आंदोलन समाज के विशाल वर्ग को न्याय दिलाने का एक प्रभावकारी और सशक्त उपकरण बन चुका है। न्यायालयों की सक्रियता जन सामान्य के सार्वजनिक कष्टों के निवारण तथा सरकारी पदाधिकारियों की अनियमितताओं भूलों तथा अत्याचारों के निराकरण करने में देखी जा सकती है। ऐसी सक्रियता ने राजनीतिक और प्रशासनिक क्षेत्रों में हलचल पैदा कर दी है और इसकी आलोचना भी होने लगी है। इसके आलोचकों का तर्क है कि न्यायपालिका अपने अधिकार क्षेत्र से बाहर कार्यपालिका और विधायिनी क्षेत्र का अतिक्रमण कर रही है। आलोचक इसे अधिकार विभाजंन का खण्डन मानते हैं। प्रायः न्यायिक निर्देशों तथा आदेशों की यह कहकर भी आलोचना की जाती है कि इन्हें लागू करा पाना अव्यावहारिक है, इससे उत्पन्न सार्वजनिक असंतोष को भी शासन तथा प्रशासन अपनी मजबूरी के रूप में पेश करते हैं। यह न्यायापालिका के कार्यभार को और अधिक बढ़ा देता है तर्क यह दिया जाता है कि न्यायालय पहले ही कार्यभार से दबाव में है। न्यायालय की आलोचना इस आधार पर भी की जाती है कि यदि न्यायालय कार्यपालिका और विधायिका कार्यो को अपने हाथ में लेकर मनमानी करने लगे तो उस पर प्रतिबंध या नियंत्रण किसका रहेगा? कभी कभी न्यायिक सक्रियता को न्यायिक आतंक अथवा न्यायिक तानाशाही तक कह दिया जाता है।

ऐसी आलोचनाएँ सारगर्भित नहीं कही जा सकतीं। किसी भी विकासशील देश में न्यायपालिका की भूमिका को गत्यात्मक होना ही चाहिए। समाज में उत्पन्न नयी समस्याओं के उपचार हेतु नए तरीके तो अपनाने ही पड़ेंगे। इस संबंध में न्यायमूर्ति कुलदीप सिंह की यह टिप्पणी कि ''आज हम जो कुछ भी कर रहे हैं वह हमारे कर्तव्यों का भाग है। न्यायाधीश केवल जनता के अधिकारों की रक्षा के लिए अपना संवैधानिक दायित्व निभाते हैं और वह भी तब जबकि सामाजिक न्याय संबंधी कानूनों को लागू करने के लिए कोई नहीं हो।'' उन्होंने स्वयं ही प्रश्न उठाए कि इसे न्यायिक आतंक या न्यायिक अतिक्रमण कैसे कहा जा सकता है जबकि न्यायालय केवल निर्दोष लोगों के सुरक्षाकर्मियों द्वारा मारे जाने पर जाँच के आदेश देता है या जब न्यायालय यमुना नदी में शुद्धिकरण प्लाण्ट लगाने के लिए कहता है वह भी तब जब दिल्ली की 75 प्रतिशत गंदगी यमुना नदी में गिरायी जा रही हो तो क्या वह जनस्वास्थ्य के लिए हानिकारक नहीं? उन्होंने कहा कि यदि सरकार मानवाधिकारों की रक्षा नहीं कर पाती तो न्यायालयों का हस्तक्षेप करना उनका कर्तव्य है। वह तो इसे न्यायिक सक्रियता वाद कहना भी भ्रामक मानते हैं।

सर्वोच्च न्यायालय के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश ए0एस0 आनन्द ने न्यायिक सक्रियता वाद के विषय पर 1999 में 'मिलेनियम ला लेक्चर' जो केरल उच्च न्यायालय के अधिवक्ता संघ द्वारा प्रायोजित था, में कहा कि न्यायिक सक्रियता वाद उचित है पर कहीं यह 'न्यायिक अति उत्साहवाद (Judicial Adventurism) न बन जाए इससे सजग रहने की आवश्यकता है। अन्यथा यह अराजकता की ओर ले जाएगा और जनता यह नहीं जान पाएगी की शक्ति के दुरुपयोग हेतु शासन की किस शाखा की ओर देखा जाए। उन्होंने यह भी कहा कि न्यायधीश की एक निर्णायक की भूमिका है। न्यायधीश अपनी न्यायिक सीटी तब बजा सकता है जबकि गेंद खेल के बाहर चली जाए परंतु जब खेल पुनः शुरू हो तो न्यायधीश न तो इसमें भाग ले और न ही खिलाड़ियों को बताए कि वे कैसे खेलें। उन्होंने जोर दिया कि न्याय रूपी सीटी को बजाने का एक उद्देश्य है परन्तु इसके लिए संयम भी आवश्यक है। यह ध्यान रखा जाना है कि न्यायालय सरकार नहीं चला सकते। न्यायालयों का कर्त्तव्य वैयक्तिक अधिकारों के संरक्षण हेतु संवैधानिक सुरक्षा उपायों को लागू करना है। किसी भी अधिकार को दी गयी चुनौती के लिए संविधान की सीमा को नहीं लाँघ सकते।

स्पष्ट है कि किसी प्रभावशाली उपचार के अभाव में न्यायधीशों द्वारा लक्ष्मण रेखा पार करना एक समस्या होगी क्योंकि तब संवैधानिक संतुलन को बनाए रखने हेतु कोई उपचार उपलब्ध नहीं हो पाएगा। परन्तु यह एक वास्तविकता है कि जनहित वाद के माध्यम से न्यायिक सक्रियता ने न्यायपालिका में जन आस्था का संचार किया है और न्यायपालिका को जनता, एक संविधान की संरक्षक, नागरिक अधिकार की रक्षक और सामाजिक न्याय प्रदान करने वाली संस्था के रूप में देखने

10.7 सारांश

संघीय व्यवस्था की अपेक्षानुरुप स्वतंत्र न्यायपालिका की स्थापना के मन्तव्य से भारतीय संविधान के निर्माताओं ने शीर्षस्थ न्यायिक संस्था के रुप में एक सर्वोच्च न्यायालय का प्रावधान किया है। संविधान ने सर्वोत्तम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश और अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति का अधिकार तो राष्ट्रपति को दिया है किन्तु उनको हटाने के लिये अपेक्षाकृत कठिन एक विशेष प्रावधान का उल्लेख किया है जिसके अन्तर्गत संसद के दोनों सदनों के उपस्थित एवं मतदान में भाग लेने वाले दो तिहाई सदस्यों की स्वीकृति और राष्ट्रपति की सहमति आवश्यक है। यह उपबन्ध न्यायपालिका की स्वतंत्रता की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। एक संघीय न्यायालय और नागरिकों के मौलिक अधिकारों के संरक्षक के रुप में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई गयी है। विगत वर्षों में जनहित याचिकाओं के माध्यम से सर्वोच्च न्यायालय की सक्रियता में वृद्धि हुई है। इस न्यायायिक सक्रियता को जहाँ व्यवस्थापिका और कार्यपालिका को आलोचनात्मक दृष्टि से देखा है वहीं इसके माध्यम से जनता में न्यायपालिका के प्रति आस्था में वृद्धि हुई है।

10.8 उपयोगी पुस्तकें

1. ग्रेनविल आस्टिन : दि इण्डियन कांस्टिट्यूशन, कार्नरस्टोन ऑफ ए नेशन
2. एच० एम० जैन : दि यूनियन एक्जिक्यूटिव
3. डी० सी० गुप्ता : इण्डियन गवर्नमेन्ट एण्ड पालिटिक्स
4. जे० सी० जौहरी : इण्डियन गवर्नमेन्ट एण्ड पालिटिक्स
5. एम० वी० पायली : कांस्टिट्यूशन आफ इण्डिया
6. वी० एन० शुक्ला : भारत का संविधान
7. एस० एम० सईद : भारतीय राजनीतिक प्रणाली
8. जे० एन० पाण्डेय : भारत का संविधान
9. सुभाष कश्यप : अवर कान्स्टिट्यूशन
10. सुभाष कश्यप : अवर पार्लियामेन्ट
11. हरिमोहन जैन : भारतीय शासन और राजनीति
12. एस० एस० खेरा : दि सेन्ट्रल एक्जिक्यूटिव

10.9 सम्बन्धित प्रश्न

(a) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न :

1. सर्वोच्च न्यायालय के संगठन तथा क्षेत्राधिकार की विवेचन कीजिए।
2. न्यायिक पुनरावलोकन के विशेष संदर्भ में सर्वोच्च न्यायालय की भूमिका का परीक्षण कीजिए।
3. भारत में न्यायिक सक्रियतावाद पर एक संक्षिप्त निबंध लिखिए।

(b) लघु उत्तरीय प्रश्न :

1. सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश हेतु निर्धारित योग्यताएं क्या हैं?
2. न्याय पालिका की स्वतंत्रता से क्या अभिप्राय है?
3. जनहितवाद से आप क्या समझते हैं?

(c) वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. निम्नांकित में से कौन सा/से कार्य सर्वोच्च न्यायालय संपन्न करता है–
   (क) संविधान की व्याख्या
   (ख) संविधान का संरक्षण
   (ग) न्यायिक पुनर्विलोकन
   (घ) उपर्युक्त सभी
2. सर्वोच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार है–
   (क) आरंभिक
   (ख) अपीलीय
   (ग) परामर्श दात्री
   (घ) उपर्युक्त सभी
3. सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश को कार्यकाल पूरा होने से पूर्व ही पदमुक्त किया जा सकता है–
   (क) संसद द्वारा दो-तिहाई बहुमत से पारित साबित अक्षमता या कदाचार का प्रस्ताव जिस पर राष्ट्रपति ने हस्ताक्षर कर दिए हों।
   (ख) संसद के साधारण बहुमत से।
   (ग) सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति की संस्तुति पर राष्ट्रपति द्वारा।
   (घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं।
4. भारतका सर्वोच्च न्यायालय नयी दिल्ली में स्थित है किन्तु इसकी बैठकें हो सकती हैं–
   (क) लखनऊ में
   (ख) मुम्बई में
   (ग) कोलकाता में
   (घ) अन्य किसी भी स्थान पर जहाँ का निर्णय मुख्य न्यायाधीश राष्ट्रपति के साथ परामर्श करके ले।

10.10 प्रश्नोत्तर

1. (घ)
2. (घ)
3. (क)
4. (घ)

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय

MAPS-107

भारतीय शासन और राजनीति

खण्ड

4

दलीय राजनीति

इकाई 11

दलीय व्यवस्था की प्रकृति एवं विशेषताएँ 5

इकाई 12

राष्ट्रीय दल एवं क्षेत्रीय दल 17

इकाई 13

दबाव समूह 40

विशेषज्ञ समिति

प्रो. आर.के. मणि त्रिपाठी अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष दीन दयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय गोरखपुर	विषय विशेषज्ञ
प्रो. एल.डी. ठाकुर अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष राजनीतिशास्त्र विभाग लखनऊ विश्वविद्यालय लखनऊ	विषय विशेषज्ञ
प्रो. एस.एम. सईद राजनीतिशास्त्र विभाग लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ	विषय विशेषज्ञ
डॉ. मंजूलिका श्रीवास्तव रीडर, इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय नई दिल्ली	दूरस्थ शिक्षा विशेषज्ञ
प्रो. एस. के. द्विवेदी राजनीति शास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय लखनऊ	सम्पादक

परामर्श समिति

प्रो. केदार नाथ सिंह यादव, कुलपति	अध्यक्ष
डॉ. हरीश चन्द्र जायसवाल, वरिष्ठ परामर्शदाता	कार्यक्रम संयोजक
प्रो. के. पी. सिंह, वरिष्ठ परामर्शदाता	सदस्य
डॉ. अर्जुन तिवारी, वरिष्ठ परामर्शदाता	सदस्य
प्रो. ए.यन. द्विवेदी, वरिष्ठ परामर्शदाता	सदस्य
डॉ. रत्नाकर शुक्ला, कुलसचिव	सचिव

PGPS-04 :– भारतीय शासन और राजनीति

लेखक मण्डल

खण्ड एकः	प्रो. एस.एम. सईद, राजनीति शास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ	3 इकाई
खण्ड दोः	प्रो. एस.एम. सईद, राजनीति शास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ	3 इकाई
खण्ड तीनः	प्रो. बी.के. तिवारी, राजनीति शास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ	4 इकाई
खण्ड चारः	डॉ. वी.के. राय, रीडर, राजनीति शास्त्र विभाग, इला. विश्वविद्यालय, इलाहाबाद	3 इकाई
खण्ड पाँचः	डॉ. एम. शाहिद, रीडर, राजनीति शास्त्र विभाग, इला. विश्वविद्यालय, इलाहाबाद	4 इकाई

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सर्वाधिकार सुरक्षित, इस कार्य का कोई भी अंश उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की लिखित अनुमति के बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुति अनुमति नहीं है।

दूरस्थ शिक्षा परिषद नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित

खण्ड 4 का परिचय : दलीय राजनीति

यह खण्ड भारतीय राजनीतिक प्रक्रिया को प्रभावित करने वाली दलगत राजनीति एवं राजनीतिक समूहों से संबंधित है। ये राजनीतिक दल और दबाव समूह राजनीतिक प्रणाली में सत्ता को आकार प्रदान करने और शामिल होने के विशिष्ट सामूहिक प्रयास होते हैं। दलगत राजनीति प्रायः संसदीय ढाँचे के अन्तर्गत कार्य करती है जबकि राजनीतिक समूह अपने हितों का संवर्द्धन कभी संसदीय ढाँचे के अन्तर्गत तो कभी इसके बाहर से जाकर जन-असंतोष अथवा अपने-अपने समूहों के हितों की पूर्ति का प्रयास करते हैं एवं इसके लिए राजनीतिक दलों का समर्थन भी प्राप्त करना चाहते हैं। अनेक अवसरों पर यह अन्तर करपाना भी कठिन हो जाता है कि ये हित अथवा दबाव समूह कब राजनीतिक दलों के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। इस खण्ड के अध्ययन द्वारा राजनीतिक दलों एवं दबाव एवं हित समूहों के मध्य स्थित इस अल्प (Thin) भेद को समझने का प्रयास किया गया है।

यह खण्ड तीन इकाईयों में बाँटा गया है। प्रथम इकाई दलीय व्यवस्था की प्रकृति, उसकी विशिष्टताओं एवं राजनीतिक व्यवस्था के सुचालन में इसकी महत्ता से हमें परिचित कराती है। इस इकाई में भारत में दलीय प्रणाली के क्रमबद्ध विकास पर प्रकाश डाला गया है तथा स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय से ही दलीय प्रणाली में जो परिवर्तन हुए, उनका चित्रण किया गया है। इस प्रक्रिया में जिन कारकों का योगदान रहा; उन्हें भी समझाया गया है।

भारतीय राजनीतिक प्रणाली की संस्थागत व्यवस्थायें समय-समय पर होने वाले चुनाव, प्रतिस्पर्धा करने वाले राजनीतिक दल का दबाव समूह लोकप्रिय माँगों एवं शिकायतों की अभिव्यक्ति के लिए अवसर प्रदान करती है। महाद्वीपीय आकार एवं संघीय ढाँचे के कारण भारत में बहुदलीय प्रणाली है–इसमें राष्ट्रीय तथा क्षेत्रीय दोनों बल हैं। इकाई दो पाँच प्रमुख राजनीतिक दलों से संबंधित है। ये हैं–कांग्रेस (आई0), भारतीय कम्युनिष्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिष्ट पार्टी (एम0), भारतीय जनता पार्टी तथा जनता दल। साथ ही इस इकाई में प्रमुख क्षेत्रीय दलों की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया गया है, जिससे राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय दलों के बीच विचारधारा, कार्यनीति और युक्तियों के संबंध में अन्तर स्पष्ट होगा।

भारत की राजनीतिक प्रणाली न केवल राजनीतिक दलों से ही प्रभावित नहीं हुई है, अपितु इस पर राजनीतिक दबाव समूहों ने भी अपना प्रभाव डाला है। इस खण्ड की तीसरी एवं अन्तिम इकाई में राजनीतिक समूहों-प्रेस, व्यापार एवं उद्योग विद्यार्थी तथा कृषक समूहों की चर्चा की गयी है। इसमें इन समूहों के स्वरूप, गठन और भूमिका की भी चर्चा की गई है।

इकाई–11 दलीय व्यवस्था की प्रकृति एवं विशेषताएं

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 राजनीतिक दलों की परिभाषा : अर्थ एवं प्रकृति अथवा स्वरूप

11.3 भारत में दलीय व्यवस्था का विकास

11.4 भारत में दलीय व्यवस्था की विशेषताएं

11.5 राजनीतिक दलों की महत्ता

11.6 सारांश

11.7 उपयोगी पुस्तकें

11.8 सम्बन्धित प्रश्न

11.9 प्रश्नोत्तर

11.0 उद्देश्य

इकाई में भारत की दलीय व्यवस्था के प्रकृति, विकास, विशेषताओं और क्रिया भाग की चर्चा की गयी है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

- राजनीतिक दलों की आवश्यता एवं अनिवार्यता की विवेचना कर सकेंगे,
- राजनीतिक दलों की परिभाषा–अर्थ एवं प्रकृति का विश्लेषण कर सकेंगे,
- दलीय व्यवस्थाओं के वर्गीकरण कर सकेंगे,
- राष्ट्रीय आन्दोलन के सन्दर्भ में भारत में राजनीतिक दलों का विकास का उल्लेख कर सकेंगे,
- राजनीतिक दलों की विशेषताएँ पर टिप्पणी कर सकेंगे।

11.1 प्रस्तावना

मानव प्रगति का इतिहास शनैः - शनैः सामाजिक, आर्थिक, तकनीकी और वैज्ञानिक विकास के स्तरों से होते हुए आगे बढ़ा है जिससे मानव संगठनों के उद्देश्य तथा स्वरूप भी बदलते गये हैं। जब समाज बदलता है उसकी संस्कृति, अर्थव्यवस्था तथा राजनीति में भी परिवर्तन परिलक्षित होता है। आज हम वृहद् समाज और विशाल जनसंख्या के युग में हैं। यह जनसमाज एक ओर जाति, नस्ल, जनजाति, धर्म, भाषा, संस्कृति और क्षेत्र आदि कारकों से निर्धारिक हैं तो दूसरी ओर आधुनिक सामाजिक घटक वर्ग, श्रेणी, व्यावसायिक विचारधारा तथा राजनीतिक दल आदि कारकों से भी प्रभावित एवं निर्धारित होते हैं।

आधुनिक युग में राज्य सम्प्रभुता सम्पन्न राज्य है जिसकी आदर्श शासन व्यवस्था किसी न किसी प्रतिनिधिमूलक संस्था द्वारा संचालित होती है। प्रतिनिध्यात्मकता लोकतंत्रीय प्रणालियों का आधार है। यह इसकी प्राणवायु का कार्य करती है। आज तो अलोकतंत्रीय शासनों में जहाँ सत्ता बलात् हथिया ली जाती है, प्रतिनिधिमूलक संस्थाएं किसी न किसी रूप में विद्यमान हैं। वर्तमान में ये राजनीतिक दल और समाज विभिन्न सरकारी संस्थाओं को जोड़ने वाली कड़ी के रूप में काम करते हैं। भले ही कम

विकसित देशों में जन समर्थन के आधार पर सत्ता के लिए प्रतियोगिता में इन दलों की उपस्थिति का अहसास कम हो। भारत इस मामले में एक अपवाद है। तमाम उतार-चढ़ाव के बावजूद पिछले पाँच दशकों में तेरह आम चुनाव हो चुके हैं और संसदीय व्यवस्था विकासमान है। संसदीय लोकतंत्र को बचाने और बनाये रखने में दलीय व्यवस्था की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। इस इकाई में हम दलीय व्यवस्था में परिवर्तनों एवं उनके विकास के कारणों की चर्चा करेंगे।

11.2 राजनीतिक दलों की परिभाषा : अर्थ एवं प्रकृति अथवा स्वरूप

प्रतिनिधिमूलक सरकारों तथा उनकी संस्थाओं के लिए राजनीतिक दलों का अस्तित्व आवश्यक है। साधारण बोल-चाल की भाषा में व्यक्तियों के ऐसे समूह को, जो एक सामान्य उद्देश्य के लिए बनाया जाता है, उसे समुदाय या संगठन कहते हैं। समाज में इस प्रकार के संगठन आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक व्यापारिक सभी क्षेत्रों में पाये जाते हैं। जब राजनीतिक क्षेत्र में ऐसा संगठन बनता है या कार्य करता है तो उसे राजनीतिक दल कहते हैं जिनका राजनीतिक उद्देश्य एक समान होता है। वे अपने विचारों का जनता में प्रचार करके अपने पक्ष में जनमत जगाना चाहते हैं और अपने विचारानुसार सरकार का गठन करके उसे चलाते हैं। इस प्रकार राजनीतिक दल एक राजनीतिक संगठन है, जिसका उद्देश्य सरकार बनाकर शासन का संचालन करना है। इस प्रकार दलीय व्यवस्था एक बृहत्तर राजनीतिक व्यवस्था की ही एक अंग होती है।

राजनीतिक दलों को अनेक प्रकार से परिभाषित किया गया है। यह जनता का ऐसा संगठित समूह है जो देश के राजनीतिक जीवन में कुछ निश्चित उद्देश्यों एवं नीतियों के लिए प्रतिबद्ध होता है। और इन सिद्धान्तों तथा नीतियों के क्रियान्वयन द्वारा सम्पूर्ण देश के हितों को बढ़ावा देने का प्रयास करता है। एडमण्ड बर्क[1] ने राजनीतिक दल के विषय में कहा कि वह मनुष्यों का संगठन है जो अपने संयुक्त प्रयास से विशेष सिद्धान्तों, जिनसे वे सब सहमत होते हैं, के अनुरूप राष्ट्रीय हितों के विकास के लिए एकता के सूत्र में बँधे होते हैं। मैकाइवर ने राजनीतिक दल को मनुष्यों का ऐसा समूह माना है जिसका संगठन किसी विशेष सिद्धान्त या नीति के समर्थन में हुआ है, जो संवैधानिक उपायों द्वारा इसे सरकार का आधार बनाने का प्रयत्न करता है। गिलक्राईस्ट ने भी राजनीतिक दल को ऐसे व्यक्तियों का समुदाय माना है जिसके सदस्यों के राजनीतिक विचार एक से हों और वे एक राजनीतिक इकाई के रूप में सरकार को नियंत्रित करें।

रेने तथा केन्डल, राबर्ट सी0 बोन एवं जोसेफ ला पालोम्बारा ने राजनीतिक दल की कार्यात्मक-प्रकार्यात्मक परिभाषा देते हुए उसके व्यवहारवादी प्रकृति को उभारा है। रेने एवं वेण्डल[2] ने कहा कि राजनीतिक दल संगठित स्वायत्त समूह है जो सरकार की नीतियों एवं कर्मचारियों पर अन्ततः अपना नियंत्रण प्राप्त करने की आशा में चुनाव में उम्मीदवारों का नामांकन करते हैं और चुनाव लड़ते हैं। राबर्ट सी0 बोन[3] का मत है कि राजनीतिक दल की परिभाषा संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक आधार पर की जानी चाहिए। उनके अनुसार, "राजनीतिक दल व्यक्तियों का ऐसा संगठन है जो अपने उद्देश्यों को सरकार पर औपचारिक नियंत्रण प्राप्त करके समाज में मूल्यों के आधिकारिक वितरण में प्राथमिकता के प्रकरण (priority items) बनाने का प्रयत्न करता है।" इसी से मेलखाती परिभाषा ला पालोम्बारा ने भी दी है। उनका मत है कि, "राजनीतिक दल एक औपचारिक संगठन है जिसका स्वचेतन व प्रमुख उद्देश्य ऐसे व्यक्तियों को सार्वजनिक पदों पर पहुँचाना और उन पर बनाये रखना है जो अकेले या किसी से मिलकर शासनतंत्र पर नियंत्रण रखेंगे।" इन परिभाषाओं से न केवल उसके उद्देश्य, कार्य और दल की कार्यविधि का स्पष्टीकरण होता है, वरन राजनीतिक दल की संरचना का भी स्पष्टीकरण होता है।

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि–

1. राजनीतिक दल मनुष्यों का या जन-समुदाय का संगठन होता है।

2. यह समान विचारधारा वाले व्यक्तियों का संगठन है। जिसमें सामान्य विचारों या सिद्धान्तों पर सहमति होती है।

3. यह सोद्देश्यपूर्ण संगठन है, जिसका उद्देश्य राजनैतिक सत्ता प्राप्त करना तथा सत्ता में बने रहना है।

4. दल के सदस्य अपने सिद्धान्तों को दल की सहायता से शासन में प्रभावशाली बनाने हेतु निर्वाचन में भाग लेते हैं जिससे वह सत्ता ग्रहण कर सकें।

5. राजनीतिक दल द्वारा किसी विशेष जाति, धर्म या वर्ग के हित को दृष्टि में रखकर नहीं वरन सम्पूर्ण राष्ट्र के हित में कार्य किया जाना चाहिए।

(1) दल व्यवस्था का स्वरूप प्रकृति

राजनीतिक दलों की प्रकृति को समझने के लिये दलों का वर्गीकरण कई आधारों पर किया जाता है। वर्गीकरण की व्यावहारिक जटिलताओं को ध्यान में रखते हुए यह स्पष्ट है कि कोई भी एक आधार अपने में व्यापक एवं संतोषजनक नहीं है। किसी देश की दल प्रणाली को समझने के लिए इनके विभिन्न पहलुओं की जानकारी आवश्यक ही नहीं उपयोगी भी है। सामान्यतया हम इसे इन पाँच आधारों पर बाँटकर इसके स्वरूप को समझने का प्रयत्न करेंगे।

1. राजनीतिक व्यवस्था पर प्रभुत्व रखने वाले राजनीतिक दलों की संख्या के आधार पर, दलों का वर्गीकरण एकदल, प्रधान विचारधारा अभिमुखी राजनीतिक दल यथा साम्यवादी, फासिस्टवादी, नाजीवादी या निरंकुशवादी एकदलीय व्यवस्था वाले देश जैसे बर्मा, ईरान, कोरिया, इराक आदि देश एवं एकदल प्रधान व्यवस्था वाला देश जिसका सर्वप्रमुख उदाहरण 1989 से पूर्व भारत रहा है। द्विदलीय व्यवस्था वाले देश यथा ब्रिटेन, अमरीका, न्यूजीलैण्ड, आस्ट्रेलिया आदि, इसमें सत्ता की तुला पर दो दल ही प्रमुख होते हैं। और छोटे-छोटे अन्य दलों के होते हुए भी जनता के अधिकांश मतों पर इनका वर्चस्व होता है। तीसरे बहुदलीय व्यवस्था वाले देशों में फ्रान्स, जर्मनी, वर्तमान भारत आदि। इसमें अनेक राजनीतिक दलों का अस्तित्व होता है। जिनकी शक्ति कभी-कभी लगभग समान तो कभी असमान होती है किन्तु कोई भी दल इतना प्रभावशाली बनकर नहीं उभरता कि वह विधायिका में अकेले दम पर अपना बहुमत सिद्ध कर सके। अतएव इन राजनीतिक दलों को अन्य छोटे-छोटे दलों के साथ मिलकर साझा अथवा गठबन्धन के आधार पर सरकार का निर्माण करना पड़ता है जैसे पिछले दो चुनावों में भारतीय जनता पार्टी के नेतृत्व में पहले राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबन्धन तो वर्तमान में कांग्रेस के नेतृत्व में संयुक्त प्रजातांत्रिक गठबन्धन का उदाहरण हमारे ही देश का इसका सुन्दर नमूना है।

2. दलों को संरचना के प्रमुख लक्षणों के आधार पर वर्गीकरण : जैसे की प्रभावशाली (चमत्कारी) नेता प्रधानदल, विचारधारा प्रधानदल और हित प्रधानदल। इस प्रकार के अनेक उदाहरण नव-स्वतन्त्र राष्ट्रों में विशेषकर उनकी स्वतन्त्रता के विशेष चरण में जब दलीय व्यवस्था क़ी संरचना उभरकर सामने नहीं आयी थी, देखे जा सकते हैं, जैसे इण्डोनेशिया में सुकर्णो, मिस्र में नासिर, भारत में जवाहर लाल नेहरू, घाना में नेक्रुभा, तंजानिया में न्येरेरे आदि। किंतु विकसित दलीय व्यवस्था वाले देशों में भी कभी-कभी राजनीतिक अन्तर्दृष्टिवाला कोई विरला नेता अपने चमत्कारिक व्यक्तित्व के साथ उदित होता है और अपने समय की राजनीतिक व्यवस्था पर प्रभुत्व स्थापित कर लेता है जैसे फ्रान्स में डी गाल, अमरीका में फ्रैंकलीन रूजवेल्ट, पूर्व सोवियत संघ में लेनिन तथा चीन में माओ।

सिद्धान्त अभिमुख दल–यह ऐसा दल होता है जिसमें दल की विशिष्ट नीतियों का निर्माण तथा कार्यक्रम उसकी विचारधारा के अनुरूप निश्चित होता है। यह राजनीतिक की उस व्यावहारिक शैली के विपरीत है जिसमें लचीलापन एवं उदारता की प्रधानता रहती है। वामपंथियों के रूप में साम्यवादी दल तथा दक्षिण पंथियों के रूप में फासिस्टवादी दल इस सिद्धान्त अभिमुख दलों के उदाहरण हैं।

हित अभिमुख दल–हित-अभिमुख दलों को वास्तव में दबाव-समूह और गुट कहना चाहिए। वे विशिष्ट सामाजिक-आर्थिक हितों के संवर्द्धन एवं सुरक्षा के उद्देश्य पर आधारित होते हैं जैसे जाति समुदाय, कबीला, क्षेत्र या भाषा से संबंधित हित अथवा नागरिकों के किसी वर्ग-विशेष जैसे किसान, मजदूर, दुकानदार, उपभोक्ता इत्यादि के हित या इन सबके मिले-जुले हितों पर होते हैं।

3. विचारधाराओं के अनुसार दलों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जाता है–वामपंथी दक्षिणपंथी एवं मध्यपंथी। वामपंथी या दक्षिणपंथी कहलाने का आधार राजनीतिक व्यवस्था के प्रति उनका दृष्टिकोण होता है। पूर्वकाल की यूरोपीय व्यवस्थाओं में अधिक उदारवादी, लोकतांत्रिक और अभिनववादी सदस्य सदन की बाईं ओर और सत्तापक्ष वाले दाई ओर बैठते थे इसलिए राजनीति में वाम एवं दक्षिणपंथी शब्द प्रचलित हो गये। आगे चलकर उग्रक्रान्तिकारी दल जैसे समाजवादियों और साम्यवादियों के दलों को वामपंथी कहा जाने लगा। अनुदारवादियों, परंपरावादियों तथा प्रतिक्रियावादियों के दलों को दक्षिणपंथी कहा जाने लगा। क्रान्तिकारियों के विरोधस्वरूप उदारवादियों, विकासवादियों तथा गैर उग्रवादी प्रगतिशील वर्ग को मध्यपंथी दलों में सम्मिलित किया जाता है।

4. कई बार दलों के निर्माण का कारण मनोवैज्ञानिक भी हो सकता है। चार प्रकार के दल मानव स्वभाव के आधार पर देखने में आते हैं–प्रथम, वे जो प्राचीन संस्थाओं एवं रीति-रिवाजों में वापिस लौटना चाहते हैं, प्रतिक्रियावादी कहलायेंगे; दूसरे, वे जो वर्तमान में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं चाहते, अनुदारवादी, कहलायेंगे, तीसरे, वे जो वर्तमान परिस्थितियों में सुधार करना चाहते हैं, उदारवादी कहलायेंगे तथा चौथे, वे दल जो वर्तमान संस्थाओं का उन्मूलन करना चाहते हैं, उग्रवादी कहलायेंगे। इस प्रकार जैसा मानव-स्वभाव होगा वैसे ही प्रतिक्रियावादी, उदारवादी तथा उग्रवादी दल बन जायेंगे।

5. दलों का उनके भौगोलिक क्षेत्र में प्रभाव और राजनीतिक जनाधार के अनुसार भी वर्गीकरण किया जाता है। संघीय राजनीति के मामले में यह विशेष रूप से उपयोगी है। उन दलों को जिनका प्रभाव पूरे देश में होता है राष्ट्रीय या संघीय दल कहते हैं। उदाहरणार्थ भारत में उन्हें अखिल भारतीय दल भी कहते हैं। इस सूत्र के आधार पर कुछ दलों को बहु-क्षेत्रीय तथा कुछ को क्षेत्रीय या स्थानीय दल भी कहा जा सकता है।

6. दलों के निर्माण में धर्म एवं धर्मावलम्बी भी अपनी भूमिका निभाते हैं। इस आधार पर धर्म या सम्प्रदाय के अनुरूप दलों का निर्माण करते हैं। ये दल अपने धर्मावलम्बियों के बारे में ही सोचते हैं, अन्य के विषय में नहीं। भारत में हिन्दू महासभा, मुस्लिम लीग इसी प्रकार के दल हैं।

7. व्यक्तिगत हितों की पूर्ति वाले दल भी राजनीतिक व्यवस्था में पाये जाते हैं। मनुष्य स्वार्थी है, जब भी उसके अहम् या स्वार्थ को धक्का पहुँचता है, तभी वह नये दल के निर्माण की बात सोचता है और समर्थक मिल जायें तो बना भी लेता है। उदाहरण के लिए, भारत में चौ0 चरण सिंह द्वारा बनाया गया भारतीय क्रान्ति दल, भारतीय लोकदल, जनता पार्टी के घटक, बाबू जगजीवन राम की कांग्रेस-जे, श्री शरद पवार की कांग्रेस-एस आदि।

11.3 भारत में दलीय व्यवस्था का विकास

भारत में स्वतन्त्रता से पूर्व इने-गिने ही राजनीतिक दल थे और उनका सरकार में कोई विशेष प्रभाव न था। ये दल दबाव-समूह या गुट-समूह से अधिक न थे। इनका प्रयोग सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं के समाधान के लिए आन्दोलनों के रूप में ही होता था। स्वतन्त्रता आन्दोलन के समय 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में 1857 ई0 के विद्रोह के पश्चात सन् 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस नामक संस्था का जन्म हुआ लेकिन इसके पूर्व भारतीय जनमानस के प्रबुद्ध वर्ग में विचार अभिव्यक्ति, आर्थिक शोषण की समाप्ति, प्रतिनिधि सभा के गठन आदि के लिए राजनीतिक

गतिविधियाँ प्रारम्भ हुईं।

1850 में दादा भाई नौरोजी ने लंदन में 'ईस्ट इण्डिया एसोसिएशन' की स्थापना की, जिसका उद्देश्य भारतीय प्रश्नों पर ब्रिटिश लोकमत को प्रभावित करना था, जिसकी कुछ शाखाएं भारत में थीं। इससे पूर्व भी दो संगठनों 1938 में 'भू-पतियों की सभा' (Land Holders Society) तथा बंगाल-ब्रिटिश इण्डिया सोसाईटी की स्थापना हुयी। परन्तु ये संगठन अपने राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति में असफल ही रहे। अन्ततः 1851 में दोनों एक हुए और ब्रिटिश इण्डिया सोसाईटी' की स्थापना हुई। परन्तु ये संगठन केवल भू-पतियों के संरक्षक मात्र सिद्ध हुए। 1870 में पं० महागोविन्द रानाडे, गणेश वासुदेव जोशी आदि ने 'पूना सार्वजनिकसभा' की स्थापना की जिसका अस्तित्व 19वीं शती के अन्त तक बना रहा।

1874 के पूर्व बने संगठन की मूल कमी यह रही कि ये संगठन राजनीतिक विचारों की अभिव्यक्त करने व संगटित करने में बहुत सफल नहीं रहे। परन्तु 1875 में शिशिर कुमार घोष के नेतृत्व में बंगाल में इण्डिया लीग की स्थापना की गयी जिसका उद्देश्य नागरिकों में राष्ट्रवाद की भावना जागृत करना एवं राजनीतिक शिक्षा प्रदान करना था। परन्तु यह संगठन भी थोड़े ही काल तक जीवित रहा। 1876 ई0 में सुरेन्द्र नाथ बनर्जी और आनन्द मोहन बोस ने 'इण्डियन एसोसिएशन' की बंगाल में स्थापना की जिसका उद्देश्य (i) आन्दोलनों में जनता को सम्मिलित करना, (ii) सबल जनमत का निर्माण करना, (iii) राष्ट्रीय एकता पर बल देना था। इस संगठन ने 'इल्बर्ट बिल' पर भारत में असंतोष को बढ़ाया और बर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट तथा आर्म्स ऐक्ट की विरोध किया। 'इण्डियन एसोसिएशन' बंगाल में राजनीतिक आन्दोलनों का अग्रणी बना। 1885 ई0 में भारतीय हित में ब्रिटिश जनमत जागृत करने के उद्देश्य से राष्ट्रीय सभाओं का आयोजन किया गया परन्तु 1885 में कांग्रेस की स्थापना के साथ ही इसका महत्त्व शनैः-शनैः समाप्त होता गया।

'इण्डियन एसोसियेशन' की भाँति अनेक संगठनों के निर्माण का प्रयास बम्बई एवं मद्रास में किया गया। 1884 ई0 में विजय राधवाचार्य, सुब्रह्मण्यम अय्यर व आनद चार्लू ने 'मद्रास महाजन सभा', 1884 ई0 में 'थियोसोफिकल सम्मेलन' मद्रास में हुआ। 1885 ई0 में फीरोजशाह मेहता, काशीनाथ निम्बक तैलंग एवं बदरुद्दीन तैय्यबजी के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप बम्बई में 'प्रेसीडेन्सी एसोसिएशन' की स्थापना हुयी।

इस प्रकार 1885 ई0 भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुयी जिसे प्रारम्भ में राजनीतिक संगठन कम वरन् राष्ट्रवाद की उपज अधिक माना जा सकता है। प्रारम्भ में कांग्रेस का लक्ष्य छोटे स्तर के सुधार लाने तक सीमित रहा। धीरे-धीरे इसका आधार विस्तृत होने के साथ ही इसके नीतियों, कार्यक्रमों व लक्ष्यों में परिवर्तन होता गया और अंत में इस दल ने पूर्ण स्वराज्य की माँग की। समय-समय पर उदारवाद, उग्रवाद एवं स्वराज्यवादियों के विचार भी इसमें प्रकट हुए।

भारतीयों में राष्ट्रवाद के उदीयमान स्वरूप को लेकर ब्रिटिश साम्राज्यवादियों में चिन्ता एंव भय का संचार होने लगा और उन्होंने मुसलमानों को हिन्दुओं से पृथक करने हेतु उन्हें उकसाना प्रारम्भ किया, जिसके फलस्वरूप मुसलमानों द्वारा 'पृथक साम्प्रदायिक निर्वाचन क्षेत्रों' की माँग की जाने लगी और 1906 में 'अखिल भारतीय मुस्लिम लीग' की स्थापना हुयी। इसके प्रतिक्रिया स्वरूप 1916 में 'हिन्दू महासभा' की स्थापना हुयी।

इसी दौर में रूसी साम्यवादी क्रान्ति (1917) ने भारत में एम0 एन0 राय जैसे युवा नेताओं को प्रभावित किया, जिसके फलस्वरूप, 1924 ई0 में 'भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी' की स्थापना की गयी। जिसके प्रभावशाली नेताओं में मुजफ्फर अहमद, जोगलेकर, एस0 पी0 घाटे, सत्यभक्त, हसरत मोहानी, एस0 ए0 डांगे एवं शौकत उस्मानी आदि के नाम प्रमुख हैं। प्रारम्भ में इस दल ने कांग्रेस के साथ मिलकर कार्य किया, परन्तु यह स्थिति द्वितीय विश्वयुद्ध में सोवियत संघ के ब्रिटेन के सहयोगी बन जाने के कारण बदल गयी। साम्यवादी दल ने 1942 के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन में भागीदारी नहीं

निभाई।

राष्ट्रीय आन्दोलन में अग्रणी होने के कारण कांग्रेस को राजनीतिक विकास एवं स्थिति अनुकूलन के कम से कम तीन चरणों से होकर गुजरना पड़ा। प्रथम दो दशकों (1885 से 1904) तक कांग्रेस राजभक्त सुधारकों का एक केन्द्र स्थल था। बाद में यह बुद्धिजीवियों, वकीलों, डाक्टरों, समुदाय के नेताओं एवं जमींदारों का एक मंच (1905-1918) बना। इसके पश्चात इसने बहुवर्गीय जन आन्दोलन (1919-1947) का रूप धारण किया। इस दौरान इसमें अनेक छोटे बड़े घटकों का समावेश रहा। जिसमें 1934 से 1948 तक समाजवादी दल कांग्रेस की एक शाखा के रूप में कार्यरत थी, किन्तु कांग्रेस के उस प्रस्ताव के पश्चात कि उसके अन्दर कोई भी अन्य पार्टियाँ नहीं रहेंगी। समाजवादी दल ने कांग्रेस से पृथक होकर स्वतन्त्र दल के रूप में कार्य प्रारम्भ किया।

स्वतंत्र भारत की पहली राजनीतिक पार्टी जनसंघ की 1951 में स्थापना हुयी। इस दल के सिद्धान्त कांग्रेस व समाजवादी दलों के सिद्धान्त से अलग था। 1959 में एक स्वतन्त्र दल अस्तित्व में आया, जो पूँजीवाद का समर्थक दल कहा जाता है। इसी प्रकार 1949 में द्रविड़ मुनेत्र कड़गम, 1950 में भारतीय समाजवादी दल एवं किसान मजदूर पार्टी की स्थापना हुयी। इस प्रकार 1952 के पहले आम चुनाव में 14 दलों ने राष्ट्रीय स्तर पर एवं 51 दलों ने प्रादेशिक स्तर पर चुनावों में हिस्सा लिया।

1962 से 1967 के बीच बहुत से दलों का एक-दूसरे से विलय हुआ, कुछ का विघटन हुआ। परिणामस्वरूप नये-नये दलों का भी उदय हुआ। इन दलों के अतिरिक्त विभिन्न प्रदेशों में प्रादेशिक राजनीतिक दलों की भी स्थापना हुयी, जैसे उत्तर प्रदेश में कृषक पार्टी, पंजाब में यूनियनिस्ट पार्टी, चेन्नई में जस्टिस पार्टी आदि इसके विशिष्ट उदाहरण हैं।

1969 में कांग्रेस का दो भागों में विभाजन हो गया। एक श्रीमती इन्दिरा गांधी के नेतृत्व में नयी कांग्रेस (इन्दिरा) के नाम से जानी जाती है तथा दूसरा संगठन कांग्रेस, जिसे पुरानी कांग्रेस कहा जाता था। 1971 के मध्यावधि चुनाव में इन्दिरा कांग्रेस ने लोकसभा की 518 सीटों में से 350 सीटें जीत लीं जबकि पुरानी कांग्रेस को 16 स्थानों में ही सब्र करना पड़ा। 1972 में सोशलिस्ट पार्टी एवं प्रजा सोशलिष्ट पार्टी पुनः एक हो गयीं और उसका नाम 'सोशलिस्ट पार्टी ऑफ इण्डिया' हो गया।

1973 में जनसंघ में आपसी फूट के कारण वरिष्ठ नेता बलराज मधोक ने 'राष्ट्रीय लोकतांत्रिक मोर्चा' नामक नये दल का निर्माण किया। इसी तरह कांग्रेस विभाजन के बाद पुनः एक नयी राजनीतिक घटना उस समय घटी जब चौ० चरण सिंह के नेतृत्व में कांग्रेस से विलग हुए एक घटक ने भारतीय लोकदल का गठन किया। इसमें अन्य छोटे-छोटे दलों ने आपसी मतभेद भुलाकर मिल गये थे जिसका उत्तर भारत में विशेष प्रभाव रहा।

1977 में देश के राजनीतिक परिदृश्य में एक नई क्रान्तिकारी राजनीतिक घटना ने उस समय की राजनीतिक दिशा में व्यापक बदलाव किया और प्रथम बार कांग्रेस की प्रभुता को चुनौती मिली। यह चुनौती जनता पार्टी के गठन के फलस्वरूप आयी और श्री मोरारजी देसाई के नेतृत्व में अखिल भारतीय स्तर पर गैर-कांग्रेसी सरकार का गठन हुआ। आपात्काल की विभीषिका को भुगतने के बाद जनता पार्टी की सरकार का गठन हुआ। चुनाव आयोग ने जनता पार्टी को राष्ट्रीय दल के रूप में मान्यता दे दी।

जनता पार्टी में विभाजन के फलस्वरूप 15 जुलाई 1979 को जनता पार्टी सरकार का पतन हो गया और अनेक दलों में विपक्ष के पुनः बँट जाने से 1980 के आम चुनावों में श्रीमती इंदिरा गाँधी के नेतृत्व में कांग्रेसी सरकार का पुनः गठन हुआ। इस दौरान राष्ट्रीय एवं प्रादेशिक स्तर पर अनेक दल आये और गये। 1984 में पुनः कांग्रेसी सरकार सत्ता में आयी क्योंकि इसी बीच श्रीमती गाँधी की हत्या से उपजे जनसंवेदना की लहर पर कांग्रेस दल ने श्री राजीव गाँधी के नेतृत्व में कांग्रेसी सरकार का गठन किया।

1989 का वर्ष भारतीय राजनीतिक परिदृश्य में व्यापक बदलाव का सूचक है। इसी वर्ष जहाँ श्री वी० पी० सिंह के नेतृत्व में जनता दल की सरकार का गठन हुआ वहीं उत्तर प्रदेश की राजनीति में राजनीतिक भूचाल के रूप में बहुजन समाजवादी पार्टी एवं समाजवादी दल श्री कांशीराम-मायावती जी एवं मुलायम सिंह के नेतृत्व में उभरकर सामने आये, आज जिसकी अनुगूँज अखिल भारतीय स्तर पर भी स्पष्ट रूप से सुनायी पड़ रही है। साथ ही भारतीय राजनीति में कांग्रेसी एकाधिकार की समाप्ति एवं अनेक दलों को मिलाकर संविद सरकारों का दौर स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। 1996, 1998 तथा 1999 एवं हाल ही में सम्पन्न आम चुनावों ने संविद सरकार के ऐसे नमूने पेश किए हैं जिनमें राष्ट्रीय दलों का एकाधिकार टूटा है और प्रादेशिक एवं क्षेत्रीय दलों की भूमिका स्पष्ट रूप से बढ़ती दिखाई पड़ती है। 1999 में भारतीय जनता दल के नेतृत्व में राष्ट्रीय जनतांत्रिक राज एवं वर्तमान में कांग्रेस दल के नेतृत्व में (संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन) की सरकारें गठबन्धन की राजनीति के प्रबल उदाहरण हैं। जिनसे एकदलीय एकाधिकार को चुनौती मिली है और भारतीय राजनीति में अस्थायित्व में स्थायित्व की नयी खोज के रूप में गठबन्धन की राजनीति की दृष्टि से छोटे-छोटे दलों का महत्त्व भी बढ़ा है।

11.4 भारत में दलीय व्यवस्था की विशेषताएं

दल व्यवस्था विस्तृत राजनीतिक व्यवस्था का ही एक भाग है। यह इसकी उपव्यवस्था है और इसके कार्य संचालन को शक्ति प्रदान करती है। किसी देश की दल व्यवस्था केवल उसकी राजनीतिक परिवेश से ही नहीं प्रभावित होती बल्कि उस देश के इतिहास, संस्कृति, भूगोल एवं अर्थव्यवस्था से भी प्रभावित होती है। इस अन्तर्क्रिया के फलस्वरूप में विभिन्न दलों का विकास होता है। भारत की दलीय व्यवस्था की विशेषताओं का अययन इसके स्वरूप निर्धारण की दृष्टि से करना हमारे लिए महत्त्वपूर्ण होगा। ये विशेषताएं निम्नलिखित हैं–

(1) बहुदलीय व्यवस्था–भारत में बहुदलीय व्यवस्था को अपनाया गया है जिससे इसके संघीय स्वरूप एवं विशाल जनसंख्या की स्वाभाविक भागीदारी सुनिश्चित की जा सके। निर्वाचन आयोग ने चुनाव में 3% मत प्राप्त करने वाले राजनीतिक दलों को अखिल भारतीय स्तर पर मान्यता देने का नियम बनाया, जो चौथे आम चुनाव के बाद बदलकर 4% का नियम बनाया गया। 1952 के आम चुनाव के समय 14 राष्ट्रीय दल एवं 60 दलों को राज्य स्तर की मान्यता दी जो 1999 के चुनावों में घटकर 6 राष्ट्रीय दल और 48 राज्य स्तर के दल रह गये थे।

(2) एकदलीय प्रधानता–चतुर्थ आम चुनाव के पूर्व मॉरिस जोन्स ने भारत की दलीय व्यवस्था को 'एक दल की प्रधानता वाली बहु-दलीय पद्धति' कहा था। यह इण्डियन नेशनल कांग्रेस के चारों ओर चक्कर लगाती रही है। ऐसा संभवतः (a) इसके स्वतंत्रता आन्दोलन में अग्रणी भूमिका का एवं (b) इसके किसी विचारधारा विशेष, जाति विशेष, वर्ग-विशेष से जुड़े न होकर राष्ट्रव्यापी चरित्र के कारण था। 1967-70 के दौरान अवश्य कुछ राज्यों में मिली-जुली सरकारें बनीं परन्तु केन्द्र में कांग्रेस की सरकार ही बनी रही। 1971-77 तक का काल कांग्रेसी एकाधिकार का रहा यद्यपि इस दौर में आपातकाल के कारण इसे जनता पार्टी द्वारा थोड़े समय के लिए चुनौती मिली थी। परन्तु 1980 से 1989 तक कांग्रेस पुनः सत्ता पर कायम रही। 1989 के आम चुनावों में कांग्रेस की यह एकाधिकारिता टूटी। कांग्रेस 1991 से 1996 तक पुनः सत्ता में आयी परन्तु इसके पश्चात् गठबन्धनों का दौर चल पड़ा और किसी एक दल ने पूर्ण बहुमत नहीं पाया। हाल ही में सम्पन्न चुनावों में कांग्रेस के नेतृत्व में केन्द्र में सत्ता पुनः इस दल के पास आयी परन्तु (सं०प्र०ग०) गठबन्धन के रूप में।

(3) दलीय राजनीति में वैयक्तिक करिश्मा एवं नेतृत्व के लक्षण–भारतीय राजनीतिक दलों पर करिश्माई नेतृत्व का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। प्रारम्भ में कांग्रेस में जवाहर लाल नेहरू, इन्दिरा गाँधी, राजीव गाँधी एवं अब श्रीमती सोनिया गाँधी, और राहुल का प्रभाव भी इस तथ्य की ओर ही

इंगित करता है कि कांग्रेस पार्टी दल पारिवारिक विरासत के प्रभाव से अभी भी अछूती नहीं रही। अनेक क्षेत्रीय दल तो इन तथ्यों के जीवित उदाहरण हैं। तमिलनाडु में डी0 एम0 के0 के उदय को अन्नादोराई से अलग नहीं देखा जा सकता तो पश्चिम बंगाल एवं केरल में कम्युनिष्ट पार्टी की शक्ति को ज्योति बसु एवं ई0 एम0 एस0 नम्बूदरीपाद, वहीं उ0 प्र0 में समाजवादी दल एवं बहुजन समाजवादी दल मुलायम सिंह यादव एवं सुश्री मायावती-कांशीराम के इर्द-गिर्द घूमती नजर आती है और इनकी सफलता इन नेताओं की लोकप्रियता के सन्दर्भ में ही समझी जा सकती है।

(4) राजनीतिक दलों में विभाजन एवं विघटन की प्रवृत्ति–भारत में सभी राजनीतिक दल विभाजन एवं विघटन की प्रवृत्ति के शिकार रहे। कांग्रेस से 1951 में ही कृपलानी गुट अलग हो गया। 1969 में कांग्रेस दो भागों कांग्रेस (एस0) एवं कांग्रेस (सत्ता), 1977 में सर्वश्री जगजीवनराम, बहुगुणा आदि के नेतृत्व में अलग गुट कांग्रेस फॉर डेमोक्रेसी, 1978 ब्रह्मानन्द रेड्डी के नेतृत्व में, देवराज अर्स आदि के नेतृत्व में अलग गुट बनते रहे और समय के साथ अपनी लोकप्रियता खोते रहे। समाजवादी तो कांग्रेस से 1948 में ही अलग हो गये थे और आगे चलकर स्वयं भी संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी एवं प्रजातांत्रिक सोशलिस्ट पार्टी में विभाजित हो गये।

साम्यवादी दल का गठन 1924 में हुआ। 1964 में इससे एक गुट सी0पी0आई0 (मार्क्सवादी) अलग हुआ। 1969 में मार्क्सवादी समाजवादी दल से सी0 पी0 आई0 (एम0 एल0) का जन्म हुआ जो आगे चलकर चारु मजूमदार एवं नागारेड्डी गुटों में बँट गया।

1977 में गठित जनता पार्टी 1980 के मध्य तक चार दलों में विभाजित हो चुकी थी जनता पार्टी (जे0 पी0), भारतीय जनता पार्टी, जनता एस (चौ0 चरण सिंह) और जनता (एस) राजनारायण। प्रायः यह तत्त्व भारतीय राजनीतिक दलों में राज्य स्तरीय दलों में भी प्रभावी रहा। इस कारण भारतीय राजनीतिक व्यवस्था अस्थिरता की शिकार होती रही है। इस कारण भारतीय राजनीति में अवसरवादिता की प्रवृत्ति प्रारम्भ से ही देखी जा सकती है।

5. संगठित विरोधी दल का अभाव–भारत में बहुदलीय व्यवस्था के कारण सदैव एक संगठित विरोधी दल का अभाव रहा है। जब-जब चुनाव समीप आते हैं विभिन्न दल चुनाव में गठजोड़ करते हैं और पुनः अपने निहित स्वार्थों के कारण टूट जाते हैं। 1952 से 1977 तक सशक्त विरोधी दल का अभाव रहा। इसके बाद भी इसमें एकता का अभाव स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। इसी कारण मॉरिस जोन्स का मानना था कि भारत में विरोधी दलों में सहयोग कम और टूट-फूट की प्रवृत्ति अधिक दिखाई पड़ती है और दलों के अग्रगामी नेता अपनी पहचान को बनाये रखने एवं छोटे-छोटे दलों के नेतृत्व में विश्वास रखते प्रतीत होते हैं, किसी बड़े समूह में मिलना नहीं चाहते।

6. साम्प्रदायिकता व जातिवाद का प्रभाव–भारतीय दल प्रणाली का एक विशेष लक्षण इसके साम्प्रदायिक स्वरूप को लेकर भी रहा हैं। चुनावों के साथ दल के उम्मीदवारों का चयन राजनीतिक पार्टियाँ इस आधार पर करती हैं कि अमुक चुनाव क्षेत्र में हिन्दुओं, मुसलमानों और अनुसूचित जाति की जनसंख्या का क्या अनुपात है। इसके साथ ही प्रत्याशी किस जाति विशेष अथवा समुदाय विशेष से संबंधित प्रभावशाली मत खींचने वाला (Vote Catcher) है उसे दल अपना प्रत्याशी बनाता है। दल अपना वोट बैंक बनाने हेतु जाति एवं समुदाय को आधार बनाते हैं। जिससे भारतीय राजनीति में अनेक प्रकार की विकृतियाँ उजागर हो गयी है।

(7) क्षेत्रीय आधार पर दलों के निर्माण की प्रवृत्ति–भारत में बहुत से प्रादेशिक दल विकसित हो गये हैं। वे दल केवल अपने-अपने प्रदेश अथवा क्षेत्र विशेष के हितों के विषय में विचार करते हैं। पंजाब में अकाली दल, तमिलनाडु में डी0 एम0 के0 एवं अन्ना डी0 एम0 के0, आन्ध्र प्रदेश में तेलगु-देशम, जम्मू-काश्मीर में नेशनल कान्फ्रेन्स, गोवा में उदारवादी गोमान्तक पार्टी, असम में असम गण परिषद, सिक्किम में सिक्किम संग्राम परिषद एवं उत्तर प्रदेश में अनेक क्षेत्रीय दल जिन्होंने क्षेत्रीय अस्थिरता एवं पहचान विकास की उन्होंने कभी उत्तराखण्ड तो कभी बुन्देलखण्ड और वर्तमान में अजीत

सिंह द्वारा हरित प्रदेश की माँग इसके प्रमुख उदाहरण हैं। क्षेत्रीय दल चाहते हैं कि दलों को अपने-अपने अपने कार्य-क्षेत्र में स्वायत्त बनाया जाय और अनेक बार तो ये दल अलगाववाद की माँग भी कर बैठते हैं एवं राष्ट्र की मुख्य धारा से कट से जाते हैं।

11.5 राजनीतिक दलों की महत्ता

लोकतंत्रीय शासन के लिए राजनीतिक दल अपरिहार्य हैं। वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था के निर्माण में इनका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान हैं। मेरियम अनुसार इनके पाँच महत्त्वपूर्ण कार्य हैं–(1) पदाधिकारियों का चुनाव करना, (2) नीति निर्धारण करना जिसमें जनता की राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक समस्याओं को हल करने पर बल, (3) शासन का संचालन तथा उसकी रचनात्मक आलोचना, (4) राजनीतिक प्रचार एवं शिक्षण, (5) व्यक्ति और शासन के मध्य सेतु का कार्य करना जिससे जनाकांक्षाओं की पूर्ति की जा सके।

भारतीय राजनीतिक दल व्यवस्था के लोकतंत्रीय स्वरूप को बनाये रखने में इस राजमीतिक दलों का. स्पष्ट योगदान है ये दल मुख्य रूप से–

(1) राजनीतिक जनजागरण लाकर जनमानस को राजनीतिक प्रक्रिया में भागीदारी हेतु मंच प्रदान करते हैं।

(2) लोकमत का निर्माण करते हैं जिससे इनमें राजनीतिक चेतना का प्रसार होता है।

(3) शासन को क्रान्ति के कुठाराघात से बचाते हैं क्योंकि वाद-विवाद एवं विचार-विमर्श का प्रचुर अवसर प्रदान करते हैं।

(4) निर्वाचन जो लोकतंत्र की प्राणवायु है, को सरल बनाते हैं जनसहभागिता एवं जन शिक्षण की भूमिका का निर्वहन करते हैं।

(5) शासन के संचालन में भूमिका निभाते हैं तो विपक्ष की हैसियत से रचनात्मक विरोध भी प्रकट करते हैं और शासन की निरंकुशता पर रोक लगाते हैं।

(6) सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक समस्याओं पर अपने कार्यक्रम पेश करते हैं और जनता को सहयोग प्राप्त कर इसके समाधान के उपाय करने का प्रयास करते हैं।

परन्तु कभी-कभी इन राजनीतिक दलों में आपसी टकराव एवं अहम् के कारण परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ जन्म ले लेती हैं और ये दल

(1) जाने अथवा अनजाने में जनता में द्वेष एवं कटुता उत्पन्न करने लग जाते हैं।

(2) देश की एकता पर ही क्षेत्रीयता, भाषायी अथवा अलगाववादी माँगों द्वारा कुठाराघात करने लगते हैं।

(3) सर्वोत्तम व्यक्ति के विकास के स्थान व्यक्तिपूजा एवं करिश्मा पर आश्रित होते हैं।

(4) वैयक्तिक स्वतन्त्रता का हनन कर अधिनायकत्व को बढ़ावा देने लगते हैं एवं विरोधी दलों एवं उनकी आवाज़ को कुचलने लगते हैं। जैसा आपातकाल के समय में हुआ।

(5) गुटबन्दी के शिकार हो जाते हैं और देशभक्ति का भाव पीछे छूट जाता है।

(6) दलबन्दी से भ्रष्टाचार जन्म लेती है जो हमारी व्यवस्था को ही दीमक की तरह चाट डालती है।

11.6 सारांश

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था विश्व के नवस्वतन्त्र देशों में सर्वाधिक स्थायी एवं विकासशील संघात्मक

व्यवस्था है। इसका राष्ट्रीय आन्दोलन क्षेत्रीय आवश्यकताओं और दबावों के बीच सामंजस्य स्थापित करने में एक सक्षम केन्द्रीय सरकार की माँग करता रहा है। उसी के फलस्वरूप भारत में संघीय व्यवस्था का जन्म हुआ। भारत की समकालीन राजनीति के मुख्य कार्यों और नीतियों को देखने से स्पष्ट है कि वर्तमान राजनीति वास्तव में पुनिर्निर्माण की राजनीति है, आधुनिकीकरण की राजनीति है, राष्ट्रीय एकता एवं विकास की राजनीतिक है। इस प्रसंग में भारतीय दल व्यवस्था सामाजिक, आर्थिक परिवर्तन के लिए एक राजनीतिक माध्यम का कार्य करतीं है। राजनीतिक दल जनसाधारण को केवल चुनावी राजनीति में भाग लेने या विधायिका में विजयी बनाने के लिए संगठित नहीं करते बल्कि उससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण कार्यों जैसे राष्ट्र निर्माण, राज्य व्यवस्था के संचालन, नागरिक भावना निर्माण तथा लोकतांत्रिक परिवेश के निर्माण जैसे कार्यों के लिए नागरिकों को जागरूक और प्रोत्साहित करते हैं।

भारत की दल प्रणाली निरन्तर विकास का परिणाम है। आज, यानि 2005 तक भारत में दलीय व्यवस्था एक दलीय प्रभुता की दलीय व्यवस्था से चलकर एक लंबा सफर तय कर चुकी है। सातवें दशक के बाद केन्द्र अथवा राज्य सरकार के स्तर पर ज्यादातर चुनावों के बाद सरकारें बदली हैं। आज विचारधारा और संगठन के स्तर पर कांग्रेस में इतनी शक्ति नहीं बची है कि वह अपनी एकदलीय प्रभुत्व बनाए रख सके। वहीं साथ में कोई दूसरा राजनीतिक दल भी अकेले अपना सरकार बनाये रखने की स्थिति में नहीं है। परिणामस्वरूप आज भारतीय राजनीतिक व्यवस्था का बहुदलीय स्वरूप बहुध्रुवीय है जिसमें एक बड़ा राजनीतिक दल अनेक दलों के सहयोग एवं गठजोड़ से ही शासन सत्ता के संचालन में समर्थ हो पा रहा है। मौजूदा दौर दो राष्ट्रीय दलों भारतीय जनता पार्टी एवं कांग्रेस के अलावा कई छोटे बड़े दलों की मौजूदगी का दौर है। लगता नहीं है कि आने वाले दिनों में इस बहुदलीय व्यवस्था में कोई महत्त्वपूर्ण बदलाव आने वाला है।

11.7 उपयोगी पुस्तकें

1. Edmund Buarke, Thoughts on the Causes of Present Discontents : Works, Vol. I, P. 530
2. Austine Ranney and Willmore Kendall, Democracy and the Amarican Party system, New York, Harcourt, 1956, p. 85.
3. Joseph La Palombara, Politics within Nations NewYark, Prentice Hall, Inc., 1974, P. 509
4. Joseph Lal Palombara and Myron Weiner (Eds.) Political Parties and Policical Development, Princton, New Jersey, Princton University Press, 1966.
5. Samuel J. Elderveld, Political Parties : A Behavioural Analysis Chicago, Rand Mcnally, 1964.
6. S. M. Lipset and CRokkan (Eds.) Party System and Voter Alignment, New Yark, Free Press, 1967.
7. Harry Eckstein, Political Parties : Party System. In S. Newmann (Ed.) Modern Political Parties, Chicago, University of Chicago Press, 1956.
8. Alan S. Ball, Modern Politics and Government, London, Macmillan, 1977.
9. Maurice Durvergr, Political Parties (2nd Ed.) London, Methuen, 1959.
10. सी० बी० गेना, तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीतिक संस्थाएँ, विकास पब्लिशिंग हाऊस प्रा० लि० दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई।

11. ओमप्रिया श्रीवास्तव, भारतीय संविधान, शासन और राजनीति – राजनीतिक व्यवस्था की विवेचना। सेन्ट्रल पब्लिसिंग हाउस, इलाहाबाद 1996।

12. डा0 एस0 सी0 सिंहल, भारतीय शासन एवं राजनीति, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा, 2004।

11.8 सम्बन्धित प्रश्न

(a) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. राजनीतिक दल के अर्थ की संक्षिप्त व्याख्या करें।
2. दलीय व्यवस्था का स्वरूप समझायें।
3. दलीय व्यवस्था के सिद्धान्तों का विवेचन कीजिये।
4. भारत में दलीय व्यवस्था के विकास पर प्रकाश डालें।

(b) लघ उत्तरीय प्रश्न

1. राजनीतिक दल के अथ को संक्षेप में समझाएँ।
2. दलीय व्यवस्था का स्वरुप समझाएँ।
3. भारत में दलीय व्यवस्था की पाँच विशेषताएं लिखें।
4. भारत में दलीय व्यवस्था के विकास पर प्रकाश डालें।
5. राजनीतिक दलों की महत्ता का विवेचन कीजिए।

(c) वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना कब हुई?
   - (a) 1924
   - (b) 1985
   - (c) 1885
   - (d) 1889
2. भारत में दलीय व्यवस्था का प्रारम्भिक दौर था–
   - (a) एकदलीय प्रभुत्व का
   - (b) द्विदलीय
   - (c) बहुदलीय
   - (d) मिश्रित दलों का
3. वर्तमान में भारतीय राजनीतिक दलों की कौन-सी विशेषता नहीं है?
   - (a) बहुदलीय व्यवस्था
   - (b) एक राजनीतिक दल की प्रधानता
   - (c) संगठित विरोधी दल का अभाव
   - (d) सत्ता लोलुपता

4. 'एकदलीय आधिपत्य' का अन्त कौन से लोकसभा चुनाव में हुआ?

(a) 1989

(b) 1998

(c) 1999

(d) इनमें से कोई नहीं

5. अखिल भारतीय मुस्लिम लीग की स्थापना किस वर्ष हुयी थी?

(a) 1890 में

(b) 1886 में

(c) 1906 में

(d) 1916 में।

11.9 प्रश्नोत्तर

1. (b)
2. (a)
3. (b)
4. (a)
5. (c)

इकाई–12 राष्ट्रीय दल एवं क्षेत्रीय दल

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 राष्ट्रीय दल

12.2.1 भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस या कांग्रेस (इ)

12.2.2 भारतीय जनता पार्टी

12.2.3 भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी

12.2.4 भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी)

12.2.5 जनता दल / जनतापार्टी / जनता पार्टी (सेक्युलर)

12.3 क्षेत्रीय दल

12.4 भारत में क्षेत्रीय दलों की भूमिका एवं वर्तमान प्रवृत्तियां

12.5 सारांश

12.6 उपयोगी पुस्तकें

12.7 सम्बन्धित प्रश्न

12.8 प्रश्नोत्तर

12.0 उद्देश्य

इस इकाई में राष्ट्रीय राजनीतिक दलों एवं क्षेत्रीय राजनीतिक दलों के विभिन्न पहलुओं पर विचार किया गया है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- अखिल भारतीय स्तर के दलों के निर्माण के आधार की विवेचना कर सकेंगे,
- राजनीति दलों के विकास, सामाजिक आधार, सिद्धान्तों एवं संगठनिक ढाँचों की व्याख्या कर सकेंगे,
- भारतीय राजनीतिक पार्टियों की भूमिका एवं कार्यों का विश्लेषण कर सकेंगे,
- क्षेत्रीय दलों की परिभाषा एवं ऐतिहासिक विकासक्रम का उल्लेख कर सकेंगे,
- प्रमुख क्षेत्रीय दलों की भूमिका के विषय में टिप्पणी कर सकेंगे,
- देश के राजनैतिक भविष्य में इन दलों की स्थिति एवं भूमिका की विवेचना कर सकेंगे।

12.1 प्रस्तावना

राजनीतिक दल किसी भी जनतांत्रिक पद्धति की पहली अनिवार्यता है। जो राज्य एवं जनता के बीच सीधा और महत्त्वपूर्ण संबंध स्थापित करते हैं और उनमें सहसम्बन्ध बनाये रखते हैं। राजनीतिक दल सामाजिक शक्ति एवं विद्वानों को राजनीतिक संस्थाओं से संयोजित करते हैं। जनता को अपने वोट एवं समर्थन हेतु संचारित करते हैं एवं विविध हितों एवं गुटों को नेतृत्व प्रदान करते हुये, उन्हें सरकार से जोड़ते हैं। जब राजनीतिक दल सत्ता में होते हैं तो वे सरकार का गठन करते हैं अन्यथा विरोधी

दल बनकर वे सरकारी नीतियों के विरुद्ध आन्दोलन संगठित करते हैं। इनका अपना एक सैद्धान्तिक दिशा-निर्देश होता है जो उनके सामाजिक-आर्थिक उद्देश्य निर्धारित करता है। ये अपने संगठनिक ढाँचे का सुगठित करके अपने कार्यक्रमों को लागू करते है। इस प्रकार ये दल समाज में विभिन्न वर्गों से समर्थन एवं सहयोग प्राप्त करते हैं।

भौगोलिक दृटि से भारतीय राजनीतिक दलों की दो श्रेणियाँ हैं–एक राष्ट्रीय दल या राष्ट्रव्यापी दल, दूसरे क्षेत्रीय दल जिनका प्रभाव क्षेत्र केवल एक-आध राज्य तक सीमित होता है। क्षेत्रीय दल मूलत क्षेत्रीय जनमानस एवं क्षेत्रीय समस्याओं को प्रतिबिम्बित करते हैं। इस कारण उनका जनाधार भी राज्य-विशेष तक ही सीमित रहता है। परन्तु राज्य की लोकसभा की सीटों से उनके प्रत्याशी जीतकर राष्ट्रीय राजनीति में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करते हैं जैसा कि पिछले चार चुनावों (1996, 1998, 1999 एवं 2004) में राष्ट्रीय स्तर पर सरकार के गठन में उनकी महत्त्वपूर्व भूमिका से स्पष्ट होता है, प्रदेश की राजनीति में तो वे पहले से ही प्रभावशाली रही हैं।

12.2 राष्ट्रीय दल

राजनीतिक दलों का पंजीकरण निर्वाचन आयोग करता है। वही इस बात को तय करता है कि कौन-कौन से दल राष्ट्रीय हैं अथवा क्षेत्रीय। पंजीकृत दलों को चुनावों में आरक्षित चिह्न निर्वाचन आयोग ही प्रदान करता है। 1952 के प्रथम आम चुनाव के समय 14 दलों को राष्ट्रीय दल एवं 50 से ऊपर दलों को राज्य स्तरीय दलों के रूप में मान्यता दी गयी थी। अब यह संख्या घटकर छह (राष्ट्रीय) एवं 48 (क्षेत्रीय दल) रह गयी है।

राष्ट्रीय दल के रूप में मान्यता प्राप्त करने के दो आधार (मानदण्ड) हैं--

(1) किसी भी राजनीतिक दल को निर्वाचन आयोग द्वारा कम से कम 4 राज्यों में मान्यता प्राप्त हो, या

(2) उसने लोकसभा के चुनाव में कुल पड़े मतों का कम से कम 4% प्राप्त किया हो।

राज्य स्तरीय दल के रूप में मान्यता प्राप्त करने के लिए निम्न मानदण्ड हैं–

(1) कोई दल जो लगातार पाँच वर्षों तक राजनीतिक क्रियाकलापों में भागीदारी कर रहा हो।

(2) लोकसभा के लिए उस राज्य में निर्वाचित 25 सदस्यों या उस संख्या के किसी भाग (Fraction) में उसका भी सदस्य हो।

(3) राज्य की विधानसभा में कम से कम 30 : 1 के अनुपात में उसके सदस्य हों।

12.2.1 भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस / कांग्रेस (ई)

गत सौ वर्षों से अधिक समय से कांग्रेस भारत के सभी राजनीतिक दलों में सब से प्रभावशाली दल रहा है। भारतीय राजनीति में अपनी महत्ता एवं विशिष्टता का निर्धारण उसकी उपलब्धियाँ व कमियाँ, इसकी दुर्बलताएँ व शक्ति, इसके गौरवमयी एवं दुखदायी क्षण इत्यादि ने मिलकर किया है और यह दल भारतीय राजनीतिक मंच का एक प्रमुख एवं अभिन्न अंग रहा है।

इसकी स्थापना श्री ए0 ओ0 ह्यूम ने की थी। प्रारम्भ में इसका उद्देश्य संवैधानिक सुधारों के लिए प्रयत्न करना था, परन्तु 1929 में दल का उद्देश्य पूर्ण स्वराज्य हो गया। इसका विकास अनेक चरणों में हुआ है–यह मंच से फोरम बनी, फोरम से आन्दोलन और स्वतन्त्रता के बाद एक राजनीतिक दल के रूप में गठित हुई। गाँधी जी इसे राजनीतिक दल बनाये जाने के पक्षधर न थे उन्होंने लिखा था कि मैं पूर्ण आश्वस्त हूँ कि कांग्रेस को पैवन्द लगाकर सही नहीं किया जा सकता। कांग्रेस के लिए यह सबसे अच्छा होगा कि वह स्वतः ही भंग हो जाय। उसका स्वैच्छिक समापन राजनीतिक वातावरण को सुदृढ़ एवं शुद्ध बनाएगा। इसने स्वतन्त्रता के साथ ही अपना महत्त्वपूर्ण कार्य पूर्ण कर लिया है और

अब समय आ गया है कि कांग्रेस अपना स्थान विशुद्ध रूप से राजनीतिक दलों को दे देवे। उसे अब अपने को 'लोक सेवक संघ' के रूप में परिवर्तित कर लेना चाहिए किन्तु पं0 जवाहर लाल नेहरू तथा कुछ अन्य नेताओं के विचार इससे भिन्न थे। उन्होंने इस पर बल दिया कि कांग्रेस ने भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में प्रमुख भूमिका निभाई अतएव इसके बिना संसदीय लोकतंत्र की स्थापना का कार्य अधूरा रह जायेगा। अन्ततोगत्वा इस विचार को मान लिया गया और स्वतन्त्रता पश्चात् कांग्रेस एक विशुद्ध राजनीतिक दल के रूप में प्रमुख एवं प्रभावशाली पार्टी के रूप में उभरी।

सन् 1948 में गाँधी जी और 1950 में सरदार पटेल की मृत्यु के पश्चात कांग्रेस पर पं0 जवाहर लाल नेहरू का एकक्षत्र नेतृत्व स्थापित हो गया। कांग्रेस ने 1955 में अवाड़ी अधिवेशन में समाजावदी ढाँचे के समाज की स्थापना को अपना लक्ष्य घोषित किया। 1958 में नागपुर अधिवेशन में सामूहिक कृषि का प्रस्ताव पारित किया। लाल बहादुर शास्त्री एवं श्रीमती इन्दिरा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस की समाजवादी दिशा बनी रही है। 1967 में कांग्रेस कार्य समिति ने 20 सूत्री कार्यक्रम को अपनाया जिसमें बैंकों के राष्ट्रीयकरण, आम बीमे का राष्ट्रीयकरण, खाद्यान्न में राज्य व्यापार, भूमि सुधार, पूर्व राजाओं के प्रिवी पर्सेज़ को समाप्त करना आदि बातें प्रमुख थीं।

आन्तरिक मतभेद के कारण 1969 में कांग्रेस दो गुटों में बँट गयी–सत्तापक्ष एवं संगठन कांग्रेस। प्रथम श्रीमती गाँधी के नेतृत्व में रही और 1971 में उन्होंने 'गरीबी हटाओ' का नारा दिया साथ ही भारत-पाक युद्ध में भी सफलता अर्जित की। इन कारणों से कांग्रेस (इ) को आगामी चुनावों में भारी सफलता प्राप्त हुई। वहीं दूसरा पक्ष जो निर्जालेंगप्पा एवम् कामराज के नेतृत्व में? (जिसे सिंडीकेट्स भी कहा गया) असफल रहा। विपक्षी दलों द्वारा किये विरोध और आगे चलकर 1975 में इलाहाबाद हाईकोर्ट द्वारा इन्दिराजी का चुनाव रद्द हो गया। जिसके फलस्वरूप इन्दिरा सरकार ने आपातकाल की घोषणा कर दी। 1977 में हुए चुनाव में विभिन्न दलों के विलय के फलस्वरूप बनी जनता पार्टी सत्ता में आयी और 1979 तक कांग्रेस सत्ता से बाहर रही। 1980 में पुनः कांग्रेस सत्ता में आयी और जनता पार्टी में बिखराव का दौर प्रारम्भ हो गया। 1984 में श्रीमती गाँधी की हत्या के बाद हुए चुनाव में राजीव गाँधी के नेतृत्व में पुनः कांग्रेस को सफलता मिली।

1989 तक कांग्रेस पार्टी का राजनीतिक सत्ता पर (1977 के चुनाव को छोड़कर) एकछत्र प्रभुत्व बना रहा। 1989 एवं 1991 में कांग्रेस दल ने लोकसभा में सबसे अधिक स्थान पाने के बाद भी बहुमत नहीं प्राप्त कर सकी। इस कारण 1989 में तो पुनः एक बार केन्द्र में गैर-कांग्रेसी सरकार राष्ट्रीय मोर्चा (National Front) के हाथों में चली गयी। परन्तु 1991 में कांग्रेस अल्पमत न होते हुए भी सरकार बनायी जो धीरे-धीरे अन्य दलों से दल-बदल कराकर बहुमत में आ गयी। पी0 वी0 नरसिंहमा राव के नेतृत्व में यह सरकार पूरे पाँच वर्ष (1991-1996) तक सत्तारूढ़ रही। इस दौरान एक के बाद एक घोटाले एवं कांडो का पर्दाफाश हुआ और स्वयं प्रधानमंत्री (झामुमो रिश्वत कांड, लखूभाई पटेल धोखाधड़ी का मामला, सेण्ट किट्स जालसाजी का मामला, यूरिया आयात घोटाला आदि) में अभियुक्त थे। 1996, 1998 एवं 1999 के चुनावों में कांग्रेस पार्टी को कोई विशेष सफलता नहीं मिली। इस दौरान इसकी यह सरकार जन-समर्थन का ग्राफ तेजी से नीचे गिरता गया। अभी हाल ही में 2004 के चुनावों में पुनः 'कांग्रेस पार्टी' ने सबसे बड़े दल के रूप में श्रीमती सोनिया गाँधी के सभापतित्व में विभिन्न दलों के साथ गठबन्धन (सं0प्र0ग0) सरकार का गठन किया है। देखिए टेबुल 1)

Table : All India Lok Sabha Results 2004

	Party	Seats Contested	Seats woue	Change from 1999	Vote (Percent)	Change From 1999
A.	Congress allies	535	222	69	36.53	–0.39
(i)	Congress (I)	414	145	31	26.44	–1.85

(ii)	RJD	28	24	17	2.39	–0.38
(iii)	NCP	22	9	2	1.78	–0.36
(iv)	DMK	16	16	4	1.81	.08
(v)	MDMK	4	4	0	0.43	–0.01
(vi)	PMK	6	6	1	0.56	0.10
B.	NDA	543	189	–89	35.88	–2.39
(i)	BJP	364	138	–44	22.16	–1.59
(ii)	TDP	33	5	–24	3.04	–0.61
(iii)	JD (U)	33	8	–13	1.94	–0.99
(iv)	BJD	12	11	1	1.30	0.10
(v)	AI ADMK	33	0	–10	2.39	0.27
(vi)	SAD	10	8	6	0.90	0.21
C.	Left	112	61	18	8.01	0.13
(1)	CPI	33	9	5	1.32	–0.16
(2)	CPI (M)	69	43	10	5.66	0.26
(3)	RSP	4	3	0	0.43	0.01
(4)	FBL	3	3	1	0.35	0.01
D.	BSP	435	19	5	5.33	1.16
E.	SP Allies	247	39	11	4.93	0.79
(i)	SP	237	36	10	4.31	0.53
(ii)	RLD	10	3	1	0.61	0.24

12.2.1 (क) सिद्धान्त, नीतियाँ एवं कार्यक्रम

कांग्रेल का 'वृहत् चरित्र' उसकी सबसे बड़ी विशेषता रही है। यह अपने में विभिन्न प्रकार की विरोधी प्रवृत्तियों को जिनमें विचारधारा, जाति, क्षेत्र तथा हित-समूहों को समेटे हुए है, किन्तु ये सभी अपने अस्तित्व की रक्षा, राजनीतिक शक्ति की महत्त्वाकांक्षा और प्रतिष्ठा के लिए देश की सबसे बड़ी पार्टी के अन्तर्गत एकताबद्ध रहते हैं। राजनीति में इसके लचीलेपन का लाभ उठाते हुए विभिन्न समूह वर्ग अपने निजी संकुचित उद्देश्यों की पूर्ति तथा राजनीतिक महत्त्वकांक्षा को ध्यान में रखते हुए इसकी दिशा एवं नीतियों के अपने हित में मोड़ने हेतु प्रयासरत रहते हैं। बहुवर्गीय, बहुक्षेत्रीय, परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों एवं अन्तर्जातीय तत्वों वाली कांग्रेस पार्टी की यह संरचना इसकी शक्ति भी रही है और कमजोरी भी। इसकी बढ़ती हुयी सदस्य संख्या ने इसके संगठन को शिथिल ही नहीं किया वरन् नीति निर्धारण करने की दिशा में इस व्यवस्थित भी किया।

स्वतन्त्रता के बाद प्रथम तीन दशकों में कांग्रेस लगातार केन्द्र में सत्तारूढ़ रही। कांग्रेस ने योजनाबद्ध विकास, मिश्रित अर्थव्यवस्था, जमींदारी उन्मूलन, सीमित राष्ट्रीयकरण सार्वजनिक उद्यमों की स्थापना के कार्यक्रम अपनाकर लोकतांत्रिक समाजवाद के लक्ष्य को पाने की दिशा में प्रयासरत रही। उसने समाज सुधार के अनेक कानून बनाकर हिन्दू समाज में कुरीतियों एवं बुराईयों को दूर करने का भी प्रयास किया। अस्पृश्यता उन्मूलन, दलितोत्थान जातिवाद पर कुठाराघात इस दिशा में अन्य उपाय थे। सामाजिक-आर्थिक, राजनीतिक परिवर्तन के प्रति जनजागरूकता लाने हेतु कानूनी एवं जनजागृति के उपाय किये। धर्म-निरपेक्षता पर बल दिया, समाजवादी लक्ष्यों को निर्धारित ही नहीं किया वरन् इस

दिशा में अनेक कार्यक्रम बीस-सूत्रीय आर्थिक कार्यक्रम, गरीबी हटाओ आदि के द्वारा वास्तविक रूप में प्राप्ति की दिशा में प्रयास भी किए। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में गुटनिरपेक्षता की नीति अपनायी।

इन नीतियों को प्रचुर सफलता भी प्राप्त हुयी परन्तु धर्मनिरपेक्षता एवं जातिवाद का विरोध मात्र एक राजनीतिक अस्त्र बन कर रह गयी हैं। धर्म निरपेक्षता की नीति व्यवहार में मुस्लिम मतों के बटोरने एवं जाति के अनुरुप टिकट एवं प्रत्याशियों के चयन के कारण जातिवाद घटने के स्थान पर इसकी प्रवृत्ति बढ़ती ही जा रही है। मुसलमान एवं विभिन्न जातियाँ एक 'वोट बैंक' में रूपान्तरित होती जा रही हैं। मुस्लिमों के प्रति तुष्टीकरण की नीति से देश का साम्प्रदायिक विभाजन होता जा रहा है और जातिवाद की राजनीति में तेजी से विस्तार होने के कारण विभिन्न छोटे-छोटे राजनीतिक दलों का गठन होता जा रहा है और भारतीय राजनीति में अस्थिरता का दौर प्रारम्भ हो गया है। इस कारण कांग्रेस का सामाजिक-राजनीतिक आधार भी कमजोर हुआ।

1977 से 1979 का काल गैर कांग्रेसी सरकार के नाम रहा। पुनः 1980 में सत्ता में कांग्रेस लौटी और 1989 तक कायम रही। परन्तु इस दौरान समाजवाद के प्रति उसकी आस्था में स्पष्ट रूप से कमी आयी। कांग्रेस पार्टी से दलित एवं मुस्लिम मतों का खिसकाव हुआ। 1989 में पुनः गैर कांग्रेसी सरकार का गठन हुआ, परन्तु 1991 में कांग्रेस पुनः सत्तासीन हुई (पूर्ण बहुमत से नहीं) 1991-1996 में कांग्रेस समाजवादी नीति से आर्थिक उदारीकरण की ओर उन्मुख हुयी जिसे आर्थिक सुधारों का नाम दिया गया और उदारीकरण अर्थात् अर्थव्यवस्था के निजीकरण एवं वैश्वीकरण (globlisation) की नीतियाँ एवं कार्यक्रम बनाये गये। 1996 एवं 1998 के चुनाव घोषणा-पत्र इसके प्रमाण हैं।

इस प्रकार कांग्रेस की मूल नीतियाँ धर्मनिरपेक्षता, गुटनिरपेक्षता एवं समाजवाद सभी एक-एक करके चुनावी घोषणापत्रों में ध्वस्त होते गये क्योंकि किसमें इनका उल्लेख तक नहीं किया गया। इनके विपरीत इनमें आर्थिक सुधारों को गति प्रदान करने के लिए वचनबद्धता दुहराई गयी। डिसइन्वेस्टमेण्ट, बिक्री और निजीकरण से होने वाली आय को सामाजिक क्षेत्र के साथ-साथ कर्ज उतारने के काम में लाये जाने पर बल दिया गया।

कांग्रेस पार्टी विगत 100 वर्षों से भी अधिक समय से सक्रिय है जो कि विश्व के सर्वाधिक पुराने राजनीतिक दलों में से एक है।

12.2.1 (ख) अन्य अखिल भारतीय दल

निर्वाचन आयोग ने दूसरे आम चुनाव (1957) के समय से अखिल भारतीय दलों की मान्यता के लिए कुछ शर्तें निर्धारित की थीं तभी से कांग्रेस के अतिरिक्त केवल दो ही दलों को निरन्तर अखिल भारतीय दलों के रूप में मान्यता मिल पाई है। वे दल हैं–वामपंथी कम्युनिस्ट पार्टी और दक्षिणपन्थी जनसंघ जो वर्तमान में भारतीय जनता पार्टी के रूप अखिल भारतीय राजनीति में सक्रिय है। सन् 1977 के पश्चात् जनता पार्टी तथा 1989 में जनता दल अखिल भारतीय दल के रूप में उभरकर आये।

12.2.2 भारतीय जनता पार्टी - भाजपा

भारतीय जनता पार्टी की स्थापना दिसम्बर 1980 में हुयी। यह भारतीय जनसंघ जिसकी स्थापना डा० श्यामा प्रसाद मुखर्जी की अध्यक्षता में 21 अक्टूबर, 1951 में हुयी थी, का एक संशोधित रूप है। भाजपा अपने अनुशासन, सुसंगठन तथा पारस्परिक सामाजिक सांस्कृतिक संगठनों (राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ आदि) से सम्बद्ध होने के कारण ही जनसंघ का ही परिवर्तित रूप है। राजनीतिक दृष्टिकोण और नीति निरूपण में थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ यह जनसंघ के सन्निकट है।

जनसंघ व्यक्तिगत सम्पत्ति को पवित्र मानता है। जिसका ध्येय प्रत्येक नागरिक को मकान तथा प्रत्येक हाथ में को काम देना है। कृषि क्षेत्र में यन्त्रीकरण और खाद्य पदार्थों में आत्मनिर्भरता के साथ ही

औद्योगिक विकास में इसका पूर्ण विश्वास है। सत्ता में आने के बाद इसका लक्ष्य नीति निर्देशक तत्वों को क्रियान्वित करना शिक्षा व्यवस्था में बदलाव लाना, जम्मू कश्मीर के अलग संविधान को समाप्त करना, सभी भारतीय भाषाओं के विकास, राष्ट्रमण्डल से सम्बन्ध विच्छेद, सेना के आधुनिकीकरण और सीमाओं की सुरक्षा पर बल देना है।

1952 के चुनाव में जनसंघ को लोकसभा में 3 स्थान और देश में कुल प्राप्त मतों का 3.1% प्राप्त हुआ जो निरन्तर बढ़ता रहा 1957 में 4 स्थान एवं 5.9%, 1962 में 14 स्थान एवं 6.4%, 1967 में 35 स्थान एवं 9.4% एवं 1971 में 22 स्थान एवं 7.4% मत प्राप्त हुआ। विधान सभा क्षेत्रों में बंगाल के अतिरिक्त उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मध्य भारत, विन्ध्य प्रदेश, दिल्ली आदि में इसे व्यापक जनसमर्थन मिला। 1977 में जनसंघ ने जनता पार्टी के अभिन्न भाग के रूप में चुनाव लड़ा था और यह जनता पार्टी में विलीन हो गया था परन्तु इसके सदस्यों के राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के साथ सम्बद्धता के कारण जनता पार्टी में उभरी दोहरी सदस्यता समाप्त किये जाने के विवाद एवं 1979 में जनता पार्टी के विघटन के बाद 1980 में एक 'नयी पार्टी' भारतीय जनता पार्टी (भाजपा) के रूप में अस्तित्व में आयी।

भारतीय जनता पार्टी का राजनीतिक उत्थान आश्चर्यजनक है। लोकसभा चुनावों में इसे प्राप्त मत एवं स्थानों में निरन्तर बढ़ोत्तरी के संकेत मिलते हैं। 1984 में 2 स्थान एवं 7.4% मत, 1989 में 85 स्थान एवं 11.4% मत, 1991 में 119 स्थान एवं 22.9% मत, 1996 में 161 स्थान एवं 20.3% मत, 1998 में 178 स्थान एवं 25.41% मत, 1999 में 182 स्थान एवं 23.7% मत प्राप्त हुए। हाल ही में सम्पन्न लोकसभा चुनावों में भाजपा ने 138 स्थान एवं 22.16 मत प्राप्त किया। इससे पूर्व हुए चार विधानसभा राजस्थान, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, एवं दिल्ली में हुए विधानसभा चुनावों में भाजपा ने प्रथम तीन राज्यों में अपनी जीत हासिल कर उन राज्यों में अपनी सरकार बनायी।

1996 में सर्वाधिक स्थान प्राप्त दल होने के कारण भाजपा को सरकार बनाने का अवसर प्रथम बार प्राप्त हुआ किन्तु लोकसभा में अपना बहुमत सिद्ध न कर पाने के कारण इसकी सरकार मात्र 13 दिन सत्ता में रही। दूसरी बार 1998 में भाजपा ने 10 दलों से मिलकर एवं अनेक छोटे दलों द्वारा बाह्य समर्थन से सरकार अपनी सरकार का गठन किया। जो लगभग 13 महीने चली। 1999 में मध्यावधि चुनाव हुआ क्योंकि विपक्ष वैकल्पिक सरकार का गठन न कर सकी। राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबन्धन का भाजपा एवं अन्य सहयोगी दलों ने मिलकर निर्माण किया एवं एक संयुक्त साझा कार्यक्रम के आधार पर चुनाव में सफलता अर्जित की। इस गठबन्धन ने 543 स्थानों में से 297 स्थान प्राप्त कर अटल बिहारी बाजपेयी के नेतृत्व में पुनः तीसरी बार सरकार का गठन किया। कांग्रेस द्वारा अभी तक गठबन्धन के यथार्थ को स्वीकार करने में होने वाले संकोच ने भाजपा को लाभ पहुँचाया। परन्तु हाल ही में सम्पन्न लोकसभा चुनावों में कांग्रेस ने भी अन्य दलों के सहयोग से सं0 प्र0 ग0 का गठन किया और भाजपा नेतृत्व के तहत गठित राजग के समक्ष चुनौती पेश की। कांग्रेस के नेतृत्व में सं0प्र0ग0 की सरकार गठित हुयी जिसे वाम दलों ने भी बाह्य समर्थन दिया। अब भारतीय दलीय राजनीति में गठबन्धन युग के दौर की यथार्थता की पहचान की स्पष्ट रूप से स्वीकार्यता है जिसने भारतीय राजनीति में अस्थिरता में स्थिरता की खोज की।

भाजपा का संगठन एवं कार्य

भाजपा सहित सभी दलों का संगठन लगभग कांग्रेस के समान है। अपने पूर्ववर्ती जनसंघ की तरह इसका समर्थन आधार मुख्यतः हिन्दी प्रदेश में ग्रामीण और नगरीय क्षेत्र के छोटे और मध्यम श्रेणी के व्यापारी और दुकानदार, पारम्परिक व्यावसायिक समुदाय के वैश्य तथा जैन और पारम्परिक राजनीतिक दृष्टिकोण में विश्वास रखने वाले मध्यम श्रेणी के व्यवसायी और नौकरी पेशा के कार्मिकों का भी जनसमूह है। वर्तमान में इसका प्रभाव क्षेत्र मध्य प्रदेश/राजस्थान, गुजरात, उत्तर प्रदेश एवं दिल्ली तथा दक्षिण भारत में केरल, कर्नाटक और आन्ध्र प्रदेश के कुछ क्षेत्रों में दिखायी दिया है।

इसकी विचारधारा, नीतियाँ एवं कार्यक्रम अपने पूर्ववर्ती जनसंघ की ही देन हैं। प्रारम्भ में भले ही इसका प्रभाव क्षेत्र व्यवसायियों, बुद्धिजीवियों, मध्यवर्गीय लोगों, कर्मचारियों आदि एवं नगरीय क्षेत्रों तक सीमित रहा है परन्तु आज धीरे-धीरे इसका प्रभाव ग्रामीण क्षेत्रों, पिछड़ी जातियों, अनुसूचित जातियों एवं महिलाओं में भी फैलने लगा है। 1980 में जनसंघ के जनता पार्टी से अलग हो जाने और भारतीय जनता पार्टी के रूप में पुनर्संगठित होने के पश्चात इसकी नीतियाँ अधिकाधिक लचीली होती गयी। इसकी विचारधारा के पाँच सिद्धान्त है जिसे उन्होंने "हमारे पाँच कर्त्तव्य" कहा है। पहला सिद्धान्त है–राष्ट्रवाद और राष्ट्रीय एकता। दूसरा, लोकतन्त्र के प्रति प्रतिबद्धता। तीसरा, सकारात्मक धर्म निरपेक्षता की नीति में विश्वास, जिसका अर्थ समान नैतिक मूल्यों को स्वीकार करना है, भले ही वे विभिन्न ऐतिहासिक, धार्मिक या मान्यताओं से लिए गए हों। चौथा, भाजपा की विचारधारा व्यापक अर्थों में 'गाँधीवादी समाजवाद (Gandhian Socialism) कही जा सकती है। रोटी, स्वतन्त्रता और रोजगार गाँधीवाद के मूल सिद्धान्त हैं। भाजपा इन सिद्धान्तों को विकास रणनीति का मूल आधार बनाएगी और उन पर राष्ट्रीय सहमति कायम करने का प्रयास करेगी। पाँचवाँ, 'भाजपा मूल्यों पर आधारित राजनीति के विकास का प्रयास करेगी और इस तरह वह सार्वजनिक जीवन में व्याप्त गंदगी (भ्रष्टाचार आदि) को दूर करने का प्रयास करेगी।

भाजपा ने अपने नीतियों एवं कार्यक्रमों को अपने चुनावी घोषणा-पत्रों द्वारा स्पष्ट किया है, 1996 के चुनावी घोषणापत्र में राम मन्दिर निर्माण, अनुच्छेद 370 के उन्मूलन और समान आचार संहिता लागू करने के अपने पूर्व के घोषणापत्रों को दोहराया। यद्यपि इसे भाजपा का 'हिन्दुत्व' का प्लेटफार्म कहा गया था। परन्तु इसमें अल्पसंख्यकों के हितों के पूर्ण संरक्षण का आश्वासन देते हुए तुष्टिकरण की नीति को नकारा गया क्योंकि, 'यह अल्पसंख्यकों के राष्ट्रीय मुख्यधारा में मिलने में बाधक रही है।' भाजपा का नारा है–सबके साथ न्याय, किसी का तुष्टीकरण नहीं (Justice for all, appeasement of none)। भाजपा का बल है 'हमारा एक राष्ट्र, एक समान एवं एक संस्कृति है। हम सामाजिक सामंजस्यता को प्रोत्साहन देने के लिए प्रतिबद्ध है न कि कलह को। हम प्रतिस्पर्धात्मक साम्प्रदायिकतावाद, तुष्टिकरण और जातिवाद की राजनीति को समाप्त करने हेतु कटिबद्ध हैं।

आर्थिक क्षेत्र में पार्टी आर्थिक विकेन्द्रीकरण एवं सारे देश में रोजगार गारण्टी योजना प्रारम्भ करने, उत्पादन एवं पूर्ति के कुशल प्रबन्धन द्वारा मूल्यों को स्थिर करने, हजारों छोटी-छोटी सिंचाई योजनाएँ प्रारम्भ करने तथा खेत में काम आने वाली वस्तुओं को सस्ते मूल्यों पर सुलभ कराने, सार्वजनिक क्षेत्र को उत्पादक एवं लाभ कमाने वाला बनाने, कराधान ढाँचे का सरलीकरण आर्थिक सुधारों को जारी रखने, अर्थव्यवस्था के वैश्वीकरण के साथ-साथ 'स्वदेशी' पर भी बल देती है। उसका मत है कि उपभोक्ता वस्तुओं में विदेशी कम्पनियों का प्रवेश हानिकारक एवं अनावश्यक है। आगे के चुनावी घोषणा-पत्रों में भी ये नीतियाँ दुहरायी गयीं। परन्तु 1998 में स्पष्ट बहुमत न मिल पाने के कारण भाजपा ने अन्य दलों के साझे एवं समर्थन से एक राष्ट्रीय कार्यक्रम पर सहमति के आधार पर सरकार का गठन किया। इस कार्यक्रम में "हिन्दुत्व विषयक" वे नीतियाँ शामिल नहीं की गयी थीं जिन पर सहयोगी दलों में मत वैभिन्यता थी। इस प्रकार व्यवहारिकता एवं कार्यसाधकता ने भाजपा के चरित्र को प्रभावित किया है। परिस्थितियों के अनुरूप भाजपा अपने आपको निरन्तर समायोजित करती रही है।

विदेश नीति के सम्बन्ध में भाजपा ने गुटनिरपेक्ष आन्दोलन को पुनः गतिशील बनाने, पड़ोसी देशों के साथ मैत्री और सहयोग के साथ ही भारत को नाभिकीय शक्ति बनाने की पक्षधर है और पिछली सरकार की दुविधा को समाप्त करने की घोषणा करती है।

12.2.3 भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी

साम्यवादी दलों का इतिहास

कांग्रेस के बाद भारत का सबसे पुराना दल साम्यवादी दल है। सन् 1917 की अक्टूबर क्रान्ति के पश्चात् समतावादी और शोषणविहीन समाज के आदर्श की पगध्वनि भारतीय साहित्य एवं कविताओं में

हुयी। इस क्रान्ति के एक सप्ताह के अन्दर तमिल कवि सुब्रह्मण्यम भारती संभवतः पहले भारतीय थे जिन्होंने साम्यवादी व मार्क्सवादी न होते हुए भी अक्तूबर क्रान्ति और उसके अग्रदूत का अभिवादन किया। आगे चलकर बंगला, तेलगु व हिन्दी के भी अनेक साहित्यकार एवं कवि इससे प्रभावित हुए। साम्राज्यवाद के विरोधस्वरूप इसका जन्म भारत में कांग्रेस के निकट सहयोग से हुआ। साम्यवादी बोल्शेविक आन्दोलन से बहुत प्रभावित रहे।

भारत में साम्यवादी दल की स्थापना 1924 में हुयी थी परन्तु इसकी औपचारिक स्थापना दिसंबर 1925 में की गयी और बम्बई मुख्यालय बनाया गया था। ब्रिटिश औपनिवेशिक सत्ता का प्रबल विरोधी होने के कारण ही इसे अवैध घोषित कर दिया गया था। इसके संविधान का स्वरूप 1931 में बना था जिसे 1933 में पार्टी के प्रथम अधिवेशन में स्वीकार कर लिया गया। 1934 में साम्यवादी दल ने कांग्रेस के वामपंथी अंग के रूप में कार्य करना प्रारम्भ किया जिसके परिणामस्वरूप उसे भी कांग्रेस के साथ अवैध घोषित कर दिया गया। जब सोवियत संघ के द्वितीय महायुद्ध में मित्र राष्ट्रों के साथ सहयोग देने का आह्वान किया गया तो इस पर से सारे प्रतिबन्ध उठा लिए गये। इस दौर में साम्यवादी दल की नीतियाँ कांग्रेस विरोधी होने के साथ-साथ राष्ट्रहित के विरुद्ध भी रहीं क्योंकि जब 1942 में कांग्रेस ने "भारत छोड़ो" आन्दोलन चलाया तो साम्यवादी दल ने उसका विरोध किया। 1946 में कांग्रेस के 'भारत-विभाजन' विरोध की इच्छा के विपरीत इसका समर्थन किया। 1946 में आम चुनावों में इसे भारी असफलता मिली।

स्वतन्त्र भारत में साम्यवादी दल सत्ता हस्तांतरण से आशंकित हुए और कहा कि यह स्वतंत्रता वास्तविक स्वतंत्रता नहीं थी। अपनी स्थिति सुदृढ़ बनाने के लिए सीधी कार्यवाही का मार्ग चुना। इससे प्रभावित होकर तेलगांना प्रदेश के कृषकों 1948 ई0 में वहाँ के भूपतियों और राज्य-अधिकारियों के विरुद्ध आन्दोलनरत हुए। आंशिक सफलता मिलने के बावजूद कांग्रेस पार्टी ने इसे देश के अहित में समझकर दबा दिया। 1952 में हुए चुनाव में साम्यवादी दल को 26 सीटें एवं 1957 में 27 स्थान लोकसभा में मिले। 1961 के विजयवाड़ा अधिवेशन के पश्चात साम्यवादी दल में फूट पड़ गयी, परन्तु 1962 का चुनाव दल ने इकट्ठा लड़ा और 29 स्थानों पर सफलता हासिल की। इनके मध्य मतभेद गहरे होते चले गये अन्त में वामपंथी (मार्क्सवादी) दक्षिणपंथियों से अलग हो गये। इनके मध्य मुख्य मतभेद था साम्यवाद लाने के तरीके पर वामपन्थी (मार्क्सवादी-समर्थक) क्रान्तिकारी ढंग से और दक्षिणपन्थी (मार्क्सवादी-समर्थक) संसदीय पद्धति अपनाकर। साम्यवादी दल से अलग हुआ घड़ा सी0पी0आई0 से सी0पी0आई0 (एस0) का जन्म हुआ।

12.2.3 (क) भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी

1964 में सी0पी0आई0 से सी0पी0आई0 (एम0) धड़ा अलग हो गया जबकि सी0पी0आई की बागडोर श्री एस0 एस0 डांगे, राजेश्वर राव एवं भूपेश गुप्त के हाथों रही। डाँगे सी0 पी0 आई0 को कांग्रेस के समीप रखने के पक्षधर थे। 1971 का चुनाव कांग्रेस के साथ मिलकर लड़े भी, परन्तु दल के भीतर 1997 में होने वाले आम चुनाव में डांगे की कांग्रेस समर्थक नीति को करारा झटका लगा क्योंकि इसके महासचिव साजेश्वर राव ने आपातकाल में कांग्रेस का समर्थन सर्वता गलत माना था। डांगे ने पार्टी के चेयरमैन एवं केन्द्रीय समिति पद से त्यागपत्र दे दिया अन्तगोगत्वा उन्हें भी 1981 में पार्टी से निकाल दिया गया। वर्तमान में इसके अनेक नेता एवं सदस्य मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य हो गये। दल के प्रभाव क्षेत्र एवं इनकी महत्ता में कमी आयी। 1967 एवं 1971 में लोकसभा में 23 स्थान पाने के बाद इसकी सफलता एवं लोकप्रियता में तेजी से कमी आयी। दल ने 1977 में 7 स्थान, 1980 में 11 स्थान, 1984 में 6 स्थान, 1989 में 12 स्थान, 1991 में 13 स्थान, 1996 में 12 स्थान, 1998 में 09 स्थान, 1999 में 04 स्थान एंव 2004 में 09 स्थान ही प्राप्त कर सकी।

कार्यनीति एवं माँगे

सी0 पी0 आई0 ने 1989 में कांग्रेस सरकार के अल्पमत में आ जाने पर सरकार को बने रहने में

सहायता दी। सरकार के समाजवादी कार्यक्रम एवं सोवियत संघ के प्रति मित्रता की नीति को दल ने खुलकर समर्थन किया। 1989 में सी०पी०आई०, सी०पी०आई० (एम०), फारवर्ड ब्लाक एवं क्रान्तिकारी समाजवादी दल एक मोर्चे में संयुक्त हो गये। इन्होंने 1989 में जनता दल (वी० पी० सिंह) और देवगौड़ा की (1996) में एवं वर्तमान में कांग्रेस (मनमोहन सिंह) की साझा सरकार का बाहर से समर्थन देती रही है। इसके समर्थकों में प्रायः युवा वर्ग के सदस्य हैं जिसका प्रभाव क्षेत्र ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्रों तक फैला हुआ है। साथ ही मुख्यतया मोर्चा के रूप में बंगाल एवं केरल में सरकार बनाने एवं उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार में भी अपनी उपस्थिति दर्ज कराने में दल सफल रहे हैं।

12.2.4 (ख) भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (एम)

1964 में सी० पी० आई० एम० का निर्माण हुआ। इसके प्रमुख नेतागण- नम्बूदरीपाद रणदिवे और ज्योतिबसु रहे। 1967 से अब तक के चुनावों में दोनों गुटों ने अलग-अलग दलों के रूप में चुनाव लड़े। इन चुनावों में सी०पी०आई०एम० का पलड़ा धीरे-धीरे भारी होता गया और इस दल ने ही सबसे बड़े साम्यवादी दल के रूप में ख्याति अर्जित की। 1967 में लोकसभा मे 19 स्थान पाने के अलावा इसकी सफलता का ग्राफ बढ़ा। 1971 में 25, 1977 में 22, 1980 में 36, 1984 में 22, 1989 में 33, 1991 में 34, 1996 में 32, 1998 में 32, 1999 में 23 एवं 2004 में 43 स्थान दल ने लोकसभा में प्राप्त किये। दल ने 1976 से लगातार अन्य वामदलों के सहयोग से प० बंगाल में अपनी सत्ता को बनाये रखा है। साथ ही केरल में भी अपनी मजबूत स्थिति का प्रदर्शन करता रहा।

कार्यनीति एवं माँगे

सी० पी० आई० की भाँति इसके समर्थकों में भी 25 वर्ष से नीचे की आयु के लोग अधिक संख्या में हैं। इनका आकर्षण दल के क्रान्तिकारी अपीलों के प्रति अधिक दिखलाई पड़ती है। सामान्यतः शिक्षित वर्ग के लोग भी इसकी ओर आकर्षित होते हैं क्योंकि बेरोजगारी और आर्थिक विषमता दूर किए जाने, तथा रोजगार-गारण्टी जैसे लोक लुभावने इसके नारों से अधिकांश युवा वर्ग के लोग वाम दलों की ओर आकर्षित होते हैं। साथ ही इनकी मजबूत पकड़ ग्रामीण इलाकों पर शहरी क्षेत्रों की अपेक्षा अधिक है। इनके कार्यक्रमों में सार्वजनिक क्षेत्र के निजीकरण को रोकने, दूरसंचार, ऊर्जा नीतियां के पुनरीक्षण, उद्योगों के प्रबन्ध में श्रमिकों की भागीदारी सुनिश्चित करने, सार्वजनिक वितरण प्रणाली के विस्तार आदि पर बल देने की अधिक रही है।

सी०पी०आई० (एम०) ने प्रारम्भ में कांग्रेसी एकाधिकार एवं कांग्रेस दल को सरकार में आने से रोकने के लिए जनता पार्टी, जनता दल, राष्ट्रीय मोर्चा को समर्थन दिया वहीं वर्तमान में भाजपा को सत्ता में न आने देने हेतु (संयुक्त प्रगतिशील संगठन) गठबन्धन को बाहर से अपना समर्थन दिया। समय-समय पार्टी ने कांग्रेस एवं भाजपा के विरुद्ध एक "तीसरे विकल्प" (Third Alternative) आयोजित करने का प्रयास किया है।

12.2.5 जनता पार्टी / जनता दल / (सेक्युलर)

(क) जनता पार्टी

मई 1976 में जनता पार्टी की स्थापना, गैर-कांग्रेसी सरकार के रूप में इसका उत्कर्ष तथा 1989 में इसका जनता दल के रूप में पुनर्गठन इन सबकी लम्बी पृष्ठभूमि है जिसने भारतीय दल व्यवस्था एवं राजनीतिक व्यवस्था को क्रान्तिकारी मोड़ दिया। प्रथम बार राष्ट्रीय स्तर पर कांग्रेसी एकाधिकार को सफल चुनौती विपक्ष द्वारा मिली।

अगस्त 1974 में 7 दलो के विलय से एक नए दल का जन्म हुआ जिसे 'भारतीय लोकदल' का नाम दिया गया जिसमें मुख्य रूप से स्वतंत्रता पार्टी, भारतीय क्रान्ति दल, संयुक्त समाजवादी दल तथा उत्कल कांग्रेस आदि दल शामिल थे। इसके गठन में चौ० चरण सिंह, राजनारायण, पीलू मोदी तथा

प्रो0 बलराज मधोक के नाम उल्लेखनीय है। इस दौर में अनेक विषम परिस्थितियों के उत्पन्न होने से जनता भी रुष्ट होने लगी थी दूसरी ओर श्री जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में भ्रष्टाचार, महंगाई आदि के विरोध में जनान्दोलन छिड़ गया। बिहार एवं गुजरात में तो इस आन्दोलन ने गम्भीर रूप ले लिया जिसमें युवा वर्ग का अत्यधिक सक्रिय योगदान रहा। इसी दौरान 1975 में श्रीमती गाँधी के निर्वाचन को अवैध घोषित किया जाने के बाद तो गैर-कांग्रेसवाद के विचार ने और अधिक जोर पकड़ा। 25 जून 1975 को घोषित आपातकाल ने आग में घी का काम किया। बड़े नेताओं की गिरफ्तारी और नौकरशाही द्वारा अपनी शक्तियों के दुरुपयोग ने जनसाधारण को कांग्रेस दल से विमुख कर दिया। जिस समय 1977 में लोकसभा का चुनाव घोषित हुआ, उस समय संपूर्ण उत्तरी भारत में कांग्रेस एवं श्रीमती इन्दिरा गाँधी विरोधी वातावरण बन गया। जयप्रकाश नारायन एवं अन्य बड़े नेताओं को कारागार से मुक्ति के बाद इनके प्रयास से मोरारजी देसाई की अध्यक्षता में अनेक विरोधी दल एक मंच पर आये और जनता पार्टी के रूप में इस नये दल ने इस चुनाव में ऐतिहासिक सफलता प्राप्त की। इस प्रकार केन्द्र में प्रथम गैर-कांग्रेसी सरकार का गठन हुआ। आगे चलकर मई 1977 में इसके चारों घटकों संगठन कांग्रेस, जनसंघ, भारतीय लोकदल और सोशलिस्ट पार्टी का विधिवत विलय हो गया।

कार्यक्रम एवं विचारधारा

अपने ढाई वर्षों के शासन काल में जनता सरकार ने लोकतांत्रिक मूल्यों की पुनः स्थापना की तथा नागरिकों के मौलिक अधिकार लौटाए। समाचार-पत्रों को स्वतन्त्रता बहाली की गयी एवं रेडियो व दूरदर्शन की स्वयत्तता की रक्षा के कदम उठाये गये। आर्थिक एवं सामाजिक कार्यक्रमों को कारगर तरीके से लागू करने में कृषि को प्रमुखता, अर्थव्यवस्था के विकेन्द्रीकरण एवं अन्त्योदय कार्यक्रम जैसे कार्यक्रमों पर विशेष बल दिया गया। विदेश नीति में गुट-निरपेक्षता की नीति को कारगर तरीके से लागू करने पर बल दिया गया। परन्तु आन्तरिक संघर्ष विशेष रूप से जनसंघ एवं राष्ट्रीय सेवक संघ की दोहरी सदस्यता के मामले एवं देश में तेजी से बिगड़ती हुई कानून-व्यवस्था एवं औद्योगिक क्षेत्र में हड़तालों और तालाबन्दी आदि विभिन्न कारणों ने जनता पार्टी में विघटन पैदाकर दिया फलस्वरूप जुलाई 1979 में लोकसभा में प्रस्तुत अविश्वास प्रस्ताव पारित होने के पूर्व ही श्री देसाई ने प्रधानमंत्री पद से त्याग पत्र दे दिया। 1980 में हुए आम चुनाव में इस दल की करारी हार हुयी और उसे मात्र 31 स्थान ही लोकसभा में प्राप्त हुआ।

(ख) जनता पार्टी (सेक्युलर)

जनता पार्टी के विभाजन के फलस्वरूप श्री चरण सिंह के नेतृत्व में जनता पार्टी (सेक्युलर) का गठन हुआ। 1980 के चुनाव में इस नये दल को 41 स्थान और जनता पार्टी से अलग हुए घटक कांग्रेस (अर्स) को 13 स्थान मिले। 1984 के चुनाव में जनता पार्टी को 10 स्थान एवं जनता पार्टी (सेक्युलर) को 4 स्थान, कांग्रेस (एस) को 3 स्थान पर ही सफलता मिली।

(ग) जनता दल

अप्रैल 1980 तक जनता पार्टी 'तीन दलों–जनता पार्टी, लोकदल और भारतीय जनता पार्टी में विभक्त हो गयी थी। 1987 में लोकदल भी दो धड़ों में बँट गया–लोकदल (बहुगुणा) और लोकदल (अजित सिंह) 1 मार्चट 1988 में लोकदल (अजीत) ने बची हुयी जनता पार्टी में अपने विलय की घोषणा कर दी। दोनों दलों के नेताओं ने मिलकर विपक्षी एकता का पुर्नप्रयास प्रारम्भ किया जिसे कांग्रेस दल के विकल्प के रूप में तैयार किया जा सके। इसके फलस्वरूप अक्टूबर 1988 में जनता दल के निर्माण की घोषणा हुयी और कांग्रेस से अलग हुए विश्वनाथ प्रताप सिंह सर्वसम्मति से दल के अध्यक्ष चुने गये। इसमें लोकदल (अ), लोकदल (ब) देवीलाल के नेतृत्व में तथा जनमोर्चा श्री विश्वनाथ प्रताप के नेतृत्व में शामिल हुए। अप्रैल 1989 में जनता दल को संसदीय के दोनों सदनों में 'संसदीय पार्टी' की मान्यता मिल गयी। इसके संविधान का मुख्य आधार जनता पार्टी का संविधान था। अगस्त 1989 में एक राष्ट्रीय मोर्चा बनाया गया जिसमें जनता दल, तेलगु देशम, असम गण परिषद, कांग्रेस (एस0)

और डी० एम० के० सहित अन्य कई दल शामिल हुए। 1989 के चुनाव में जनता दल को 141 स्थान लोकसभा में प्राप्त हुए और श्री विश्वनाथ प्रताप सिंह के नेतृत्व में वाम दलों के वाह्य समर्थन एवं भाजपा के सहयोग से राष्ट्रीय मोर्चा की सरकार बनी। परन्तु 11 माह पश्चात ही जनता दल के चन्द्रशेखर एवं देवीलाल अलग होकर एक नये दल जनता दल (एस) के बनाये जाने से इस सरकार का असमय पतन हो गया। जनता दल भी पूर्व की जनता पार्टी की भाँति ही पुनः अनेक गुटों एव छोटे-छोटे धड़ों में विभाजित हो गयी।

1991 के चुनाव में जनता दल को 53 और जनता दल (समाजवादी) को 5 स्थान प्राप्त हुए। 1996 के चुनाव तक जनता दल से एक अन्य धड़ा मुलायम सिंह यादव के नेतृत्व में अलग हो गया। जनता दल की बिहार इकाई में विभाजन के कारण लालू प्रसाद यादव के नेतृत्व में राष्ट्रीय जनता दल और उड़ीसा इकाई में विभाजन से बीजू जनता दल का प्रादुर्भाव हुआ। हरियाणा में देवीलाल के पुत्र ओमप्रकाश चौटाला ने भारतीय राष्ट्रीय लोकदल का गठन किया। 1999 के चुनाव के अवसर पर जनता दल में एकबार पुनः विभाजन हो गया। वह जनता दल (सेक्यूलर) और जनता दल (संयुक्त) में बँट गयी। कर्नाटक में रामकृष्ण हेगड़े की लोक शक्ति पार्टी और बिहार की समता पार्टी जनता दल (संयुक्त) में मिल गयी और यह राष्ट्रीय लोकतांत्रिक गठबन्धन में शामिल हो गयी। जनता दल सेक्युलर को एक भी स्थान लोकसभा में नहीं प्राप्त हुआ। इस प्रकार जनता दल अनेक टुकड़ों मे विभाजित हो गयी। जनता दल (यू0) के रुप में 2004 के चुनावों में इस दल ने 8 स्थान प्राप्त किया जो 1999 के चुनावों की अपेक्षा 13 स्थान कम रहा।

कार्यक्रम एवं नीतियाँ

जनता दल की शक्ति और प्रभाव का चरमोत्कर्ष 1989 का चुनाव था। तत्पश्चात इसकी शक्ति उड़ीसा, कर्नाटक, हरियाणा, और बिहार तक सीमित रह गयी। लेकिन इन इकाईयों में विभाजन से इसकी शक्ति और क्षीण हो गयी। एक राष्ट्रीय दल के रूप में इसका भविष्य कमजोर एवं संदिग्ध है। इसका कारण यह है कि यह एक केन्द्रभूत (Centralist) दल के रूप में कांग्रेस का स्थान लेना चाहता था, परन्तु अपने विभिन्न परस्पर विरोधी, स्वार्थी नेताओं और उनके अनुयायियों को एक सूत्र में बाँधकर यह दल न रख सका। इन नेताओं की प्रतिबद्धता किसी विचारधारा के प्रति न होकर मात्र स्वार्थ और शक्ति के प्रति थी।

जनता दल का सामाजिक आधार मुख्यतः पहले की जनता पार्टी का ही सामाजिक आधार है। उत्तरी राज्यों में, जनता दल को गाँवों के कृषकों, मुख्यतः पिछड़े वर्ग या मध्य जाति का समर्थन प्राप्त है। इनका समर्थन मिलने के पीछे इस दल की यह घोषणा भी रही है कि वह मंडल आयोग की सिफारिशों को लागू करेगा जिसमें अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के लिए 22.5% के अलावा भी 27% सरकारी नौकरियों को पिछड़ी जातियों के लिए सुरक्षित करना था। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि जनता दल की संरचना या उसका झुकाव जातिवाद पर निर्भर है। उत्तर भारत में मध्यम वर्गीय कृषक वर्ग एवं पिछड़ी जातियाँ काफी अरसे से विरोधी दलों की समर्थक थीं, जब सोशलिस्ट पार्टी या चरणसिंह इसका नेतृत्व करते थे। और चूँकि अब जनता दल में ये विरोधी दल शामिल हुए, इसलिए भी इन मध्यम जातियों का इस दल को समर्थन प्राप्त हो गया। इस दल को मध्यम जातियो के समर्थन के अलावा पी० एस0 पी0 एवं लोहिया की सोशलिस्ट पार्टी का परम्परागत सामाजिक आधार भी मिला, जिसमें गाँव के भूमिहीन किसान, नई जातियाँ, अनुसूचित जातियाँ एवं उपजातियाँ और शहरों में कम आय वाले गुट एवं मजदूर वर्ग थे।

12.3 क्षेत्रीय दल

मूलाधार

भारत में क्षेत्रीय दलों का उदय भू-भाग संबंधी राजनीतिक समस्याओं के परिणामस्वरूप हुआ है। भारत

में एक महाद्विपीय राज्य व्यवस्था है। भारत आकार की दृष्टि से अत्यधिक विस्तृत राज्य है। इसने बड़े क्षेत्र में यूरोप में तीस प्रभुता सम्पन्न राज्य हैं। पूर्व सोवियत संघ को छोड़कर यूरोप में कोई भी ऐसा प्रादेशिक सम्प्रभुता सम्पन्न राज्य नहीं है जिसमें भारत की तरह सामाजिक-सांस्कृतिक और सजातीय विविधतापूर्ण राजनीतिक एकीकरण की स्थिति विद्यमान हो। लोकतांत्रिक संस्कृति को पृष्ठभूमि में विविधताओं के लिए राजनीतिक स्वयत्तता की आकांक्षा रखना स्वाभाविक ही है और ऐसा हुआ भी है। संघ में राजनीतिक स्वयत्तता की अभिव्यक्ति क्षेत्रीय दलों और समूहों द्वारा होती है जो क्षेत्रीय विकास के लिए केन्द्र से अधिकाधिक सुविधाएं प्राप्त करने का प्रयास करते हैं।

अनुभव से यह सत्य उजागर है कि प्रायः सभी राष्ट्रीय दल अपनी क्षेत्रीय एवं राज्य स्तरीय इकाईयों की उपेक्षा करके उन्हे समुचित महत्व प्रदान नहीं करते हैं। राज्य स्तरीय नेतृत्व की यह शिकायत रहती है कि केन्द्रीय नेतृत्व द्वारा उनके प्रति लोकतांत्रिक दृष्टिकोण नहीं अपनाया जाता था। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस स्वतन्त्रता के पूर्व एवं पश्चात एक प्रमुख अखिल भारतीय दल रहा इसलिए इसकी कमजोरियाँ अन्य दलों की अपेक्षा अधिक सामने आयीं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के प्रथम दो ढाई दशकों में कांग्रेस दल केन्द्र और अधिकांश राज्यों में सत्तासीन रहा। केन्द्र में तो लगातार तीन दशकों तक इसके निरन्तर एकाधिकार होने से इस दल के राज्य इकाईयों के हितों की उपेक्षा हुयी। उन्हें स्वायत्त इकाईययों की भांति स्वीकार नहीं किया गया वरन उन्हें केन्द्रीय कांग्रेस दल की सहयोगी शाखाओं से अधिक कुछ नहीं समझा गया। अखिल भारतीय कांग्रेस समिति और केन्द्रीय हाई कमान न तो संगष्ठन में ही और न ही अपनी इकाईयों एवं केन्द्र के मध्य एक विकेन्द्रित लोकतान्त्रिक स्वरूप कर विकास कर सकी। राष्ट्रीय आन्दोलन में विशिष्ट भूमिका रखने वाले राज्य के वरिष्ठ नेताओं के स्वर्गवासी होने दल छोड़ देने अथवा हटाये जाने के पश्चात उनके उत्तराधिकारी अपने केन्द्रीय नेताओं के साथ तालमेल स्थापित नहीं कर सके। इससे न केवल कागेस की राज्य इकाईयों के सभी स्तर के कार्यकर्ताओं में क्षोभ और असंतोष उत्पन्न हुआ बल्कि उनके समर्थकों और राज्य की अधिकांश जनता में भी काग्रेस के पूर्ति असंतोष उत्पन्न हुआ। चुनाव के समय सीटों के लिये टिकटों का बँटवारा, मंत्रिमण्डल का निर्माण, मुख्यमंत्री का चयन, राज्य योजना की प्राथमिकताएं, उद्योगों की स्थापना हेतु निर्माण स्थल आदि अनेक कारणों से उनमें केन्द्रीय नेताओं के मनमाने एवं अलोकतांत्रिक व्यवहार के प्रति रोष उत्पन्न होना स्वाभावतिक था। इससे उनके मन को ठेस पहुंची और भावना व स्वाभिमान आहत हुआ। ऐसी स्थिति में एक राजनीतिक विकल्प के रूप में क्षेत्रीय दलों का उदय होना अस्वाभाविक नहीं था

दक्षिण भारत, जहाँ अलग दलों के गठन की प्रक्रिया सर्वप्रथम प्रारम्भ हुई थी, के नेताओं और वहाँ की जनता के बीच काफी समय से यह भावना पनप रही थी कि उत्तर भारत बहुत पहले से दक्षिण भारत को आकांक्षाओं का दमन करके उस पर प्रायः अपना प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न करता रहा है उत्तर भारत को विस्तारवादी, सर्वाधिकारवादी और यहाँ तक कि अपने उद्देश्यों की पूर्ति में उपनिवेशवादी तथा साम्राज्यवादी भी बताया गया: उत्तर-दक्षिण के बीच पनपते द्वेषभाव में वृद्धि का एक कारण यह भी था कि दक्षिण भारत द्वारा उत्तर भारत के नेतृत्व को आर्यो, ब्राह्मणों और क्षत्रियों के नेतृत्व का प्रतीक माना जाया जाने लगा। यह भी समझा जाने लगा कि उत्तर भारत का नेतृत्व उन्हें द्रविड़ गैर-ब्राह्मण, निम्न तथा मध्यम वर्गीय जातियों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का एक प्रयास है जो लोकतांत्रिक भावना से प्रेरित होकर भारत में स्वतन्त्र एवं समान रूप से अपनी भूमिका का निर्वहन करने की आकांक्षा रखते थे।

12.3.1 क्षेत्रीय दलों के आधारभूत तत्व

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हमें क्षेत्रीय दलों के निर्माण एवं विकास के सन्दर्भ में निम्न आधारभूत तत्वों को ध्यातव्य रखना होगा–

(1) राष्ट्रीय अखंडता पर जोर देने के परिणामस्वरूप असमान समूहों और क्षेत्रों का जन्म

हुआ। केन्द्र की एकाधिकारवादी नीतियों की व्यापक प्रतिक्रिया से राजनैतिक लामबन्दी के लिए क्षेत्रीय विशिष्टताओं के मुहावरों और प्रतीकों का जन्म हुआ।

(2) क्षेत्रीयता राजनीतिक शक्ति के केन्द्रीकरण की प्रतिक्रिया में क्षेत्रीय आधार प्रशासन के विकेन्द्रीकरण और पुर्नवितरण की माँग को लेकर मुखर हुई। क्षेत्रीय दलों का उद्देश्य संघात्मक ढाँचे के अन्तर्गत अधिक स्वायत्तता हासिल करना है। अलगाववाद इस प्रवृत्ति की चरम परिणति है, जो किसी खास साँस्कृतिक क्षेत्र में किसी दल विशेष की महत्त्वाकांक्षाओं की उपज होती है।

(3) क्षेत्रीय संस्कृति, धर्म, भाषाई विरासतों का पुनरुत्थान और राष्ट्रीय ढाँचे के अन्तर्गत क्षेत्रीय अस्मिता का पुनर्निर्माण तथा कभी-कभी व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाएँ और राजनीतिक शक्ति हासिल करना भी इन क्षेत्रीय दलों के गठन के पीछे अपनी प्रमुख भूमिका निभाते रहे।

(4) केन्द्र-राज्य अन्तर्विरोधों के संदर्भ में दो या अधिक साँस्कृतिक समूहों या क्षेत्रों के झगड़े निपटाने के लिए विशिष्ट सिद्धान्तों का निर्माण।

(5) केन्द्र और राज्यों या राष्ट्र और साँस्कृतिक क्षेत्रों के बीच राजनीतिक और आर्थिक संतुलन बनाना। कुछ राजनीतिशास्त्री भारतीय राजनीति में क्षेत्रीय दलों के उदय को विकसित और समन्वित राजनीति और संघात्मक-व्यवस्था का विरोधी मानते हैं। इनकी मान्यताओं के बावजूद क्षेत्रीय दलों की भूमिका भारतीय राजनीतिक प्रक्रिया का अभिन्न अंग बन चुकी है।

12.3.2 प्रमुख क्षेत्रीय दल

भारत में कुछ क्षेत्रीय दलों के विषय में ध्यान देने योग्य बात यह है कि कुछ दल तो अपना अस्तित्व बरकरार रखने में सफल रहे, लेकिन कुछ किसी खास समय पर किसी खास क्षेत्रीय मुद्दों को लेकर जोर-शोर से अस्तित्व में आए और विसर्जित हो गए। मोटे तौर पर भारत के क्षेत्रीय दलों को तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। पहली श्रेणी में ऐसे दल आते हैं जो किसी खास समय पर कांग्रेस के असंतुष्ट समूह के रूप में किसी खास उद्देश्य से अस्तित्व में आये और उद्देश्य पूरा होते ही विलीन हो गये। इनमें से अधिकांश अल्पकालिक थे और बहुधा वे कांग्रेस के साथ राजनीतिक सौदेबाजी करने के लिए तदर्थ उद्देश्य से बनाए गए थे। इस प्रकार के क्षेत्रीय दलों के उदाहरण हैं–बंगला कांग्रेस, केरल कांग्रेस, उत्कल कांग्रेस विशाल हरियाणा परिषद, तेलगांना प्रजा समिति और भारतीय क्रान्ति दल। आगे चलकी 1979 में जनता पार्टी एवं 1989 में जनता दल से विलग हुए घटकों को भी इसी श्रेणी में रखा जा सकता है। क्षेत्रीय दलों का दूसरा प्रकार जनजातीय दल हैं। इस प्रकार के दलों के निर्माण में केन्द्र में अपनी जनजातीय राजनीतिक पहचान बनाने तथा केन्द्र से अधिक से अधिक सुविधाएं प्राप्त करने का उद्देश्य निहित होता है। ये क्षेत्रीय दल बहुधा अपने क्षेत्र की पृथकता एवं पूर्ण स्वतन्त्रता की माँग भी उठाते रहे हैं। ऐसे दलों के उदाहरण कुछ उग्रवादी संगठन हैं जैसे–नागा नेशनल काउँसिल, मिज़ो नेशनल फ्रन्ट, गारो नेशनल काउँसिल, मणिपुर पीपुल्स पार्टी, कुकी नेशनल एसेंबली, गोरखा लीग आदि। क्षेत्रीय दलों के तीसरे प्रकार में भाषा, संस्कृति और जातीय आधार पर गठित राजनीतिक संगठन नजर आते हैं। जैसे–तमिलनाडु, आंध्र प्रदेश, पंजाब, जम्मू कश्मीर तथा असम जैसे राज्यों के बृहत् संगठन। इन दलों का स्वरूप बहुत बड़ा तथा संगठन सुदृढ़ होता है। भारत की बहुदलीय व्यवस्था में महत्वपूर्ण घटक के रूप में इनका अपेक्षाकृत अधिक स्थायित्व होता है। इन दलों में डी0 एम0 के0 एवं अन्ना डी0 एम0 के0, देलगुदेशम पार्टी, अकाली दल, नेशनल कांफ्रेस एवं असम गण परिषद आदि महत्त्वपूर्ण हैं। यहाँ उन क्षेत्रीय दलों की थोड़ी विस्तृत चर्चा की जाएगी जिनमें स्थायित्व की विशिष्टताएं दिखाई देती हैं।

(क) असम गण परिषद–असम आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ राज्य है जहाँ असमिया मूल के लोगों में यह आशंका उपजी कि वे लोग अल्पसंख्यक हो जाएंगे क्योंकि भारत की सीमा से बाहर से लाखों लोग वहाँ आकर बसते जा रहे थे। इस कारण 1978 में वहाँ तक बड़े आन्दोलन की शुरुआत हुई जिसका नेतृत्व प्रारम्भ से अन्त तक छात्रों ने किया। यद्यपि केन्द्रीय सरकार ने आन्दोलनकारियों से कई बार बातचीत किया परन्तु कोई परिणाम नहीं निकला। धीरे-धीरे आन्दोलन ने स्थानीय बनाम बाहरी (जिनमें असम के बाहर से आये तमाम बंगाल, बंगलादेश, यू0पी0, बिहार आदि लोगों) का विकराल रूप धारण कर लिया। 1983 में असम में जबरन आम चुनाव कराये जाने के कारण वहाँ व्यापक पैमाने पर हिंसा हुई। प्रधानमंत्री राजीव गाँधी के कार्यकाल में अन्ततः आन्दोलनकारियों के साथ समझौता हुआ और 1985 में आठ वर्षों बाद वहाँ व्यवस्थित रूप से चुनाव हुए। असम आन्दोलनकारियों ने चुनाव लड़ने के लिए असम गण परिषद के नाम से एक क्षेत्रीय दल का गठन किया जिसे विधानसभा में पूर्ण बहुमत प्राप्त हुआ और प्रफुल्ल कुमार महन्त जो छात्र आन्दोलन का नेतृत्व कर रहे थे, 24 दिसम्बर 1985 को असम के मुख्यमंत्री बने। बाद में असम गण परिषद केन्द्र में गठित राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार में शामिल हो गयी। यद्यपि 1989 में असम की 14 लोकसभा की सीटों के लिए चुनाव नहीं हो सका था। असम की महंत सरकार बोडो आन्दोलन से निबटने में असफल रही है। 'उल्फा' के नेतृत्व में चलाए जा रहे आन्दोलन ने भी गम्भीर रूप ग्रहण कर लिया है। असम जनता के हृदय में महंत सरकार के प्रति मोह भंग होने के साथ उल्फा के प्रति स्नेह बढ़ने लगा। हितेश्वर सैकिया के मुख्यमंत्रित्व काल में उल्फा उग्रवादियों ने अनिश्चित विराम घोषित किया। परन्तु असम गण परिषद की सफलता इस कारण की पुष्टि करती है कि राज्यों में, क्षेत्रीय दल, स्थानीय लोगों खासकर मध्य वर्ग की आकांक्षाओं और भावनाओं को आधार बनाकर और चुनावी गणना में व्यवहारिकता का परिचय देकर सत्ता पर अधिकार जमा सकते हैं। असम गण परिषद ने 2004 के लोकसभा चुनावों में 2 स्थान पाकर अपनी स्थिति में काफी सुधार किया जबकि 1998 में 1999 के चुनावों में उसे कोई स्थान प्राप्त नहीं हुआ था।

(ख) मिजो नेशनल फ्रन्ट–मिजोरम भी पहले असम का ही एक जिला था परन्तु 1972 में उसे "संघ का राज्य क्षेत्र" का दर्जा दिया गया। उत्तर पूर्व के अन्य प्रदेशों की तरह ही मिजोरम में भी स्थिति विस्फोटक रही है जहाँ पर लाल डेंगा के नेतृत्व में मिजो नेशनल फ्रंट ने हिंसा व तोड़फोड़ की नीति अपनाई। जून 1986 में एक समझौता हुआ जिसके अन्तर्गत मिजोरम को पूर्ण राज्य का दर्जा दिये जाने का आश्वासन दिया गया और फरवरी 1987 में मिजोरम भारत का 23वाँ राज्य बना तथा वहाँ एक नए युग की शुरुआत हुयी। मिजो नेशनल फ्रन्ट को चुनाव में पूर्ण बहुमत मिला और उसके नेता लाल डेंगा ने राज्य की बागडोर संभाली परन्तु यह सरकार ज्यादा दिन नहीं चल सकी। जनवरी 1989 में हुए चुनाव में कांग्रेस (आई0) विजयी रही। इस दल ने 2003 के राज्य विधान सभाई चुनावों में 39 में से 20 स्थान प्राप्त कर सरकार का गठन किया एवं 2004 के लोकसभा चुनाव में एक माँग सीट एवं एक विधान सभा के उपचुनाव पर अपना कब्जा करके अपनी पकड़ को मिजो जनता में बनाने का लवत पेश किया।

(ग) मेघालय के क्षेत्रीय दल–मेघालय में तीन प्रमुख दल हैं–आल पार्टी हिल लीडर्स कान्फ्रेन्स हिल स्टेट पीपुल्स डेमोक्रेटिक पार्टी तथा हिल्स पीपुल्स यूनियन। मेघालय को जो पहले असम का ही एक हिस्सा था, 1970 में असम के भीतर ही एक स्वायत्त राज्य का दर्जा दिया गया तथा 1977 में उसको भारत के अन्य राज्यों की तरह ही एक पूरे राज्य का दर्जा प्रदान किया गया। मेघालय के तीनों क्षेत्रीय दलों ने स्थानीय स्वायत्तता की माँग तो अवश्य की परन्तु वे देश की एकता एवं अखण्डता का विरोध नहीं करते। 2 मार्च 1983 को इन दलों ने मिलकर लिंगदोह के नेतृत्व में एक मिली-जुली सरकार का गठन किया जो थोड़े ही दिनों चली, अप्रैल 1983 में वहाँ डेमोक्रेटिक फ्रन्ट के नेता पी0 ए0 संगमा के नेतृत्व में सरकार बनी। फरवरी 1988 के चुनावों के बाद हिल्स पीपुल्स यूनियन और कुछ स्वतन्त्र उम्मीदवारों के सहयोग से पी0ए0 संगमा के नेतृत्व में कांग्रेस (आई) ने सरकार बनाया।

इस प्रकार इन क्षेत्रीय दलों ने अनेक बार सरकार के गठन में अपनी महत्वपूर्ण एवं सक्रिय भूमिका निभाई। मणिपुर, नागालैण्ड एवं त्रिपुरा में क्षेत्रीय दलों के गठन में स्थानीय स्वायत्तता एवं पहचान का संकट प्रमुख कारण रहे। इन छोटे-छोटे राज्यों में भी यथा मणिपुर में मणिपुर हिल यूनियन, कूकी नेशनल एसेम्बली और मणिपुर जनमुक्ति सेना, नागालैण्ड में नागा-नेशनल डेमोक्रेटिक पार्टी, यूनाइटेड डेमोक्रेटिक फ्रन्ट व नागालैण्ड पीपुल्स कौंसिल एवं त्रिपुरा में वामपंथी मोर्चा एवं त्रिपुरा उपजाति युवा समिति के अतिरिक्त अनेक छोटे-छोटे दल भी विद्यमान हैं जो कांग्रेस की सत्ता को चुनौती पेश करते रहे हैं।

(घ) जम्मू कश्मीर का प्रमुख क्षेत्रीय दल–नेशनल कान्फ्रेन्स–अन्य क्षेत्रीय दलों की तरह जम्मू-कश्मीर नेशनल कान्फ्रेन्स भी एक खास धार्मिक और सांस्कृतिक समुदाय के नेताओं की राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं की उपज है। आजादी के पूर्व मुस्लिम बहुसंख्यक जम्मू-कश्मीर पर हिन्दू महाराजा का शासन था। 1930 के दशक में बहुसंख्यक समुदाय के विरुद्ध पक्षपात, नौकरियों में उपयुक्त प्रतिनिधित्व का न मिलना धार्मिक स्वतन्त्रता पर पाबन्दी, अभिव्यक्त और राजनीतिक संगठन पर पाबन्दी के आरोपों की चर्चाएँ जोर पकड़ने लगीं।

इसकी शुरुआत 1922 में, मुसलमानों के सामाजिक और शैक्षणिक हितों की देखरेख के लिए "अंजुमने-इस्लामिया" के गठन के साथ मानी जा सकती है। 1931 तक यह प्रयास महाराजा के दमनकारी शासन के विरुद्ध जेहाद (धर्म की रक्षा की लड़ाई) में बदल गया। इस जेहाद की राजनीतिक अभिव्यक्ति के रूप में छात्र जम्मू-कश्मीर मुस्लिम कांफ्रेन्स का गठन हुआ। 1938 में जवाहर लाल नेहरू एवं अबुल कलाम आजाद के कहने पर द्वार सभी मजदूरों के लोगों के लिए खोल दिये गये और इस दल का नाम 'मुस्लिम कान्फ्रेन्स' से बदलकर "नेशनल कान्फ्रेन्स" कर दिया गया। नेशनल कान्फ्रेन्स ने वयस्क मताधिकार, लोकतांत्रिक प्रतिनिधित्व एवं उत्तरदायी सरकार की माँगें रखी थीं। इसका सबसे अधिक साहसपूर्ण कार्य धर्मनिरपेक्षता को अपनाना और कश्मीर का भारत में विलय किये जाने का अनुमोदन करना था।

शेख अब्दुल्ला प्रारम्भ से लेकर 1982 में अपने निधन तक नेशनल कांफ्रेन्स के अग्रणी नेता बने रहे। उन्होंने श्री जिन्ना के फुसलावे में आने से इन्कार किया। परन्तु 1953 में अमेरिकी प्रभाव में आकर उन्होंने कश्मीर को स्वतन्त्र घोषित करने की साजिश रची जिसके कारण उन्हें 1953 से 1964 तक कारावास में रहना पड़ा। इस दौरान नेशनल कान्फ्रेन्स का नेतृत्व बख्शी गुलाम मोहम्मद और मो0 सादिक के हाथों में रहा। 1975 में शेख अब्दुल्ला फिर से जम्मू-कश्मीर के मुख्यमंत्री बने तथा 1981 में अपने ज्येष्ठ पुत्र डॉ0 फारुक अब्दुल्ला को नेशनल कान्फ्रेन्स का अध्यक्ष पद सौंपा और अपने मंत्रिमण्डल में शामिल किया। शेख अब्दुल्ला के निधन के बाद नेशनल काफ्रेन्स फारुक अब्दुल्ला एवं खालिदा बेगम अर्थात् जी0 एम0 शाह गुट में 1984 में बंट गया। परन्तु फारुक अब्दुल्ला गुट ही प्रभावी रहा। इसके बाद अनेक बार यहाँ राष्ट्रपति शासन लागू करना पड़ा। परन्तु दोनों ही गुट जम्मू-कश्मीर की विशेष स्थिति बनाये रखने के पक्षधर रहे। फारुक अब्दुल्ला ने पहले कांग्रेस और आगे चलकर राजग गठबन्धन के साथ मिलकर सरकार भी बनायी। 2003 में फारुक अब्दुल्ला ने उमर अब्दुल्ला को इस दल का नेतृत्व सौंप दिया। यद्यपि 2002 के विधान सभा के चुनावों में नेशनल कांफ्रेस के हाथों सत्ता चली गयी एवं राष्ट्रीय तथा पी0 डी0 पी0 ने मिलकर साझे की सरकार का गठन किया परन्तु 2004 के लोकसभा चुनाव में पुनः नेशनल कांफ्रेन्स से दो स्थानों पर विजय पाकर अपनी मजबूत स्थिति का स्पष्ट भान कराया, जो इस बात का द्योतक है कि जम्मू-कश्मीर की जनता में इस दल की महत्ता अभी भी बनी हुयी है।

(ङ) पंजाब का शिरोमणि अकाली दल–अकाली दल की स्थापना 1920 में की गयी जिसका स्वरूप प्रारम्भ से ही धार्मिक एवं राजनीतिक रहा। अकाली दल की उत्पत्ति, गुरुद्वारों को भ्रष्ट महन्तों के चंगुल से मुक्त करने के लिए सिक्खों के आन्दोलन के रूप में हुआ। इस आन्दोलन के फलस्वरूप

1925 में 'अंग्रेजी राज' ने 'सिख गुरुद्वारा अधिनियम' पारित किया। जिसके तहत गुरुद्वारों का प्रबन्ध, नवनिर्मित 'शिरोमणी गुरुद्वारा प्रबन्ध समिति' के हाथों में सौंप दिया गया जिसमें स्वाभाविक था कि अकाली दल, राजनीतिक हितों और दूरगामी रणनीति के तहत इस कमेटी पर अपनी पकड़ मजबूत करने का हर संभव प्रयास करता। इसके पक्ष में यह तर्क दिया कि सिख-पंपम्परा में राजनीति को 'चर्च' यानि धर्म से अलग नहीं किया जा सकता। यही तर्क दल की वैधता का सिद्धान्त बन गया।

स्तन्त्रता से पूर्व इस दल के प्रमुख नेता मास्टर तारासिंह थे। इस दल ने स्वतन्त्रता आन्दोलन में पाकिस्तान के निर्माण का विरोध किया था तथा सतलज व ब्यास के मध्य क्षेत्र के लिए एक स्वतन्त्र पंजाबी राज्य की माँग की थी। जिसे ब्रिटिश सरकार ने अस्वीकार कर दिया था। बाद में अकाली दल में फूट पड़ गयी, एक दल के नेता मास्टर तारासिंह रहे और दूसरे के सन्त फतहसिंह। जब भाषा के आधार पर राज्य के पुनर्गठन का प्रश्न उठा तो अकाली दल ने पंजाबी भाषी राज्य की माँग की। परिणामस्वरूप 1966 में पंजाब के दो भाग हरियाणा और पंजाब कर दिये गये। चण्डीगढ़ दोनों की राजधानी है।

जून 1977 के विधानसभा चुनावों के बाद अकाली दल ने जनता पार्टी के साथ मिलकर एक संयुक्त सरकार का गठन किया। जनता पार्टी के शासन काल के दौरान अकाली दल को केन्द्रीय मंत्रिमण्डल में स्थान दिया गया परन्तु जून 1980 में पंजाब में दरबारा सिंह के नेतृत्व में कांग्रेस (आई) की सरकार बनी। अकाली दल कई धड़ों में बँट गया। कई मुद्दों को लेकर उन्होंने पंजाब की कांग्रेस (आई) सरकार और भारत सरकार के विरुद्ध आन्दोलन छेड़ दिया। अकाली दल की मुख्य माँगें रही हैं कि (i) हरियाणा, हिमाचल प्रदेश और राजस्थान के पंजाबी भाषी इलाके पंजाब में शामिल किए जाए, (ii) चण्डीगढ़ अकेले पंजाब की राजधानी हो; (iii) भाखड़ा नांगल जैसे जल विद्युत केन्द्र पंजाब के नियंत्रण में रहे, (iv) पंजाब में भारी उद्योगों की स्थापना की जाए तथा (v) गुरुद्वारों के प्रबंध समितियों व सिक्खों के अन्य धार्मिक मामलों में सरकार हस्तक्षेप न करे। इन माँगों को लेकर अकाली दल ने न केवल धरना दिया और प्रदर्शन किया वरन् 'रास्ता रोको' और 'रेल रोको' जैसे आन्दोलन भी चलाए जिससे पंजाब में सामान्य जन-जीवन व उद्योग धन्धे बुरी तरह प्रभावित हुए और बागडोर सन्त जनरैल सिंह भिण्डरवाला जैसे उग्रविचारों वाले लोगों के हाथों में आ जाने से अनेक निर्दोष एवं निहत्थे लोगों की जानें गयीं। फलस्वरूप 1984 में पंजाब में 'आपरेशन ब्लु स्टार' के बाद मर्माहत पंजाब को आपसी प्रेम, भाईचारे एवं सद्भाव के मरहम की नितान्त आवश्यकता महसूस हुई।

24 जुलाई 1985 को अकाली दल और केन्द्र सरकार के बीच "राजीव-लोंगवाल" समझौता हुआ जिसके अन्तर्गत पंजाब को चण्डीगढ़ और उसके बदले में पंजाब के कुछ हिन्दी भाषी इलाके हरियाणा को दिए जाने थे। श्रीमती इन्दिरा गाँधी की हत्या के बाद नवम्बर 1984 में हुए दंगों की जाँच के लिए एक आयोग की स्थापना की गयी तथा अकालियों का आनन्दपुर साहिब प्रस्ताव सरकारिया आयोग को विचार के लिए सौंप दिया गया। सितंबर 1985 में पंजाब में हुए चुनावों में पहली बार अकाली दल को स्पष्ट बहुमत मिला। परन्तु जुलाई 1986 में अकाली दल नें पुनः विभाजन हुआ। बादलगुट ने बरनाला गुट से अपना नाता तोड़ लिया। 1987 में पंजाब में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया। 1989 में हुए संसदीय चुनावों में अकाली दल (मान गुट) ने पंजाब में 13 स्थानों में से 6 स्थान जीते। 1991 में पंजाब में चुनाव नहीं हो सके। 5 वर्ष के राष्ट्रपति शासन के बाद (जिसके लिए अनेक बार संविधान संशोधन करना पड़ा) फरवरी 1992 में राज्य में विधानसभा चुनाव हुए जिसका अकाली दलों ने बहिष्कार किया और कांग्रेस (आई) की सरकार बनी। इसके बाद के चुनावों में बादल गुट ने विभिन्न दलों के साथ सरकार बनायी और राजग गठबन्धन में शामिल रही। वर्तमान में कांग्रेस (आई) की सरकार सरदार अमरिन्दर सिंह के नेतृत्व में पंजाब में सत्तासीन है। यद्यपि कांग्रेस की शक्ति में 1999 के लोकसभा चुनावों की अपेक्षा 2004 के चुनावों में गिरावट का स्पष्ट संकेत हैं। देखिये टेबुल (2)।

शिरोमणी अकाली दल का सामाजिक आधार 1967-69 की फूट से पहले सिखों का शहरी व्यापारिक

समुदाय था, जिसमें गैर-जाट और गैर-हरिजन सिखों की बहुलता थी। 1960 के दशक की 'हरित क्रान्ति' से आई समृद्धि से अकाली दल को अपना आधार अधिक व्यापक बनाने का अवसर मिला। जाट एवं अन्य समृद्ध किसानों के समुदाय इसके आधार में सम्मिलित हो गए। कृषि-उद्योंगों के मामले में दल की ग्रामीण रुझान का भी यही कारण है। अन्य क्षेत्रीय दलों की तरह, अकाली दल भी चुनावी-गणना में व्यवहारिकता का परिचय देता रहा है।

(च) तमिलनाडु की द्रविड़ मुनेत्र कज्गान और आल इण्डिया अन्ना द्रविढ मुनेत्र कजगम– डी0 एम0 के की उत्पत्ति स्वतंत्रता के चालीस वर्ष पूर्व हुई जिसने आधुनिक भारत के सबसे अधिक सशक्त एवं गहरे जड़ों वाले द्रविड़ आन्दोलन को मजबूत आधार प्रदान किया। जिसका प्रारम्भ मद्रास प्रेसीडेंसी के ब्राह्मण-विरोधी अन्तर्विरोधों में खोजा जा सकता है। यह कांग्रेस के ब्राह्मण वर्चस्व एवं अन्य ऊँची जातियों की संस्थाओं के प्रतिक्रिया स्वरूप अपनी स्वायत्तता और नई लोकतांत्रिक पहचान की दिशा में किसी न किसी रूप में सक्रिय रहा। गैर-ब्राह्मणों ने यह महसूस किया कि ब्राह्मणत्व के प्रभाव को कम किए बिना ये जातियाँ ऊपर नहीं उठ सकतीं। इसके फलस्वरूप 1916 में "नान ब्राहमिनकल मैनिफेस्टो" और 1917 में "साऊथ इण्डिया पीपुल्स एसोसिएशन" अस्तित्व में आए। ये आगे चलकर 'जस्टिस पार्टी में तब्दील हो गये। इसका उद्देश्य ब्राह्मणों के वर्चस्व को चुनौती देना और 1923-24 में चुनाव लड़ना था, जिसमें जस्टिस पार्टी को पर्याप्त सफलता मिली परन्तु जस्टिस पार्टी मूलतः सम्भ्रान्त तबकों के लोगों का दल था, जिसका कोई अन्य जनाधार नहीं था। 1925 में ई0 वी0 रामास्वामी नायकर के नेतृत्व में एक सुधारवादी दल का गठन हुआ जिसका उद्देश्य आम द्रविड़ जनता को कर्मकाण्डी हिन्दुत्व से अलग करके उनकी प्रगति का मार्ग प्रशस्त करना था। प्रारम्भ में "सेल्फ रेस्पेक्ट मूवमेंट" द्वारा नायकर ने लोगों का दिल जीता और फिर जस्टिस पार्टी के मिलन से 'द्रविड़ कड़गम' पार्टी का जन्म हुआ जिसने दक्षिण भारत की राजनीति की दिशा बदल दी। इसका मुख्य एजेण्डा ब्राह्मण विरोध के साथ ही कांग्रेस विरोध पर टिका रहा। इसी कारण इस दल ने हिन्दी के वर्चस्व का विरोध किया और 1947 में स्वतन्त्रता दिवस को शोक दिवस के रूप में मनाया। अतएव बहुत सारे नवयुवक सदस्य सी0एन0 अन्ना दुवई के नेतृत्व में अलग हो गये और 1949 में 'द्रविड़ मुनेत्र कड़गम' का गठन हुआ।

डी0 एम0 के0 पार्टी ने भी निम्न वर्गों और पिछड़ी जातियों को ही अपनी राजनीति का केन्द्रबिन्दु बनाया। 'द्रविड़' या तमिल समुदाय के खोये हुए गौरव को पुनर्जागृत करने के विचार को फलीभूत करने के लिए साहित्य एवं फिल्मों को माध्यम बनाया। जिसके परिणामस्वरूप डी0 एम0 के0 की सदस्यता, लोकप्रियता और चुनावी भागीदारी में असीम वृद्धि हुयी। इनके घोषणा-पत्रों एव सिद्धान्त सूत्रों में तमिल जनता की गरीबी का कारण औद्योगीकरण में बताया गया और जिम्मेदार उत्तर भारत के ब्राह्मण बाहुल्य कांग्रेस ने तत्त्व को इसके लिए जिम्मेदार ठहराया गया। इससे इस दल के हिन्दी विरोधी आन्दोलन ने काफी लोकप्रियता प्राप्त की। चुनावी तालमेल में स्थापित किया जो इनके विचारधारा के करीबी थे। 1956 के लोकसभा चुनावों में इसने हिस्सा भी लिया और कुछ सफलता भी हासिल की। 1962 में विधानसभा में 50 स्थान प्राप्त किए और हिन्दी विरोधी स्वर को और ऊँचा करते हुए स्वतंत्र राज्य 'द्रविनाड' की माँग उठाई परन्तु शीघ्र ही इसे वापिस लेकर 'स्वायत्तता' की माँग रखी। 1967 के विधान सभा चुनावों में 134 स्थान पाकर अपनी सरकार का गठन किया। लोकसभा की भी 25 सीटों पर इस दल का कब्जा हो गया। 1969 में अन्नादुराई के निधन के बाद एम0 करुणानिधि इस दल के प्रमुख बने।

1971 के चुनावों में कांग्रेस के साथ समझौता करके चुनाव लड़ा और 234 में 210 स्थान इस गठबन्धन को प्राप्त हुए। परन्तु शीघ्र ही डी0 एम0 के0 में फूट पड़ गयी और प्रमुख फिल्मी अभिनेता एम0 जी0 रामचन्द्रन के नेतृत्व असंतुष्ट गुट ने 8 अक्टूबर 1972 को अन्ना द्रविड़ मुनेत्र कड़गम की स्थापना की। अन्ना डी0 एम0 के0 ने भी डी0एम0के0 की तरह अन्य दलों से समझौते की नीति अपनायी। 1977 के चुनावों अन्ना डी0एम0के0 को स्पष्ट बहुमत मिला। 1984 के संसदीय चुनावों में

12 स्थानों पर अन्ना डी0एम0के0 ने अपने उम्मीदवार खड़े किए और सभी विजयी रहे। ऐसा नहीं है कि अन्ना डी0एम0के0 की लोकप्रियता ने डी0एम0के0 के अस्तित्व को ही समाप्त कर दिया हो वरन् दोनों दल तमिल जनता में लोकप्रिय रहे और बारी-बारी से सत्ता में आते रहते हैं। वर्तमान में जयललिता के नेतृत्व में सरकार कार्यरत है जबकि हाल ही में हुये संसदीय चुनावों में डी0एम0के0 ने लगभग सारी सीटों पर कांग्रेस के साथ गठबन्धन करके जीत लिया। (देखिए टेबिल 2)

जहाँ डी0एम0के0 का उद्देश्य द्रविड़ परम्परा को बनाये रखना और द्रविड़ संस्कृति के उत्थान को बढ़ावा देना है। वहीं इसके कार्यक्रम में हिन्दी विरोध और राज्य के लिए स्वायत्तता की माँग प्रमुख है। जबकि अन्ना द्रमुक की नीति केन्द्र के साथ सहयोग की रही। अनेक चुनाव इसने कांग्रेस के साथ मिलकर और वर्तमान में राजग के गठबन्धन के रूप में लड़ा। इसका कार्यक्रम पिछड़े वर्गों के लिए समान अवसर, तमिल भाषा का प्रचार-प्रसार तथा जबरन हिन्दी लादने का विरोध है।

(छ) आन्ध्र-प्रदेश का क्षेत्रीय दल–तेलगु देशम्–आन्ध्र प्रदेश पहले मद्रास राज्य का ही एक भाग था परन्तु अक्टूबर 1953 में मद्रास राज्य के तेलगु भाषी क्षेत्रों को अलग कर एक पृथक् राज्य आन्ध्र प्रदेश की स्थापना की गयी। 1953 से 1983 तक आन्ध्र प्रदेश "कांग्रेस का गढ़" रहा। परन्तु आपसी फूट एवं घटकवाद के कारण स्वतः ढंग से तेलगु देशम पार्टी का उदय हुआ। क्योंकि राज्य में विपक्षी दलों के अभाव के राज्य संबंधित मामलों में केन्द्र का हस्तक्षेप होना स्वाभाविक था। 1978 से 1982 तक जल्दी-जल्दी 4 मुख्यमंत्री बदल गए। राज्य में दलीय व्यवस्था के बिखराव और व्यक्ति के केन्द्रीत केन्द्रीय नेतृत्व द्वारा उसके विस्थापन और किसी सशक्त विपक्षी दल की गैर मौजूदगी ने क्षेत्रीय भावनाओं के आधार पर लोकप्रिय अभिनेता एन0 टी0 रामाराव वाले तेलगु देशम के नेतृत्व को भारी समर्थन प्रदान किया।

मार्च 1983 में तेलगु देशम के उदय का एक कारण और भी महत्त्वपूर्ण रहा आन्ध्र की राजनीति में रेड्डियों और ब्राह्मणों के वर्चस्व का रामा समुदाय द्वारा विरोध। 1983 तक प्रदेश की राजनीति में 11 मुख्यमंत्रियों में से 9 रेड्डी और ब्राह्मण थे। अब सत्ता पर कम्मा जाति के वर्चस्व की बारी थी। कम्मा जाति के लोग प्रमुख रूप से खेती और व्यापार से जुड़े हैं। रामाराव का नेतृत्व कामा जाति की इसी अभिलाषा का प्रतीक है। लेकिन, रामाराव ने राजनीति में आने के लिए तेलगु भाषी लोंगो के हितों और स्वाभिमान की भावना पैदा करने का तर्क दिया। डी0 एम0 के0 संस्थापक रामास्वामी नायकर का अनुकरण करते हुए रामाराव ने भी समस्त तेलगुभाषियों के स्वाभिमान और आत्मगौरव की रक्षा का दावा करते हुए अपने पूर्ववर्ती नेताओं पर निजी हितों के लिए तेलगु हितों के बलिदान करने का आरोप लगाया। उन्होंने एक क्षेत्रीय दल की स्थापना के इस पारम्परिक तर्क पर भी जोर दिया कि राष्ट्रीय स्तर के दल राज्य की समस्याओं की जटिलताएं नहीं समझ सकते। उद्देश्यों एवं काय्रक्रमों के विचारधारात्मक पहलू पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। दल के कार्यक्रमों में भूमि-सुधार, शहरी सम्पन्न सीमा, स्कूली बच्चों के लिए दोपहर का भोजन, गरीबों को कम दाम पर चावल वितरण, इंजीनियरिंग कालेजों में प्रवेश के लिए 'दान' शुल्क पर रोक लगाने जैसे लोकप्रिय कार्यक्रमों को तरजीह दी गयी भ्रष्टाचार निषेध, पेयजल की व्यवस्था, ग्रामीण विकास और पंचायती राज की संस्थाओं को अधिक अधिकार देने के कार्यक्रम भी वरीयता क्रम में ऊपर थे। तमिलनाडु के क्षेत्रीय दलों की तरह इसने ब्राह्मण-विरोधी या बौद्धिकता-विरोधी रवैया नहीं अपनाया। तेलगु-देशम ने भारत देशम की अवधारणा पर बहस के माध्यम से क्षेत्रीय छवि छोड़कर, राष्ट्रीय छवि हासिल करने की सरकार में शिरकत करके इसने राष्ट्रीय स्तर पर अपनी मौजूदगी की अभिलाषा को कार्यरूप दिया। इस दौरान तेलगु देशन को भारी सफलता चुनावों में हासिल हुयी। परन्तु 1989 के चुनाव में आन्ध्र प्रदेश की राजनीति में कांग्रेस की वापसी से इसका लगभग सफाया हो गया लोकसभा में इसे 2 स्थान प्राप्त हुए एवं 1991 में 13 स्थान, पर सफलता मिल सकी थी। जबकि 1995 में तेलगु देशम पार्टी को पुनः भारी सफलता हासिल हुयी। आगे चलकर रामाराव की मृत्यु के बाद दल में बिखराव हुआ परन्तु इससे अपना वर्चस्व चन्द्रबाबू नायडु के नेतृत्व में बनाये रखा और केन्द्र की राजग सरकार को भी अपना समर्थन दिया।

परन्तु वर्तमान में कांग्रेस ने पुनः अपनी सत्ता कायम की और देलगु देशम को विधानसभा और लोकसभा के हाल ही में हुए चुनावों में भारी पराजय का सामना करना पड़ा।

(ज) उत्तर प्रदेश के क्षेत्रीय दल–उत्तर प्रदेश में भी कई प्रकार के क्षेत्रीय दल हैं–जो सामाजिक न्याय की स्थापना, दलितों एवं पिछड़ों का उत्थान एवं वर्ग शोषण के विरुद्ध अपनी आवाज बुलन्द करने का प्रयास करते रहे हैं। मुख्य क्षेत्रीय दलों में समाजवादी पार्टी जिसके अध्यक्ष मुलायम सिंह यादव हैं तथा बहुजन समाजवादी पार्टी जिसके नेता कांशीराम एवं मायावती हैं। समाजवादी दल का गठन 1991 में चन्द्रशेखर सिंह के नेतृत्व वाली समाजवादी जनता पार्टी से अलग होने के पश्चात् हुआ तथा वर्तमान में प्रदेश की सबसे बड़ी पार्टी होने के कारण अनेक छोटे-छोटे दलों के सहयोग से सत्तासीन है। पूर्व में भी मुलायम सिंह बहुजन समाजवादी पार्टी के समर्थन से सत्तासीन रहे परन्तु 2 जून 1995 को समर्थन वापसी के पश्चात समाजवादी पार्टी की सरकार गिर गयी। समाजवादी पार्टी भी कोई समाजवादी पहचान नहीं बना पायी। इसकी पहचान पिछड़े वर्गों (OBC's) के दल के रूप में है और इसके प्रभाव क्षेत्र में जाति विशेष के बाहुल्य वाले पूर्वांचल, केन्द्रीय उत्तर प्रदेश एवं पश्चिमी उत्तर प्रदेश के यादव, पिछड़े किसान आदि विशेष रूप से आते हैं। इसने अपने घोषणापत्र में पिछड़े वर्गों को सामाजिक न्याय दिलाना और आरक्षण नीति द्वारा इस लक्ष्य को प्राप्त करना प्रमुख अस्त्र के रूप में इस्तेमाल किया है। वर्तमान में लोकसभा में 36 स्थान प्राप्त करके सबसे बड़े दल के रूप में भी उभरा।

बहुजन समाजवादी पार्टी का गठन 1982 में हुआ। इस पार्टी ने प्रारम्भ में कई क्षेत्रों से चुनाव लड़ा, परन्तु सफलता 1985 के पश्चात ही हासिल हुयी जिसके बाद से इसके जनाधार में वृद्धि होती रही। इस दल की राजनीतिक प्रतिबद्धता प्रारम्भ से ही दलितों के उत्थान का रहा। अनुसूचित जातियों को संगठित कर एक स्वतन्त्र राजनीतिक शक्ति के रूप में इस दल को सरकार बनाने का अवसर भी भाजपा के सहयोग एवं समर्थन से और दूसरी बार इसके साथ गठबन्धन करके मिला। इसके सर्वोच्च नेता द्वारा मायावती एवं कांशीराम ही प्रेरणा स्रोत, नायक, सब कुछ है। यह खुल्मखुल्ला ब्राह्मणवाद का विरोध करता है और अनुसूचित जातियों का समर्थन। इसको दलितों का कल्याण एवं उद्धार करना है। इस हेतु यह दल किसी भी अन्य दल से चाहे वह कांग्रेस हो या भाजपा या वामपन्थी दल, हाथ मिलाने हेतु तैयार है। वर्तमान में केन्द्र की कांग्रेस सरकार के गठन में इसने अपना समर्थन दिया। आज बसपा 6 राष्ट्रीय दलों में से एक है। पिछले दशक से इस दल ने लोकसभा एवं विधानसभा के चुनावों में उत्तर प्रदेश में लगभग दूसरा स्थान बनाने में भी सफलता हासिल की है। (देखिए टेबुल 1)

(झ) मुस्लिम लीग–1906 में अंग्रेजों के सहयोग से इसका गठन हुआ। 1940 में मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान की माँग की जो देश बँटवारे के साथ पूरी हुई। स्वतन्त्रता के बाद भी मुस्लिभ लीग ने भारत में साम्प्रदायिक प्रचार जारी रखा। यह केवल अपने नाम के कारण स्वतन्त्रता पूर्व वाली मुस्लिम लीग का उत्तराधिकारी माना जाता है जिसने मालाबार जैसे केरल के कुछ भागों और तमिलनाडु के मुस्लिम बहुल्य क्षेत्रों में अपना स्थाई निर्वाचन आधार बना लिया है। चौथे आम चुनाव में और बाद में मध्यावधि चुनावों में इस दल को केरल में बहुत सफलता मिली। 1971 के लोकसभा चुनावों में भी कुछ स्थानों पर सफल रही। इसका उद्देश्य भारतीय मुस्लिमों के हितों की रक्षा करना है। यह दल केरल के अनेक संविद्य सरकारों में भागीदार रहा है और राष्ट्रीय स्तर पर इसने कांग्रेस का समर्थन किया है। अपने कार्यक्रम और लक्ष्य में यह एक समुदाय अभिमुख दल है।

(ञ) अन्य छोटे दल–वामपंथी दलों में "रिवोल्युशनरी सोशलिस्ट पार्टी" यद्यपि एक छोटी पार्टी है किन्तु केरल और पश्चिम बंगाल.में इसके समर्थन वाले स्थाई निर्वाचन क्षेत्र हैं। नेताजी सुभाष चन्द्र बोस की स्मृतियों को संजोये "अखिल भारतीय फारवर्ड ब्लाक" पश्चिम बंगाल में वामपंथी गुटों तथा यूनाईटेड फ्रन्ट का एक प्रमुख घटक बना रहा है। इसी प्रकार महाराष्ट्र युनाईटेड फ्रन्ट में पीज़ेन्ट्स एण्ड वर्कर्स की पार्टी ने भी निरन्तर क्रान्तिकारी और प्रगतिशील दलों का समर्थन किया। गोवा-

दमनदीव में "महाराष्ट्रवादी गोमान्तक पार्टी" की राष्ट्रीय चेतना निर्माण में अग्रणी भूमिका सुविख्यात है। इसने मंत्रिमण्डल निर्माण में सन्तुलनकर्त्ता के रूप में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। उड़ीसा में गणतंत्र परिषद का पारंपरिक समर्थन आधार पिछड़ी जातियाँ और जनजातियाँ हैं।

भारत के विभिन्न भागों में कई अन्य क्षेत्रीय दल और स्थानीय दल भी है। उनमें से कुछ अंतर्क्षेत्रीय हैं तो कुछ का विस्तार क्षेत्र नगर महापालिका तक सीमित है। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी दल हैं जो सांस्कृतिक संगठन होने का दावा करते हैं और बहुदलीय निर्वाचनों में शक्ति संतुलन का कार्य करते हैं। कुछ दल कतिपय समुदायों–जातियों के मत भंडार (वोट बैंक) बन जाते हैं। ये विभिन्न प्रकार के वैचारिक और राजनीतिक प्रवृत्तियों को प्रतिबिम्बित करते हैं। दक्षिणपंथी दलों में कुछ इस प्रकार हैं– महाराष्ट्र में शिवसेना, उत्तर प्रदेश का अखिल भारतीय रामराज्य परिषद, आन्ध्र प्रदेश में मजलिस-ई-इत्तिहादुल, उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र, पंजाब एवं मध्यप्रदेश में बहुजन समाज पार्टी एवं रिपब्लिकन पार्टी एवं समाजवादी पार्टी अनुसूचित एवं पिछड़ी जातियों की आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति करते हैं। प्रथम दो शेडूल्ड कास्ट फेडरेशन के उत्तराधिकारी के रूप में हरिजनों के हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

कुछ दल कभी-कभी सत्ता के साथ गठजोड़ करने में मध्यमार्गी या प्रगतिशील भूमिका निभाते हैं। कुछ समय पूर्व गठित चौधरी महेन्द्र सिंह टिकैत की 'भारतीय किसान यूनियन' तथा शरद जोशी का 'श्वेतकारी संगठन' नेता-अभिमुख, जाति आधारित जन संगठनों के उदाहरण हैं जिन्होंने समृद्ध किसानों और मध्यम श्रेणी के किसानों की समस्याओं पर अपना ध्यान केन्द्रित किया है। ये मुख्य रूप से दबाव समूह की भूमिका अदा करते हैं और बहुदलीय स्थिति में संतुलनकर्त्ता के रूप कार्य करने में समर्थ होते हैं।

12.4 भारत में क्षेत्रीय दलों की भूमिका एवं प्रवृत्तियाँ

भारत में राजनीतिक दलों की संख्या बहुत अधिक है इसके अतिरिक्त क्षेत्रीय दलों का विकास भी बहुत तेजी से हुआ है परन्तु 1977 से 1980 एवं 1989 से 1991 की अवधि को छोड़कर 1996 तक कांग्रेस केन्द्र में सत्ता में रही। 1989 के बाद से भारतीय राजनीतिक परिदृश्य में व्यापक बदलाव आया। क्षेत्रीय दल राजनीति पर सक्रिय प्रभाव डालने लगे। इसी वर्ष बनी राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार में जनता दल के साथ असम गण परिषद, तेलगु देशम, डी0एम0के0 आदि क्षेत्रीय पार्टियाँ भागीदार थीं। इसी प्रकार 1996 में संयुक्त मोर्चा मंत्रिमण्डल में 10 दल सम्मिलित थे, जिसमें 7 क्षेत्रीय दल थे। 1998 की वाजपेयी सरकार में 10 क्षेत्रीय दल शामिल थे और अनेक दल बाहर से समर्थन दे रहे थे। 1999 में भी राजग गठबन्धन में लगभग दो दर्जन दल शामिल थे जिनमें अधिकांशतः क्षेत्रीय दल ही थे। वर्तमान में कांग्रेस नेतृत्व में गठित संप्रग सरकार के गठन में भी अनेक क्षेत्रीय दलों का प्रमुख योगदान है। इसकी स्थिरता इन्हीं दलों की भूमिका एवं सहयोग पर टिकी है। यद्यपि क्षेत्रीय दल राष्ट्रीय एकता के लिए हानिकारक माने जाते हैं, परन्तु 1989 से राष्ट्रीय राजनीति में क्षेत्रीय दलों की भूमिका इस मत को नकारती दिखलाई पड़ती है।

इस प्रकार 1989 के चुनावों से भारतीय दलीय व्यवस्था में निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं–

(1) एक प्रधानदलीय व्यवस्था की स्थिति नहीं रही है जो पूर्व में कांग्रेस को प्राप्त थी। इस दौरान केन्द्र में जितनी भी सरकारें बनीं, वे क्षेत्रीय दलों के समर्थन पर ही टिकी हैं।

(2) राजनीतिक दलों में विभाजन एवं पृथक्करण की प्रक्रिया के कारण राजनीतिक समीकरण बनते और बिगड़ते रहते हैं। भाजपा के सन्दर्भ में भी यह कुछ महत्त्वपूर्ण नेताओं एवं असंतुष्टों के रूप में दिखाई पड़ता है जो इस विघटन एवं पृथक्करण से सबसे कम प्रभावित दल है।

(3) दलों को आज नेताओं के नाम से जाना जाता है न कि नेताओं को दल से; जैसे मुलायम सिंह यादव से सपा, लालू यादव से राजद, कांशीराम-मायावती से बसपा, करुणानिधि से डी0 एम0 के0, जयललिता से अन्ना डी0एम0के0, बनातवाला से मुस्लिम लीग आदि।

(4) सभी दल आर्थिक उदारीकरण और वैश्वीकरण के समर्थक हैं कुछ झिझक के साथ साम्यवादी इसका विरोध करते दिखते हैं परन्तु केन्द्र में उदारीकरण की प्रबल समर्थक कांग्रेस सरकार को बाह्य समर्थन भी देते हैं।

(5) कांग्रेस एवं वामपन्थी दलों के अतिरिक्त अन्य सभी दल भाजपा को सहयोग देने हेतु तैयार हैं। इस राजनीतिक परिदृश्य में भारतीय जनसंघ की उत्तराधिकारी भाजपा व राजनीतिक अश्पृश्यता से उद्धार हुआ और केन्द्र में सत्ता कायम करने में सफल रही।

(6) धर्म एवं सम्प्रदाय के आधार पर नये मुस्लिम दलों—मजलिस-ए-इत्तहादुल मुंसलमीन और संयुक्त अल्पसंख्यक मोर्चा का गठन हुआ है।

(7) जातीयता का प्रभाव कम होने के स्थान पर चुनावी राजनीति पर तेजी से बढ़ा है। इस आधार पर अनेक दल अपनी पहचान एवं राजनीतिक हैसियत बनाने के लिए बढ़ रहे हैं जैसे उत्तर प्रदेश में अपना दल, सपा, बसपा आदि।

(8) वर्तमान में दलीय प्रणाली में नैतिक मूल्यों की गिरावट, अवसरवादिता एवं वोट की राजनीति का महत्त्व स्पष्ट दिखाई पड़ता है। भारतीय राजनीति में काले धन का कुप्रभाव एवं बढ़ता हुआ राजनीतिक अपराधीकरण दलों ने वैचारिक एवं सैद्धान्तिक आधार की चूलें हिला दी हैं। दलों के बीच गुणात्मक अन्तर न पाकर जन समुदाय भी दिग्भ्रमित है जिसका स्पष्ट प्रभाव निर्वाचन में किसी भी दल का स्पष्ट बहुमत न आने में स्पष्ट रूप से झलकता है। इस कारण कोई भी एकदल अकेले सरकार बनाने की स्थिति में नहीं है और साझा सरकारें साझा कार्यक्रम के आधार पर अपरिहार्य आवश्यकता बन गयी हैं।

12.5 सारांश

अधिकांश क्षेत्रीय महत्त्वपूर्ण राजनीतिक संगठनों के रूप में निर्वाचकों के पर्याप्त समर्थन प्राप्त कर लेने के कारण भारतीय राजनीति में स्थायित्व प्राप्त कर चुके हैं। भारतीय राजनीति के संघीय लोकतांत्रिक ढाँचे में ये क्षेत्रीय एवं स्थानीय दल प्रमुखतया सामाजिक, आर्थिक एवं स्थानीय हितों के प्रति अपनी प्रतिबद्धता के कारण प्रासंगिक ही नहीं वरन् प्रभावशाली भी हो गये हैं। व्यावहारिक दृष्टि से इनमें से अधिकांश दल अपने आकार तथा राजनीतिक पृष्ठभूमि के आधार पर इनकी भूमिका दबाव एवं हित समूहों की विशिष्टता की प्रकट करती है। राष्ट्रीय दलों के सन्दर्भ में इनकी भूमिका एवं प्रभाव बढ़ता-घटता रहता है। कई क्षेत्रीय दल ऐसे हैं जो राज्यों में संविद सरकार बनाने में ही नहीं वरन् वर्तमान में केन्द्र में भी गठबन्धन की सरकारों के गठन में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। इस प्रकार भारतीय राजनीति में अस्थिरता में भी स्थिरता का दिग्दर्शन संभव हो पा रहा है। इसमें से कुछ क्षेत्रीय दलों ने कुछ राज्यों में स्थायी और प्रमुख राजनीतिक दलों के रूप में स्थायित्व प्राप्त कर लिया है। इस प्रकार भारतीय लोकतांत्रिक प्रक्रिया के विकास में कुछ ठहराव के साथ-साथ निरन्तरता बनी हुयी है।

12.6 उपयोगी पुस्तकें

1. सैम्पुल, जे0 ऐन्डर्स वेस्ड, पोलिटिकल पार्टीज : ए विह्वैविरल अनैलिसिस, शिकागो, रेण्ड मैम्नेली 1964.
2. राबर्ट सी0 बेन, एक्शन एण्ड आर्गनाईजेशन : एन इन्ट्रोडक्शन टू कन्टेम्परेरी पोलिटिकल साईन्स, न्यूयार्क, पारपर आरेरो, 1972।
3. जोसेफ ला पालोम्बारा, पालिटिक्स विद इन नेशन्स, न्यूयार्क, प्रेन्टिस हाल, 1974।

4. जी0 गोपाकुमार, रीजनल पोलिटिकल पार्टीज एण्डस्टेट पालिटिक्स, 1986।
5. इकबाल नारायन, स्टेट पालिटिक्स इन इण्डिया, 1978।
6. के0 बनर्जी, रीजनल पोलिटिकल पार्टीज इन इण्डिया, 1984।
7. जोया हसन, एस0 एन0 झा एण्ड आर0 खान (संवादित), द स्टेट पोलिटिकल प्रोसेसेज एण्ड आईडेन्टिटी, 1989।
8. पॉल वालेस एवं रामाश्रय राय (संपादकीय), इण्डियाज 1999 इलेक्शन्स एण्ड ट्वेन्टिपथ सेन्चुरी पालिटिक्स, दिल्ली, थाऊलैण्ड ओक, सेज पब्लिकेशन्स; 2003।

12.7 सम्बन्धित प्रश्न

(a) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. कांग्रेस पार्टी के इतिहास एवं उसकी वर्तमान नीतियों तथा कार्यक्रम का उल्लेख कीजिये?
2. भारतीय जनता पार्टी के गठन एवं वर्तमान राजनीति में उसकी भूमिका का विवेचना कीजिये?
3. भारत में क्षेत्रिय दलों की वर्तमान प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालिये।

(b) लघु उत्तरीय प्रश्न

1. किसी राष्ट्रीय दल के मान्यता प्राप्त करने के आधारों का संक्षिप्त विवरण दें।
2. क्षेत्रीय दलों की आधारभूत विशेषताओं को संक्षेप में दें।
3. भारत के साम्यवादी दलों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।

(c) वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. भारत में वर्तमान में कितने राष्ट्रीय दल हैं?

   (a) 4 (b) 6
   (c) 5 (d) 8

2. यह नारा किस दल का है–'सबके साथ न्याय किसी का तुष्टिकरण नहीं।

   (a) कांग्रेस (b) भाजपा
   (c) जनता दल (d) सपा

3. निम्न में कौन-सा दल साम्यवादी मोर्चे में शामिल नहीं है?

   (a) सी0 पी0 आई0 (b) सी0 पी0 आई0 (मार्क्सवादी)
   (c) समाजवादी पार्टी (d) फारवर्ड ब्लाक

4. किस दल में दोहरी सदस्यता के मसले पर फूट पड़ गयी–

   (a) जनता पार्टी (b) भाजपा
   (c) सामयवादी दल (d) समाजवादी जनता पार्टी·

5. निम्न में से कौन-सा क्षेत्रीय दल नहीं है?

   (a) अन्ना डी0एम0के0 (b) तेलगुदेशम
   (c) बसपा (d) अकाली दल

12.8 प्रश्नोत्तर

1. (b)
2. (b)
3. (c)
4. (a)
5. (c)

इकाई–13 दबाव समूह

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 भारत में दबाव समूहों का विकास

13.3 भारतीय दबाव समूहों की विशेषताएं

13.4 भारत में दबाव समूहों का वर्गीकरण

13.4.1 संस्थानात्मक दबाव समूह

13.4.2 समुदायात्मक दबाव समूह

13.4.3 असमुदायात्मक दबाव समूह

13.4.4 प्रदर्शनकारी दबाव समूह

13.5 दबाव समूहों में दोष

13.6 सारांश

13.7 उपयोगी पुस्तकें

13.8 सम्बन्धित प्रश्न

13.9 प्रश्नोत्तर

13.0 उद्देश्य

इस इकाई में भारतीय राजनीतिक प्रणाली के अन्तर्गत राजनीतिक हित एवं दबाव समूहों की चर्चा की गयी है। जिन प्रमुख राजनीतिक समूहों की चर्चा की गयी है वे हैं : संस्थानात्मक, समुदायात्मक, असमुदायात्मक एवं प्रदर्शनकारी समूह। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

- भारत में दबाव मसूहों के विकास एवं उसकी विशेषताओं की विवेचना कर सकेंगे,
- विभिन्न दबाव समूहों की प्रकृति, संरचना एवं भूमिका के विषय पर टिप्पणी कर सकेंगे,
- भारत में दबाव समूहों का वर्गीकरण कर सकेंगे,
- दबाव समूहों का भारतीय राजनीतिक प्रणाली पर पड़ने वाले प्रभावों का उल्लेख कर सकेंगे।

13.1 प्रस्तावना

विचार वैभिन्नता मनुष्यों में स्वाभाविक रूप से पायी जाती है। जब एक ही शरीर की दसों उँगलियों में समानता नहीं होती तो मानव-मानव के बीच वैचारिक साम्यता का न पाया जाना कोई अस्वाभाविक बात नहीं है। परन्तु जब एक समान विचार वाले व्यक्ति अपने विचारों या आवश्यकताओं की पूर्ति करने हेतु एक संगठन बनाकर अपने उन समान उद्देश्यों या लक्ष्यों को पाने का प्रयास करते हैं। तो इसी संगठन को हम समूह की संज्ञा देते हैं। आधुनिक जटिल समाजों में यह प्रवृत्ति पायी जाती है कि समान हितों और स्वार्थों की रक्षा हेतु व्यक्ति अपने को समूह में संगठित कर लेते हैं–ऐसे समूहों को ही हित समूह का या दबाव समूह कहा जाता है। इस प्रकार प्रत्येक समूह ऐसे सामूहिक हितों के लिए

काम करता है, जिनसे सभी सदस्यों का हित हो। मजदूरों के संगठन अपने सदस्यों के वेतन वृद्धि और काम की बेहतर शर्तों को मनवाने की कोशिश में रहते हैं, किसान संगठन कृषि उत्पादों के बेहतर दाम और भूमि करों में रियायत प्राप्त करने की दिशा में कार्यरत रहते हैं।

आमतौर पर ऐसा माना जाता है कि समूहों के हितों से संबंधित गतिविधियाँ राजनीतिक प्रक्रिया में जीवन-संचार का काम करते हैं–किसी राजनीतिक व्यवस्था को समझने के लिए प्रतिद्वन्द्वी समूहों और सरकारी नीतियों में उनकी हिस्सेदारी की समझ आवश्यक है। समूहों के उद्देश्यों की पूर्ति, पर्याप्त सीमा तक, राजनीतिक सत्ता की धुरी होती है। यदि समूहों को अपने हितों और आवश्यकताओं की अभिव्यक्ति का उचित माध्यम नहीं मिलता, तो वे असंतुष्ट हो जाते हैं। किसी भी राजनीतिक व्यवस्था की लय, इस तरह के असंतोषों और उसके प्रति अपने उत्तरदायित्वों के तालमेल पर निर्भर करती है।

किसी भी राजनीतिक व्यवस्था, विशेष रूप से लोकतंत्रीय समाज अपने संगठनिक आधार के कारण, समूहों की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। इस तरह के समूहों के कुछ उदाहरण हैं–व्यावसायिक समूह, प्रेस, नौकरशाही, ट्रेड यूनियन, कृषक समुदाय, छात्र संगठन आदि। इनमें से कुछ राजनीतिक समूहों के संगठनिक संरचना काफी मजबूत एवं संघन बनावट की होती है जैसे ट्रेड यूनियनें, व्यावसायिक संघ, नौकरशाही आदि। जबकि छात्रों और कृषक वर्ग के पास इतना सशकृत संगठनिक आधार नहीं है। छात्र, किसान और औरतों के संगठन प्रायः राजनीतिक दलों, समूहों और संस्थाओं से संबद्ध होते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि ये सदैव अपने सदस्यों की आवश्यकताओं का उपयुक्त माँग पेश करते हों; बल्कि प्रायः सम्बद्ध राजनीतिक दलों के लिए समर्थन जुटाने के माध्यम बन जाते हैं। स्वायत्तता की इस कमी के कारण इन समूहों को गंभीर परिणाम भुगतने पड़ते हैं। इससे होता यह है कि कुछ शक्तिशाली समूह राजनीतिक प्रक्रिया में इतने हावी हो जाते हैं कि अन्य समूह हाशिए पर चले जाते हैं। इस इकाई में भारतीय राजनीति को प्रभावित करने वाले कुछ प्रमुख समूहों की भूमिका और उनकी राजनीतिक गतिशीलता का अध्ययन किया जाएगा।

13.2 भारत में दबाव समूहों का विकास

भारत में 19वीं शताब्दी से एक नई सभ्यता का उदय होने लगा था जिसके लिए सामूहिक जीवन के लिए आधारों का होना नितान्त आवश्यक हो गया। नवोदित औद्योगीकरण तथा विकासशील नगरीकरण इस परिवर्तन के स्वाभाविक आधार थे। परम्परागत जनसमूह परम्पराओं एवं आधुनिकता के बीच सामंजस्य पैदा करने की राह खोज रहे थे। इसी कारण जाति एवं वर्गों का सह-अस्तित्व बना रहा। भारत जैसे विशाल देश की वैभिन्न्यता में एकता को बनाये रखने के लिए एक ओर जहाँ इसके कार्यरत अबोध एवं प्राचीन सभ्यता के आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में इस आधुनिकता एवं प्राचीनता (परम्पराओं) में टकराव की स्थिति न आये, इसके लिंए, इनके मध्य उचित तालमेल बनाये रखना, एक भारी चुनौती थी।

इस दौर में विदेशी साम्राज्यवाद के विरुद्ध उत्पन्न राष्ट्रीय चेतना और एक नए लोकतांत्रिक भविष्य की परिकल्पना के फलस्वरूप उन्नीसवीं शताब्दी में समाज-सुधार, आर्थिक उन्नति तथा राजनीतिक सुविधाओं के लिए अनेक समूह उभर कर आये। यही समूह भविष्य में राजनीति और आन्दोलन के केन्द्र बन गए। सन् 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना एक 'हित समूह' अथवा राजनीतिक मंच मात्र था, जिसका उद्देश्य राजनीतिक एवं सामाजिक क्षेत्र में ब्रिटिश सरकार से अधिकतम सुविधाएं प्राप्त करना था। ब्रह्म-समाज, प्रार्थना-समाज एवं भारत सेवक संघ की स्थापना भी समाज-सुधार के एक मंच के रूप में ही हुई थी।

भारत में दबाव समूहों का निर्माण स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व ही आरम्भ हो चुका था। कलकत्ता में 'इण्डिया लीग' नामक संस्था की स्थापना की गयी थी जिसका उद्देश्य ब्रिटिश सरकार से यह माँग करना था कि भारतीय लोक सेवा में भारतीयों के लिए स्थानों की संख्या में वृद्धि की जाय और इस

सेवा में प्रवेश के लिए निर्धारित आयु सीमा में भी वृद्धि की जाय। 1908 में क्रमिक आन्दोलन तेज हुआ और एक वर्ष के भीतर ही सात ट्रेड यूनियनों की स्थापना हुयी। राष्ट्रीय आन्दोलन में भी गाँधी जी के प्रभाव में तेजी आयी और इसे एक नयी दिशा मिली, जब चम्पारन में उन्होंने कृषकों के हितों की रक्षा हेतु सार्थक प्रयास किया और अंग्रेजी सरकार से सहुलियतें दिलायीं। 1920 में राष्ट्रीय स्तर पर एक ट्रेड यूनियन 'ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस' संगठित हुई, जिसके अध्यक्ष कांग्रेस दल के तत्कालीन अध्यक्ष लाला लाजपत राय को बनाया गया। इस प्रकार कृषक एवं श्रमिक वर्ग को संगठित कर कांग्रेस दल का एक जन-स्वरूप एवं आधार वाला दल बना और इसने राष्ट्रीय आन्दोलन को जन-आन्दोलन का रूप प्रदान किया। 1936 में राष्ट्रीय स्तर पर किसानों का एक संगठन 'आल इण्डिया किसान सभा' स्थापित हुयी जिसे कांग्रेस का निर्देशन एवं समर्थन प्राप्त था। इस सभा की ओर से जमींदारी उन्मूलन तथा भूमि के पुनर्वितरण की माँग की गयी।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात 1950 में भारत के अपने लोकतांत्रिक संविधान में नागरिकों के लिए भाषण एवं अभिव्यक्ति, सभी को सामुदाय एवं संघ करने एवं किसी प्रकार के व्यवसाय, व्यापार या कारोबार करने की स्वतन्त्रता का मौलिक अधिकार सुनिश्चित किया गया तभी से वास्तविक रूप में दल-व्यवस्था हित-समूहों, स्वतन्त्र प्रेस तथा संचार के माध्यम को व्यावहारिक मान्यता प्राप्त हुई। भारत के संविधान में सत्ता का स्रोत जनता को माना गया और सरकार के निर्माण का अधिकार जनता को प्रदान किया गया। प्रतिनिधात्मक शासन प्रणाली की स्थापना के कारण राजनीतिक दल स्वाभाविक रूप से बहुत अधिक क्रियाशील हो गये और व्यावहारिक राजनीति में जनसाधारण के भाग लेने के कारण स्वयं राजनीतिक दलों ने विभिन्न वर्गों को हितों के आधार पर संगठित करना आरम्भ किया। अतः भारत में व्यावसायिक, श्रमिक, व्यापारिक, कृषक, जातीय तथा साम्प्रदायिक हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले संगठनों का निर्माण हुआ।

13.3 भारतीय दबाव समूहों की विशेषताएँ

हित समूहों एवं दबाव समूहों के सम्बन्ध में कुछ बातें स्पष्ट कर देना आवश्यक है। अनेक अध्ययनों, पाठ्यक्रमों और लेखों में कई क्षेत्रीय और स्थानीय दलों, सामाजिक-साँस्कृतिक संगठनों को कभी-कभी गलती से हित और दबाव समूह की श्रेणी में रखा जाता है। यह सत्य है कि कभी-कभी दल और हित समूह का अन्तर अस्पष्ट हो जाता है क्योंकि कुछ संगठन कभी दल के रूप में कार्य करते हैं तो कभी हित समूह के रूप में और इस अस्पष्टता के कारण इनमें भेदकर पाना कठिन हो जाता है। फिर भी प्रत्येक संगठन या समूह के लिए यथोचित नाम देने में सावधानी रखनी चाहिए।

इसके अतिरिक्त यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि प्रत्येक हित समूह के लिए यह आवश्यक नहीं है है कि यह दबाव समूह या लॉबी बन जाए। प्रायः उद्योग, व्यापार और वाणिज्य के हित समूह दबाव समूहों की क्रियाविधि का प्रयोग करते हैं। इन कारणों से भारतीय हित व दबाव समूहों की प्रकृति व विशेषताओं का संक्षेप में उल्लेख करना आवश्यक है–

(1) भारत में विभिन्न हित समूहों का संगठन स्वतन्त्र व पृथक् न होकर राजनीतिक दलों के गठबन्धन से हुआ।

(2) राजनीतिक व्यवस्था में भारतीय दबाव समूहों को राजनीति में कम महत्त्व दिया जाता है तथा स्थापित राजनीतिक दल राजनीति में इन्हें भाग लेने से रोकने का प्रयास करते हैं और यदि भाग लेते भी हैं तो राजनीतिक दलों के माध्यम से ही भाग ले सकते हैं।

(3) भारत में सरकार के द्वारा सामाजिक, आर्थिक, व राजनीतिक विकास की गति तय होती है। अतः ये समूह कहीं न कहीं राजनीतिक दलों का सहारा अवश्य लेते हैं। अतएव

विभिन्न हित समूहों का प्रतिनिधित्व राजनीतिक दलों के माध्यम से होता है।

(4) भारतीय दबाव समूहों में अधिकांशतः परम्परागत आधार पर निर्मित वे समूह हैं जो किसी विशेष जाति व परिवार से सम्बन्धित होते हैं। साथ ही व्यापार एवं उद्योगों के संबंध में भी पुश्तैनी दबाव समूह अधिकतर पाये जाते हैं।

(5) भारत के दबाव समूहों का आधार हित वर्गों की अपेक्षा जातीयता पर अधिक रहता है। भले ही इससे आर्थिक व सामाजिक विकास बाधित होता हो, यहाँ पर जाति अथवा सम्प्रदाय के आधार पर गुट या हित समूह तेजी से उभरने लगे हैं।

(6) कभी-कभी ये दबाव समूह अपनी माँगों के सिलसिले में आन्दोलन और हिंसा जैसी प्रत्यक्ष कार्यवाही द्वारा उपद्रव उत्पन्न करते हैं जिससे क्षति भी उठानी पड़ती है। रजनी कोठारी का कहना है कि यदि आर्थिक माँगों को राजनीतिक ढंग से नहीं उठाया जाता तो इन समूहों का रुख आक्रामक होता है।

(7) भारतीय दबाव समूहों की स्थिति उतनी प्रभावशाली नहीं कही जा सकती जितनी पश्चिमी देशों के दबाव समूहों में देखी जाती है। भारत में इनका प्रभाव प्रशासन से कुछ सुविधाएं प्राप्त करने तक सीमित रहता है, सामान्यतया वे सरकार की नीतियों में परिवर्तन कराने की सामर्थ्य नहीं रखते। भारतीय समाज परम्परागत और आधुनिकता की विशेषताओं से युक्त रहा है। अतएव यहाँ के दबाव-समूहों में पश्चिमी और भारतीय विचारधारा से प्रभावित दोनों ही गुट पाये जाते हैं।

(8) भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में इस दबाव समूहों का प्रयोग प्रायः चुनाव हेतु ही अधिक पाया जाता है।

13.4 भारत में दबाव समूहों का वर्गीकरण

भारतीय समाज वैभिन्यता से परिपूर्ण है। ये दबाव समूह देश, समाज का प्रतिनिधित्व करते हैं। अतएव इनके स्वरूप में भी वैभिन्यता का दिग्दर्शन होता है। मॉरिस जोन्स के शब्दों में "यद्यपि भारतीय शासन व्यवस्था को सांगोंपांग समझना है तो गैर-सरकारी एवं अज्ञात समूहों की गतिविधियों का अध्ययन करना उपयोगी एवं अपरिहार्य है।" भारत में दबाव समूहों का आमण्ड पावेल ने चार श्रेणियों में विभाजन किया है–

1. संस्थानात्मक दबाव समूह (Institutional Pressure Groups)
2. समुदायात्मक दबाव समूह (Associational Pressure Groups)
3. असमुदायात्मक दबाव समूह (Non-Associational Pressure Groups)
4. प्रदर्शनकारी दबाव समूह (Anomic Pressure Groups)।

13.4.1 संस्थानात्मक दबाव समूह

संस्थानात्मक दबाव समूह राजनीतिक दलों, विधानमण्डल, प्रशासनिक सेवाओं सार्वजनिक और सुरक्षा सेवाओं, शैक्षिक एवं वैज्ञानिक कार्मिक, सार्वजनिक सेवाओं के कर्मचारी इत्यादि संगठनों में प्रभावी होते हैं। इन सेवाओं में प्रायः स्वायत्त रुप से क्रियाशील रहकर अपने हितों की अभिव्यक्ति करने के साथ ही ये समूह अन्य सामाजिक समुदायों के हितों का भी प्रतिनिधित्व करते हैं। ये समूह सामान्यतया अपने-अपने समूहों के हितों की रक्षा हेतु क्रियाशील होते हैं और अपने सदस्यों के हितों को सुरक्षा प्रदान करते हैं यथा कांग्रेस दल में कांग्रेस कार्य समिति, संसदीय बोर्ड, मुख्यमंत्री क्लब, केन्द्रीय चुनाव समिति आदि।

13.4.2 समुदायात्मक दबाव समूह

ये दबाव समूह विशेष हितों की पूर्ति के लिए बनाये जाते हैं। इनका स्वरूप परम्परागत एवं आधुनिक दोनों ही हो सकता है। परम्परागत सामाजिक संरचना पर आधारित समुदायों के रूप में संगठनात्मक हित समूह जैसे–धर्म, जाति, जनजाति, भाषा, संस्कृति पर आधारित समूह बनते हैं यथा पारसी अंजुमन, जैन सेवा संघ और एंग्लो-इण्डियन क्रिश्चियन एसोसिएशन, डी0 ए0 वी0 शैक्षणिक संस्थान, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ, जमात-ए-इस्लामी, तमिलनाडु का वन्नियायुक्त क्षत्रिय संगठन आदि।

आधुनिक समाज के प्रमुख केन्द्रों में जैसे–उद्योग , वाणिज्य, व्यापार, श्रम, कृषि, पत्रकारिता तथा विधि व्यवसायों से सम्बन्धित संगठनात्मक हित समूह।

13.4.2 (i) व्यापारिक समूह

व्यावसायिक संघों का उद्देश्य व्यावसायिकों के राजनीतिक, आर्थिक, व्यावसायिक और सामाजिक हितों की रक्षा करना है। इनका उदय और विकास, भारत में व्यापार, उद्योगों और बैंकों के विस्तार का परिणाम है। अंग्रेजी राज में बाजारोन्मुख उत्पादन तेजी से बढ़ा और परिणामस्वरूप भारतीय आर्थिक परिदृश्य में व्यापारियों के एक बड़े वर्ग का विकास हुआ। उस समय भारतीय व्यापारियों की मुख्य शिकायत सरकारी रियायतों और भारतीय व्यापारियों पर अधिक प्रतिबन्ध को लेकर थी। जिसका मुखर विरोध इनके द्वारा शुरू किया गया। इसे संगठित रूप प्रदान करने के लिए 1834 में कलकत्ता में "चैम्बर ऑफ कामर्स" की स्थापना हुई। 1887 में बंगाल नेशनल चैम्बर ऑफ कामर्स, 1907 में "दि इण्डियन मर्चेण्ट्स चैम्बर ऑफ बाम्बे" और 1909 में 'सदर्न इण्डिया चैम्बर ऑफ कामर्स" जैसे समूहों का विकास हुआ। साथ ही चाय, जूट एवं कोयले के उद्योगों में भी विकास के साथ ऐसे संगठनों का गठन हुआ।

कार्यनीति एवं माँगे

स्वतन्त्र भारत में भी ये व्यावसायिक संघ सरकारी नीतियों को अपने हित में प्रभावित करने के लिये संगठित रहे। इन समूहों में मुख्य हैं–फेडरेशन ऑफ इण्डियन चैम्बर्स ऑफ कामर्स एण्ड इण्डस्ट्री (F.I.C.C.I), एसोसिएटेड चैम्बर्स ऑफ कामर्स, आल इण्डिया मैनुफैक्चर्स आर्गनाइजेशन। इनका राजनीतिक दलों से सम्बन्ध होता है। ये समूह इन दलों के माध्यम से संसद से सम्पर्क में बने रहते हैं जिससे सरकारी नीतियों को अपने पक्ष में रखा जा सके। इनके मंत्रियों और स्थायी कर्मचारियों से व्यक्तिगत सम्पर्क होते हैं। इनका प्रेस पर नियन्त्रण है क्योंकि भारत में अधिकांशतः बड़े अखबार समूह किसी न किसी उद्योगपति द्वारा संचालित हैं, उदाहरणार्थ, 'टाइम्स ऑफ इण्डिया', इकोनामिक्स टाईम्स' डालमिया, जैन द्वारा, 'हिन्दुस्तान टाईम्स' 'ईस्टर्न इकोनामिक' बिड़ला द्वारा, 'स्टेट्स मैन' एवं कामर्स एटा और मफतलाल द्वारा, 'इण्डियन एक्सप्रेस' और 'फाइनेन्सियल एक्सप्रेस' गोईनका-द्वारा 'राष्ट्रीय सहारा' सहारा ग्रुप द्वारा चलाये जा रहे हैं। इन समाचार-पत्रों तथा मासिक पत्रिकाओं द्वारा व्यापारिक संघ सरकार के निर्णय तथा समस्याओं पर प्रकाश डालते हैं और जनमत को अपने पक्ष में करने का प्रयत्न करते हैं।

13.4.2 (ii) श्रमिक संघ

श्रमिक संघों का उद्देश्य श्रमिकों के विशेष हितों यथा आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और साँस्कृतिक की रक्षा करना होता है। इन संघों ने सरकार की नीतियों पर आंशिक प्रभाव डाला है। इनमें मुख्य हैं– भारतीय मजदूर संघ, यूनाइटेड कांग्रेस, इण्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस (INTUC) ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस (AITUC)।

इस समय 'ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस' तथा 'यूनाइटेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस' पर साम्यवादी दलों, 'हिन्द मजदूर सभा' पर समाजवादी दल और इण्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस पर कांग्रेस

दल का प्रभाव है। इन चारों में इण्डियन ट्रेड यूनियन कांग्रेस सबसे बड़ा श्रमिक संगठन है। जिसकी सदस्य संख्या अन्य संघों की अपेक्षा बहुत ज्यादा है।

कार्यनीति एवं विशेषताएँ

श्रमिक संघों की विशेषताएँ–भारतीय श्रमिक संघों की निम्नलिखित विशेषताएं उल्लेखनीय हैं–

(1) भारतीय श्रमिक संगठन सुसंगठित न होने के कारण सरकार पर अपना पूरा दबाव नहीं डाल पाते हैं।

(2) ये श्रमिक संगठन दलीय प्रभुत्व के अन्तर्गत कार्य करते हैं। ये राजनीतिक दल श्रमिकों के हितों की अपेक्षा दलीय हितों का ज्यादा महत्त्व देते हैं।

(3) इन श्रमिक संघों के विभिन्न राजनीतिक दलों से सम्बद्धता के कारण इनमें पारस्परिक मतभेद खुलकर सामने आता है जिसका विपरीत प्रभाव श्रमिकों के हितों पर पड़ता है।

(4) अधिकांश श्रमिकों के अशिक्षित होने के कारण उनका नेतृत्व श्रमिकों के हाथों में न होकर शब्दों के बाजीगर राजनीतिक नेताओं के हाथों में होता है।

(5) श्रमिक संगठनों की आर्थिक स्थिति डाँवाडोल होने के कारण वे अपने उद्देश्यों को प्रभावशाली ढंग से प्रचारित-प्रसारित नहीं कर पाते।

(6) श्रमिक संगठन अपनी कुछ माँगों को मनवाने में सफल हुए हैं यथा मजदूरी की दरें बढ़वाना, कार्य की दशाओं में सुधार आदि, परन्तु ये फलता भी उन्हें पारस्परिक वार्ता और राजनीतिक नेताओं के माध्यम से ही प्राप्त हुई है न कि सामूहिक सौदेबाजी से।

13.4.2 (iii) कृषक समुदाय

19वीं शताब्दी के आरम्भ में कृषक आन्दोलन बंगाल, महाराष्ट्र और पंजाब में शुरू हुए उन आन्दोलनों का यद्यपि कोई व्यापक असर नहीं हुआ। 1917 में गाँधी जी ने चम्पारन में नील की खेती करने वाले किसानों को संगठित कर शोषणकारी परिस्थितियों से मुक्ति दिलाई, 1918 में गुजरात, में लगान वसूली के खिलाफ किसानों से सत्याग्रह कराया। 1928 में लगान के विरुद्ध "वारदौली सत्याग्रह' कराया। 1932 में जूट और कपास के उत्पादकों को कांग्रेस ने संगठित किया। 1936 में कांग्रेस ने लखनऊ अधिवेशन में एक कृषि सुधार योजना अपनायी। इसके लिए इसी वर्ष कुछ कांग्रेसियों एवं साम्यवादी दल के नेताओं द्वारा आल इण्डिया किसान कांग्रेस की स्थापना की गयी। कुछ कांग्रेसियों द्वारा **किस संग**ठन का विरोध किया गया, इसलिए 1937 में इस संगठन का नाम बदलकर 'आल इण्डिया **कांग्रेस** सभा' कर दिया गया। यह संगठन आज भी साम्यवादी दल के प्रभुत्व में है।

अन्य **दलित भी** कृषक संगठन बनाये–जैसे समाजवादी दल ने 'हिन्द किसान पंचायत' तथा वामपन्थी दलों में 'संयुक्त किसान सभा'। किसान लॉबी के प्रभाव के कारण सरकार कृषि पर आयकर नहीं **लगा** सकी है। मार्च 1977 के चुनावों के बाद स्थापित जनता पार्टी शासन में किसान लॉबी का प्रभाव बढ़ा। चौ0 चरण सिंह ने "किसान रैली" और "किसान सम्मेलन" के माध्यम से किसानों को संगठित करने का प्रयास किया। वित्तमंत्री के रूप में उन्होंने अपने बजट में खाद, डीजल, कृषि उत्पादन, आदि पर **रियायते देनें** का प्रयत्न किया। गुजरात में 'भारतीय किसान संघ' ने सितम्बर 1986 में मार्च 1987 तक 17 **विराट प्रदर्शन** तथा कई रैलियाँ निकालीं।

पूर्व में पश्चिम बंगाल में 'तेभगा आंदोलन' "आन्ध्र प्रदेश में तेलगांना आन्दोलन" उत्तर प्रदेश में 'भूमि पर कब्जा करने' और बिहार-एवं अन्य प्रान्तों में भी किसान आन्दोलन हुआ। यहाँ कृषकों को संगठित करने एवं नेतृत्व देने हेतु साम्यवादी दल एवं कुछ क्षेत्रीय दल आगे आये। वर्तमान में उत्तर प्रदेश में 'भारतीय किसान यूनियन' के नाम से एक किसान संगठन का निर्माण चौ0 महेन्द्र सिंह टिकैत के

नेतृत्व में हुआ। इस संगठन का उत्तर प्रदेश सरकार से अनेक अवसरों पर टकराव हुआ। 25 अक्टूबर 1988 से अक्टूबर 1988 तक नई दिल्ली के इण्डिया गेट के आगे बोट क्लब पर लगभग दो लाख किसानों ने हिस्सा लेकर अपनी संगठनिक क्षमता एवं शक्ति का प्रदर्शन किया। भारतीय किसान यूनियन के ढर्रे पर 'शेतकारी संगठन' ने महाराष्ट्र; कर्नाटक के सीमावर्ती कस्बे निपानी में 'रास्ता रोको' जैसे आन्दोलनों से सरकार का ध्यान किसानों की समस्याओं की ओर आकर्षित करने का प्रयास किया जिससे तम्बाकू उगाने वाले किसानों की समस्याएं दूर की जा सकें। ये किसान व्यापारियों, बिचौलियों और थोक-विक्रेताओं की मिली-जुली धूर्तता और ठगी के शिकार थे।

इन सभी किसान समूहों में आपसी अन्तर्विरोध भी काफी है। धनी किसानों के हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले किसान समूहों के लिए, गरीब किसानों को लामबन्द कर पाना कठिन होता है। भारतीय किसान यूनियन के जातीय और कुनबाई आधार के चलते इसके लिए गरीब जाट किसानों को भी लामबन्द कर पाना संभव हो सका है। पश्चिमी उत्तर प्रदेश के जाटों का कुनबाई स्वरूप आपसी भाईचारा भारतीय किसान यूनियन की ताकत का स्रोत बन गया। कुनबे के प्रधान भारतीय किसान यूनियन की स्थानीय इकाइयों के भी प्रधान हैं।

माँगें व कार्यनीति– अन्य दबाव समूहों के विषय में भी यह होना चाहिए इन समूहों के माँग-पत्रों का अध्ययन करने से पता चलता है कि इनकी माँगें कृषि उत्पादों, विशेषकर कपास, मूंगफली, तंबाकू और गन्ने के दामों में बढ़ोत्तरी और बिजली के ठीकेदारों में रियायतें तथा कर्जमाफी आदि के इर्द-गिर्द घूमती हैं। इन माँगों से एक बात स्पष्ट है कि ये किसान समूह अपने हितों को गरीब और भूमिहीन मजदूरों के हितों से दूर रखते हैं। इनकी माँगों में खेतिहर मजदूरों के लिए उचित मजदूरी का कहीं कोई जिक्र नहीं होता। बल्कि टिकैत तो, समय-समय पर भूमि-सीमा संबंधित कानून और न्यूनतम मजदूरी अधिनियम को समाप्त करने की माँग करते रहे हैं। शरद जोशी ने अब अपने माँग-पत्र में खेतिहर मजदूरों के लिए बीस रूपये न्यूनतम मजदूरी की माँग जोड़ दी है।

इस संभागीय माँगों के बावजूद ये संगठन, मूल्य-निर्धारण, कर-संरचना और आर्थिक नियोजन और विकास की राष्ट्रीय नीतियों को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं। इन नेताओं का यह तर्क है कि सरकार की विकास संबंधी नीतियों में इन खेतिहर कृषकों के हितों की उपेक्षा साफ दिखाई पड़ती है अतएव इन नीतियों का विरोध पूरे कृषक समुदाय के हित में है। नौकरशाही एवं सरकार का विरोध उनकी रणनीति का दूसरा महत्वपूर्ण हिस्सा है क्योंकि बिजली, सिंचाई, खाद, बीज, कीटनाशक आदि किसानों के हितों एवं उत्पादों के लिए मूलभूत आवश्यकताएं हैं। कृषक समुदाय इनके लिए सरकार पर निर्भर होते हैं। इसलिए सरकार की नीतियों को किसानों के हितों की ओर मोड़ने के लिए रैलियों, रास्ता रोको, गाँव बन्द जैसे आन्दोलन के तरीके अपनाते हैं, भले ही वे बातें गाँधीवाद एवं अहिंसात्मक तरीकों को अपनाये जाने की करते हों, किन्तु इनके आन्दोलनों में जुझारूपन एवं किसान-राज के नारों का वर्चस्व सपष्ट रूप से पाया जाता है।

अन्य समूहों की भाँति ही किसान-हितों के प्रतिनिधिगण भी गुटबाजी, राजनीतिक दलों के नेताओं एवं प्रशासनिक अधिकारियों से लॉबिईंग, मुख्यमंत्रियों एवं विधायकों के माध्यम से अपनी माँगों को पूरा करवाने के लिए प्रयासरत रहते हैं। इन किसान-समूहों द्वारा किसान-संसद, सम्मेलनों एवं विचार-गोष्ठयों के माध्यम से सरकार का ध्यान अपने हितों की ओर खींचने का प्रयास भी किया जाता है। ये लोक लुभावने नारों यथा शरद जोशी के "भारत बनाम इण्डिया, गाँव बनाम शहर" के माध्यम से अपनी समूह वैचारिक पृष्ठभूमि को भी रखने का प्रयास करते हैं जिससे गाँवों एवं शहरों के बीच के असन्तुलन के प्रति बढ़ते असंतोष और अलगाव की भावना की झलक स्पष्ट रूप से झलकती है। आज यह भावना जोर पकड़ रही है कि राष्ट्रीय विकास में किसानों के सर्वाधिक योगदान के बावजूद भी इनके हितों की लगातार उपेक्षा की जा रही है। इस प्रकार वे सरकार की नीतियों को कुछ हद तक किसान हितों की ओर आकर्षित करने में सफल भी हुए हैं।

13.4.2 (iv) छात्र-समुदाय

भारतीय राजनीति में छात्रों का समूह एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक पहलू है। छात्र समुदाय ने राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया था और औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध लामबन्द होकर राष्ट्रीय आन्दोलन को व्यापक समर्थन दिलाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। 1921 में गाँधी के असहयोग आन्दोलन में छात्रों ने सरकारी सहायता प्राप्त शिक्षा संस्थाओं से अपना नाता तोड़ लिया था और भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में इनकी सक्रिय भागीदारी रही।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद छात्रों की गतिविधियों में काफी बदलाव हुआ। स्वतन्त्रता पाने से पूर्व मुद्दे लगभग स्पष्ट थे, लक्ष्य था–स्वाधीनता। अंग्रेजी शासन के अन्त के साथ ही सामाजिक बदलाव का स्पष्ट उद्देश्य सामने था किन्तु आज की परिस्थितियों में छात्र समुदाय विश्वविद्यालय और अपने-अपने विद्यालयों की स्थानीय समस्याओं में ही उलझकर रह गया है और अपनी व्यापकता खोता जा रहा है। 1960 के दशक में अलग राज्य की माँग करने वाले राज्यों में छात्रों ने काफी सक्रियता दिखाई। 1965 में मद्रास के भाषाई आन्दोलन, 1965-66 के खाद्यान्न आन्दोलन और 1970 के दशक में जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में उत्तर भारत में 'सम्पूर्ण क्रान्ति' के दशक में भी छात्रों की सक्रिय भूमिका रही। 1980 के दशक में असम एवं पंजाब के क्षेत्रीय आन्दोलनों में भी छात्रों की भूमिका सक्रियता भरी रही। 'आज असम स्टूडेन्ट्स यूनियन' को नेतृतव करने वाले प्रफुल्ल कुमार महन्त एवं भृगुफुकंन तो मुख्यमंत्री एवं गृहमंत्री भी बने जो इसके क्रमशः अध्यक्ष एवं महामंत्री थे। उसी तरह पंजाब समस्या में 'आल सिख स्टुडेन्ट्स फेडरेशन' की भूमिका उल्लेखनीय है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि इनमें से किसी भी छात्र आन्दोलन का उद्देश्य यूरोप के 1960 के दशक के छात्र आन्दोलनों के उद्देश्य के विपरीत सामाजिक परिवर्तन नहीं है।

माँगे एवं कार्यनीति

छात्रों के संगठनों का संबंध राजनीतिक दलों से होने के कारण विश्वविद्यालयों का राजनीतिकरण, छात्र जीवन में महत्त्वपूर्ण प्रभाव छोड़ता है। ये राजनीतिक दल दो प्रकार से हस्तक्षेप करते हैं। एक तो सरकारी हस्तक्षेप विशेषतया राज्यों के स्तर पर दूसरे राजनीतिक दलों के विभिन्न घटकों का हस्तक्षेप। कई मामलों में ये राजनीतिक दल इस छात्रसंघों पर वैचारिक वर्चस्व स्थापित करके, विश्वविद्यालय के अन्दर तथा बाहर विरोधी विचारधारा के दलों से निपटने के लिए छात्रसंघों को अपना आधार बनाकर काम करते हैं। जहाँ एक तरफ राजनैतिक दल छात्रसंघों को अपने उद्देश के लिए इस्तेमाल करते हैं वही दूसरी तरफ, छात्रनेताओं को भी इससे चुनावी राजनीति में प्रवेश का रास्ता मिल जाता है। कुछ प्रमुख छात्र संगठनों में 'अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद' (ABVP) का संबंध भारतीय जनता पार्टी से, स्टूडेन्ट्स फेडरेशन ऑफ इण्डिया (SFI) का संबंध साम्यवादी दल से, नेशनल स्टूडेन्ट्स यूनियन ऑफ इण्डिया (NSUI) का संबंध कांग्रेस से, समाजवादी युवजन सभा का सम्बन्ध समाजवादी दल से है। ये दल इनका आर्थिक पोषण करते हैं तो इनके आह्वान पर सरकार के विरुद्ध ये हड़तालें, बन्द, घेराव करते हैं।

स्वतन्त्रता के बाद उच्च शिक्षा में हुए व्यापक विस्तार ने छात्रों में मोहभंग पैदा किया। विश्वविद्यालयों एवं कालेजों में शिक्षा के स्तर में गिरावट आयी। प्रारम्भिक एवं माध्यमिक शिक्षा; उच्च शिक्षा के लिये मार्ग प्रशस्त करने में कोई विशेष मदद नहीं करती। उच्च शिक्षा प्राप्त बहुजन से नवयुवक या तो बेरोजगार हैं या ऐरी नौकरियाँ करने हेतु विवश हैं जो उनकी योग्यता से काफी नीचे स्तर की होती हैं। इससे इनमें कुंठा का प्रसार होता है और अनुशासनहीनता पैदा होती है।

भारत में छात्र समुदाय का कोई राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य नहीं है और छात्रों का एक बहुत छोटा हिस्सा ही इनमें शरीक होता है। इनमें से अधिकांशतया तो क्षेत्रीय और जातीय स्तर पर बँटे होने के कारण राष्ट्रीय स्तर पर इनकी लामबन्दी या एकजुटता देखने को नहीं मिलती। इन कारणों से छात्र समुदाय के

संगठनों में दिशा बोध का अभाव पाया जाता है और इसकी असीम शक्ति का प्रयोग राष्ट्रीय विकास एवं सामाजिक परिवर्तन जैसे रचनात्मक उद्देश्यों में न होकर व्यर्थ के संकुचित राजनीतिक हतों की प्राप्ति में होने लगता है जिससे राष्ट्रीय विकास में इनकी सार्थक भूमिका दिशाहीन होकर अवरोध पैदा करने लगती है।

13.4.2 (v) अन्य समुदाय

सरकारी कर्मचारी समूह–सरकारी कर्मचारी संगठन भी अपने समूहों के हितों की सुरक्षा की दृष्टि से विभिन्न संघों एवं समूहों में संगठित होते हैं और सरकार की गलत नीतियों को जो उनके पक्ष में नहीं होती उन्हें अपने हिते में करने के लिए दबाव डालते रहते हैं। इन संगठनों की माँगें मुख्यतया वेतन पुनिरीक्षण तथा मँहगाई भत्ते आदि के सम्बन्ध में इसके लिए वे हड़तालें, बन्द आदि का सहारा लेते हैं। इनमें मुख्य हैं–आल इण्डिया रेलवेमेन एसोसिएशन, ऑल इण्डिया पोस्ट एण्ड टेलीग्राफ वर्कर्स यूनियन, ऑल इण्डिया टीचर्स एसोसिएशन।

महानगरों और नगर केन्द्रों में दूसरे अनेक व्यवसायों से जुड़े संगठन और रोजगार-समूह होते हैं जो अपनी-अपनी माँगों एवं आवश्यकताओं के अनुसार कार्य करते हैं। इनमें से कुछ प्रमुख हैं, यथा, पत्रकार–वर्किंग जर्नलिस्ट एसोसिएशन, एडीटर्स गिल आदि, अधिवक्ता, चिकित्सक, शिक्षक व वैज्ञानिकों के समूह।

साम्प्रदायिक संगठन– भारत में साम्प्रदायिक आधार पर संगठन पाये जाते हैं; जो सामुदायिक हितों की दृष्टि से बनाये जाते हैं जैसे–'हिन्दू महासभा', कायस्थ सभा, भारतीय ईसाइयों की अखिल भारतीय परिषद, पारसी परिषद आदि। इन संगठनों की विशिष्ट माँगें होती हैं; उन्हीं को प्राप्त कराने के उद्देश्य से ये सरकार को प्रभावित करते हैं।

13.4.3 असमुदायात्मक समूह

ये समूह समय-समय पर विशेष और सीमित उद्देश्यों के लिए प्रभावी होते हैं। इनका गठन अस्थाई रूप से हित विशेष की प्राप्ति की दृष्टि से किया जाता है, और जब वे अपना हित प्राप्त कर लेते हैं तो इनका अस्तित्व भी लुप्तप्राय हो जाता है। इनके गठन का आधार प्रायः साम्प्रदायिक, धार्मिक, जातीय, भाषागत, बेरोजगारी, क्षेत्रीय एवं स्थानीय आवश्यकताएँ ही होती हैं। साम्प्रदायिक तथा धार्मिक आधार पर बनने वाले संगठनों में कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं : (यह सब स्थायी रुप से कार्यरत हैं) मुस्लिम मजलिस, विश्व हिन्दू परिषद, बाबरी एक्शन कमेटी, जमायत-ए-इस्लाम-ए-हिन्द, जैन समाज, चर्च, वैष्णव समाज, नैय्यर समाज, सिन्धी समाज आदि। इन संगठनों की अपनी पाठशाला, विश्वविद्यालय, छात्रावास आदि भी हैं। ये निर्वाचनों में सक्रिय होकर राजनीतिक दलों के लिए कार्य करते हैं।

जातीय समुदायों का भारतीय समाज एवं राजनीति में बहुत अर्से से प्रयास रहा है। सामान्यतया समाज के विभिन्न वर्गों के लोग अपनी पहचान एवं हित पूर्ति हेतु जातिगत समूहों का निर्माण करते हैं। सामान्यतया राजनीतिक हितों की प्राप्ति का आज की भारतीय राजनीतक दलों में सहारा लेने का प्रचलन बढ़ता ही जा रहा है, भले ही समाज की संरचना पर इसका बुरा प्रभाव पड़ता हो औरं राष्ट्रीयता की भावना का हनन होता हो। तमिलनाडु में नादर जाति संघ, आन्ध्र प्रदेश में कार्यरत हैं और रेड्डी जाति समुदाय, राजस्थान में जाट और राजपूत, गुजरात में क्षत्रिय महासभाः उत्तर प्रदेश में यादव, कुर्मी, भूमिहार, क्षत्रिय, दलित आदि ने अपने आपको जाति संगठनों में संगठित करके राजनीति को प्रभावित करने का प्रयास किया है। इस दृष्टि से विभिन्न जातियों द्वारा आरक्षण की माँग आज काफी जोरों से की जा रही है। आज जाति का प्रभाव प्रत्याशी चुनने में मंत्रिमण्डल गठन में, मतदान करते समय सामान्य रूप से देखा जा सकता है।

भाषागत समुदायों ने भी राजनीति में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। राज्यों का बँटवारा भाषा के आधार

पर हुआ, जैसे 1953 में आन्ध्र प्रदेश का निर्माण, 1960 में मुम्बई राज्य का विभाजन और महाराष्ट्र और गुजरात का निर्माण, 1966 में पंचाब का विभाजन। उत्तर प्रदेश में उर्दू भाषा को राजकीय मान्यता प्राप्त सूची में स्थान दिलाना भाषागत आधार पर किए गये कार्य हैं।

भारत में ऐसे भी संगठन हैं जिनके गठन का उद्देश्य गाँधीवादी नीतियों को लागू करना रहा है, जैसे सर्वसेवा संघ, सर्वोदय, भूदान, खादी ग्रामोद्योग संघ, गाँधी शान्ति प्रतिष्ठान आदि। इनका प्रभाव शासकीय नीतियों पर भी पड़ा है। इनका उद्देश्य सार्वजनिक कल्याण के लिए होता है। इनके प्रमुख नेताओं में आचार्य बिनोबा भावे, जय प्रकाश नारायण, काका कालेकर, दादा धर्माधिकारी आदि रहे हैं।

भारतीय राजनीत को प्रभावित करने वाला सिण्डीकेट का प्रभाव 1160-70 के दशक तक रहा है। यह शब्द एक संगठन के लिए प्रयुक्त होता था जिसमें कांग्रेस के कुछ प्रभावशाली नेता और मुख्यमंत्री थे। उन्होंने नेहरू जी के उत्तराधिकारी के रूप में लाल बहादुर शास्त्री के चयन में, कामराज को कांग्रेस का अध्यक्ष बनाने में, इन्दिरा जी को 1966 में प्रधानमंत्री बनाने में, चौथे आम चुनाव के बाद मोरार जी देसाई को उप-प्रधानमंत्री बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। धीरे-धीरे इनका प्रभाव कम होता गया और 1969 में कांग्रेस के विभाजन के साथ इसका प्रभाव समाप्त हो गया।

भारतीय राजनीति में युवाशक्ति के रूप में युवा तुर्क का प्रादुर्भाव 1969 के पश्चात होता है। यह समाजवादी एवं वामपंथी विचारों वाले लोगों का संगठन था जिसके प्रमुख नेताओं में चन्द्रशेखर का नाम प्रमुख था जिनकी अध्यक्षता में आगे चलकर 1977 में जनता पार्टी का गठन हुआ। ये समाजवादी निर्णयों पर बल देते हैं। भारतीय संविधान में 24वें, 25वें व 26वें संशोधनों को कराने में इन समाजवादी गुटों का प्रभाव स्पष्ट तौर पर दिखलाई पड़ता है।

13.4.4 प्रदर्शनकारी दबाव समूह

प्रदर्शनकारी दबाव मूह अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अतिशय दबाव अथवा कभी कभी व्यवस्था को चोट पहुँचाने वाले हिंसात्मक उपायों का सहारा भी लेते हैं। अपने हितों की प्राप्ति की दृष्टि से संविधानेत्तर उपायों पर बल देते हैं। इनमें जम्मू कश्मीर लिबरेशन फ्रन्ट, बब्बर खालसा, खालिस्तान कमाण्डो फोरस (पंजाब), उल्फा (आसाम), रणवीर सेना (बिहार), पीपुल्स वार ग्रुप आदि प्रमुख हैं। ये अपने उद्देश्यों की पूर्ति हेतु राजनीतिक हत्या, हिंसा, दंगे,सार्वजनिक सम्पत्ति को नुकसान पहुँचाना, आग लगाना, विरोध दिवस या काला दिवस मनाना आदि पर बल देते हैं। इनका तर्क यह होता है कि सरकार इन लोगों की न्यायोचित माँगों की उपेक्षा करती है, वह शान्तिपूर्ण माँगों की ओर ध्यान नहीं देती तो ये दबाव समूह इस प्रकार की कार्यवाही करते हैं।

13.5 दबाव समूहों में दोष

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में विभिन्न दबाव समूहों की प्रकृति, स्वरूप एवं भूमिका से परिचित होने के पश्चात हम इनमें पाये जाने वाले दोषों को देखने का प्रयास करेंगे, जो निम्नलिखित हैं–

(1) दबाव समूहों के कारण जातियता, साम्प्रदायिकता एवं क्षेत्रीयता जैसी घातक प्रवृत्तियाँ राष्ट्र के विकास में बाधाएँ पहुँचाने लगती हैं।

(2) दबाव समूह संकीर्ण विचारधारा को बढ़ावा देते हैं जो शनैः - शनैः उग्रपन्थी विचारों को जन्म देते हैं और समाज आतंकवाद, हिंसा के दौर से गुजरता है।

(3) ये समूह अनशन, सत्याग्रह, हड़ताल जैसे अवैधानिक साधन अपनाते हैं जिससे कानून व्यवस्था भी प्रभावित होती है और राज्य अव्यवस्था एवं अराजकता की ओर बढ़ता है।

(4) इन समूहों पर विदेशी सहायता का प्रभाव भी स्पष्ट दिखायी पड़ता है।

(5) भारत में इनकी कार्यशैली प्रायः गुप्त रखी जाती है जन-सामान्य को इसकी सूचना नहीं

मिलती।

(6) दबाव गुट अपने उद्देश्य की पूर्ति हेतु रिश्वत और धन देकर विधायकों को अपनी ओर करके, अपने हितों में नीतियाँ बनवाते हैं।

(7) सरकारी कर्मचारी समूहों द्वारा कलमबन्द, अचानक कामरोको आदि साधनों के प्रयोग करने से प्रशासन ठप्प हो जाता है जिससे जनसामान्य बुरी तरह प्रभावित होते हैं।

दोषों को दूर करने के उपाय

लोकतंत्र में विचारों की अभिव्यक्ति पर रोक लगाना अनुचित है क्योंकि सभी को अपने विचारों के प्रगटीकरण की स्वतन्त्रता होती है। इस कारण अपने अपने विचारों के अनुरूप अनेक दोषों के होने वे बावजूद दबाव गुट आज की राजनीतिक व्यवस्था में अपनी अनिवार्यता बढ़ाते जा रहे हैं। आज यह प्रश्न नहीं महत्त्वपूर्ण है कि इनका अस्तित्व हो अथवा नहीं, वरन् यह प्रश्न ज्यादा महत्त्वपूर्ण है कि इनकी भूमिका को कैसे सार्थक बनाया जाय, इनके दोषों को कैसे सुधारा जाय। इस हेतु कुछ उपाय किये जाने चाहिये, जो निम्नवत् हैं–

(1) दबाव गुटों का पंजीयन अनिवार्य रूप से कराया जाना चाहिए।

(2) दबाव गुटों के संगठनिक ढाँचे अर्थात् इसकी सदस्य संख्या का विवरण भी नियमित रूप से प्रकाशित होते रहना चाहिए।

(3) इन गुटों के कार्यों एवं उपलब्धियों तथा आय-व्यय का लेखा-जोखा आदि की वार्षिक रिपोर्ट भी प्रकाशित होना चाहिए।

(4) दबाव गुटों का विधिवत् संविधान होना चाहिए।

(5) दबाव गुटों के द्वारा किये जाने वाले अनुचित कार्यों को रोकने के लिए सरकार द्वारा कठोर कदम उठाये जाने चाहिए।

(6) दबाव गुटों पर निरन्तर निगरानी रखने हेतु सरकार को ठोस गुप्तचर व्यवस्था रखनी चाहिए, जिससे इनकी विधि-प्रतिकूल भूमिका पर नियंत्रण रखा जा सके।

13.6 सारांश

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में समूहों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सामूहिक एवं सामुदायिक हित सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक प्रक्रिया में जीवन संचार करने का काम करते हैं। व्यावसायिक समूह, प्रेस और धनी किसानों के पास अपने मजबूत सांगठनिक आधार हैं जबकि मजदूर, छोटे किसान, छात्र और औरतों के समूह सांगठनिक दृष्टि से राजनीतिक दलों और अन्य संगठनों पर निर्भर हैं, इनकी क्रियाप्रणाली पर इन राजनीतिक पार्टियों की छाप स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर होती है।

प्रेस राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्दों पर महत्त्वपूर्ण सूचना और परिप्रेक्ष्य प्रदान करता है, परन्तु भारत में अधिकांशतया प्रेस पर उच्च व्यापारिक घरानों का एकाधिकार है जिससे इसमें स्वतन्त्र सोच एवं बेबाक रूप से सामाजिक-राजनीतिक मुद्दों पर विचारों का अभाव होता है। इसलिए, प्रेस की स्वाधीनता आवश्यक है।

व्यावसायिक समूह का उद्भव व विकास 19वीं शताब्दी में उद्योग और व्यापार के विकास से जुड़ा हुआ है। सामान्यतया आर्थिक व्यवस्था पर अपने वर्चस्व के कारण, यह समूह संसद, नौकरशाही और राजनीतिक दलों के माध्यम से सफलतापूर्वक अपने सामूहिक हितों को आगे बढ़ाता है।

राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान छात्रों का समूह महत्त्वपूर्ण राजनीतिक समूह के रूप में उभरा और

युवाशक्ति ने संगठित होकर स्वतन्त्रता आन्दोलन में अपनी सार्थक भूमिका का निर्वहन भी किया। इस दौरान इसका लक्ष्य स्पष्ट रहा, परन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद इस समूह की भूमिका अन्य देशों के छात्रों की भूमिका जैसी निर्णायक नहीं रही। देश की प्रगति एवं विकास के सन्दर्भ में छात्र समूहों की युवा शक्ति का सार्थक उपयोग नहीं किया जा सका।

कृषि के आधुनिकीकरण के साथ किसानों ने भी अपने को एक राजनीतिक समूह के रूप में संगठित करना प्रारम्भ किया। संख्या की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होने के कारण कृषक वर्ग, भारत की दलीय व्यवस्था में आकर्षण का प्रमुख केन्द्र रहा। अपनी निर्णायक संख्या शक्ति के बल पर यह समूह समय-समय पर सरकारी नीति-निर्धारण में अपनी मौजूदगी का एहसास कराते रहे हैं।

उपर्युक्त संगठित समूहों के अतिरिक्त भारतीय राजनैतिक व्यवस्था में समय-समय पर विशेष और सीमित उद्देश्यों के लिए अस्थाई हित समूह भी बनते रहते हैं। जब उनका उद्देश्य पूरा हो जाता है तो उनका जोश ठंडा पड़ जाता है और धीरे-धीरे इनका अस्तित्व भी विलुप्त होने लगता है। इस प्रकार के दबाव समूहों द्वारा इस्पात कारखाने और सार्वजनिक क्षेत्र इकाईयाँ स्थापित करने, राज्यों के बीच नदी जल-वितरण की समस्या हल करने, जिले की सीमा निर्धारण या एक राज्य से दूसरे राज्य में एक जिले को मिलाने की माँग, एक भाषा-समूह के लिए शैक्षिक और न्यायालीय सुविधाएं प्राप्त करने, वैयक्तिक कानून पर किसी विधेयक के लिए दबाव डालने, किसी शैक्षिक या सांस्कृतिक संस्थान का अल्पसंख्यक स्वरूप सुरक्षित रखने, किसी प्रतिकूल विधेयक को निरस्त करने की मांग शामिल है। यह अस्थाई समूह प्रायः स्थायी हित समूहों की शाखाएँ होती हैं।

13.7 उपयोगी पुस्तकें

1. V.O. Key, Political Parties and Pressure Groups; 5th ed. New York, 1964
2. Myorn weiner, The Politics of scarcity : Public Pressure and Political Response in India, Chicago, University of Chicago Press, 1962.
3. Peter Odegard, Pressure Politics : The Story of the Anti-Saloon Leagere, Columbara Press, 1928.
4. P. Altbach, 'Turmoil and Transition : Higher Education and Students Politics in India', Labhwani, Bombay, 1968.
5. स्टैनली कोचेनक, बिजनेस एण्ड पालिटिक्स इन इण्डिया, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क, 1983.
6. गेल ऑवेट, विमेन इन पॉपुलर मूवमेन्ट्स : इण्डिया एण्ड थाईलैण्ड, 1786.
7. जेनेफर सेसवाद, विमेन एंड सेल्फ रिलायन्स इन इण्डिया, जेड बुक्स, लंदन, 1989.
8. एलेन आर० बाल, माड्न पालिटिक्स एण्ड गवर्नमेन्ट, मैकमिलन, लण्डन, 1971
9. राबर्ट सी। बोन, एक्शन एण्ड आर्गनाईजेशन : एन इन्ट्रोडक्शन टू कन्टेम्पोरेरी पोलीटिकल साईन्स, हार्पर एण्ड टो, न्यूयार्क, 1972
10. जे० सी० जौहरी, 'कम्परेटिव पालिटिक्स', स्टर्लिंग, नई दिल्ली, 1972.
11. सी० बी० गेना, 'तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीतिक संस्थाएं', मॉडर्न प्रिण्टर्स, 1978
12. एस० सी० सिंहल, भारतीय शास्त्र एवं राजनीति, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा, 2004.

13.8 सम्बन्धित प्रश्न

(a) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. भारतीय दबाव समूह की विशेषताओं और भारतीय राजनीति में उनकी भूमिका का आलोचनात्मक विवेचन कीजिये।
2. भारत में श्रमिक संघों की भूमिका एवं उनके महत्व पर प्रकाश डालिये।
3. भारत में कृषक आन्दोलन और उसमें कृषक समुदायों की भूमिका की विवेचना कीजिये।

(b) लघु उत्तरीय प्रश्न

1. भारत में दबाव समूहों के विकास पर दस पंक्तियाँ लिखें।
2. प्रमुख व्यापारी एवं कृषक संगठनों में से दो-दो संगठनों का नाम लिखें एवं उनकी विशिष्टता भी स्पष्ट करें।
3. भारत में छात्र समुदायों पर अपने विचार प्रकट करें।

(c) वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. 'आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस' की स्थापना हुयी थी–

   (a) 1908 में (b) 1918 में

   (c) 1920 में (d) 1928 में

2. भारत में दबाव समूहों का आमण्ड-पावेल ने कितनी श्रेणियों में वर्गीकरण किया है?

   (a) तीन (b) चार

   (c) पाँच (d) छः

3. "चैमबर ऑफ कामर्स" की स्थापना किस वर्ष हुयी?

   (a) 1807 (b) 1817

   (c) 1814 (d) 1834

4. शरद जोशी कौन-से किसान संगठन से जुड़े हैं?

   (a) भारतीय किसान यूनियन (b) हिन्द किसान पंचायत

   (c) शेतकारी संगठन (d) इनमें से कोई नहीं

5. 'नेशनल स्टूडेण्ट्स यूनियन ऑफ इण्डिया' नामक छात्र संगठन किस राजनीतिक दल से सम्बन्धित है?

   (a) साम्यवादी (b) समाजवादी

   (c) भाजपा (d) कांग्रेस

13.9 प्रश्नोत्तर

1. (c), 2. (b), 3. (d), 4. (c), 5. (d)

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय

MAPS-107

भारतीय शासन एवं राजनीति

खंड

5

भारतीय राजनीति में उभरती हुयी प्रवृत्तियाँ

इकाई 14

जाति एवं धर्म की भूमिका 5

इकाई 15

क्षेत्रीयतावाद एवं राष्ट्रीय एकीकरण 15

इकाई 16

नेतृत्व का बदलता हुआ स्वरूप 28

इकाई 17

दल-बदल की राजनीति 38

विशेषज्ञ समिति

प्रो. आर.के. मणि त्रिपाठी अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष दीन दयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय गोरखपुर	विषय विशेषज्ञ
प्रो. एल.डी. ठाकुर अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष राजनीतिशास्त्र विभाग लखनऊ विश्वविद्यालय लखनऊ	विषय विशेषज्ञ
प्रो. एस.एम. सईद राजनीतिशास्त्र विभाग लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ	विषय विशेषज्ञ
डॉ. मंजूलिका श्रीवास्तव रीडर, इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय नई दिल्ली	दूरस्थ शिक्षा विशेषज्ञ
प्रो. एस. के. द्विवेदी राजनीति शास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय लखनऊ	सम्पादक

परामर्श समिति

प्रो. केदार नाथ सिंह यादव, कुलपति	अध्यक्ष
डॉ. हरीश चन्द्र जायसवाल, वरिष्ठ परामर्शदाता	कार्यक्रम संयोजक
प्रो. के. पी. सिंह, वरिष्ठ परामर्शदाता	सदस्य
डॉ. अर्जुन तिवारी, वरिष्ठ परामर्शदाता	सदस्य
प्रो. ए.यन. द्विवेदी, वरिष्ठ परामर्शदाता	सदस्य
डॉ. रत्नाकर शुक्ला, कुलसचिव	सचिव

PGPS-04 :– भारतीय शासन और राजनीति

लेखक मण्डल

खण्ड एकः	**प्रो. एस.एम. सईद**, राजनीति शास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ	3 इकाई
खण्ड दोः	**प्रो. एस.एम. सईद**, राजनीति शास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ	3 इकाई
खण्ड तीनः	**प्रो. बी.के. तिवारी**, राजनीति शास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ	4 इकाई
खण्ड चारः	**डॉ. वी.के. राय, रीडर**, राजनीति शास्त्र विभाग, इला. विश्वविद्यालय, इलाहाबाद	3 इकाई
खण्ड पाँचः	**डॉ. एम. शाहिद, रीडर**, राजनीति शास्त्र विभाग, इला. विश्वविद्यालय, इलाहाबाद	4 इकाई

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सर्वाधिकार सुरक्षित, इस कार्य का कोई भी अंश उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की लिखित अनुमति के बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुति अनुमति नहीं है।

दूरस्थ शिक्षा परिषद नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित

खण्ड 4 का परिचय : भारतीय राजनीति में उभरती हुई प्रवृत्तियाँ

भारतीय राजनीति के बारे में कहा जाता है कि उस पर पारम्परिक और आधुनिक दोनों कारकों का प्रभाव है। वर्तमान राजनीति पर पारम्परिक प्रवृत्तियों का अपेक्षाकृत अधिक प्रभाव परिलक्षित हो रहा है। आज व्यावहारिक राजनीति पर धर्म, जाति और क्षेत्रीयता के तत्व अधिक हावी हो रहे हैं। राजनीतिक दलों की नीतियाँ एवं उनके कार्य मुख्यत: इन्हीं तत्वों के प्रभाव में संचालित होते हैं। इन तत्वों के प्रभाव ने नेतृत्व के स्वरूप के भी बहुत हद तक परिवर्तित किया है। आज नेतृत्व पर समाज सेवा की अपेक्षा येन केन प्रकारेण सत्ता प्राप्ति की प्रवृत्ति प्रभावी है। इसी प्रवृत्ति ने राजनीति में दल बदल को बढ़ावा दिया है।

प्रस्तुत खण्ड भारतीय राजनीति के उपर्युक्त संदर्भो पर आधारित है।

इकाई 14 : जाति एवं धर्म की भूमिका

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

14.1 प्रस्तावना

14.2 भारतीय समाज में जाति–व्यवस्था

14.2.1 राजनीतिक व्यवस्था का जाति व्यवस्था पर प्रभाव

14.2.2 जाति–व्यवस्था का राजनीति पर प्रभाव

14.2.3 जाति की भूमिका

14.3 धर्म और भारतीय राजनीतिक व्यवस्था

14.3.1 धर्म–निर्पेक्ष संविधान

14.4 धर्म और राजनीतिक दल

14.5 सारांश

14.6 उपयोगी पुस्तकें

14.7 संबंधित प्रश्न

14.8 प्रश्नोत्तर

14.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

- जाति एवं धर्म के सम्बन्ध का उल्लेख कर सकेंगे,
- इनके राजनीतिक व्यवस्था पर पड़ने वाले प्रभावों का विश्लेषण कर सकेंगे।

14.1 प्रस्तावना

अंग्रेजों के शासनकाल में ही राजनीतिक एवं आर्थिक लाभों के बंटवारे तथा आधुनिक शिक्षा के प्रसार से भारत में जातीय एवं धार्मिक समूहों में अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता बढ़ी है। जहां उन्होंने इन सामाजिक संस्थाओं का प्रयोग अपने हितों की पूर्ति हेतु किया था वहीं राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ ही साथ स्वतंत्रता के ध्येय के बावजूद विभिन्न जाति एवं धर्म समूह अपने अपने हितों के लिये आन्दोलन करने लगे। संविधान तो उदार लोकतांत्रिक सिद्धान्तों को प्रतिबिम्बत करता है परन्तु भारतीय राजनीति एवं समाज वास्तविक राजनीति एवं उसकी अन्त: क्रिया को स्पष्ट करता है। आगामी पंक्तियों में भारत में जाति एवं धर्म का विश्लेषण किया गया है।

14.2 भारतीय समाज में जाति-व्यवस्था

ऐसा माना जाता है कि भारत में जाति प्रथा का उदय करीब ढाई हजार वर्ष पहले हुआ था। भारतीय समाज की संरचना के आधार जाति (वर्ण) और उप-जाति (उप-वर्ण) हैं। यह व्यवस्था स्तरीकृत और विभाजक है। इसमें पवित्रता और अपवित्रता जैसे द्विभाजक तत्व होते हैं। पहले चार व्यापक जाति समूह (ब्राह्मण, क्षत्रीय, वैश्य, शूद्र) हैं। इसके बाद उप-वर्ण (उप-जाति) समूह हैं। सन् 1901 की जनगणना के अनुसार भारत में कुल 2738 जातियां थीं। उसके बाद जाति अनेक गोत्रों में विभाजित है। सम्भवत: वर्ण-व्यवस्था का सूत्रपात श्रम और व्यवसायिक वर्गों के विभाजन से हुआ था जो कालान्तर में जन्म पर आधारित कठोर अन्तविवाही बन गया। आज यह कर्म काण्ड, विवाह और वंशगत अन्य सामाजिक परम्परा और रीति रिवाजों तथा अन्तर जातीय गतिविधियों से सम्बद्ध है। जाति-व्यवस्था का सब से हानिकारक पक्ष था--पिछड़ी एवं निम्न जातियों के प्रति छुआ-छूत का व्यवहार तथा उनकी उपस्थिति, स्पर्श या सम्पर्क को अपवित्रता का कारण माना जाना।

जाति व्यवस्था से समाज में विभेदीकरण, ऊँच नीच, छुआ छूत जैसी कुरीतियों को बढ़ावा मिला। इसे प्राचीन एवं मध्य युगीन भारतीय समाज में गलत तरीके से धार्मिक मान्यता भी मिली जिसने मान शोषण को सरल बना दिया। भारत में हिन्दुओं के साथ अन्य धर्मावलम्बियों पर भी इस व्यवस्था का प्रभाव पड़ा। समय-समय पर इस व्यवस्था का विभिन्न धर्म एवं समाज सुधार आन्दोलनों द्वारा विरोध किया जाता रहा किन्तु जाति व्यवस्था की जड़ें काफी गहरी जमी हुई थी। अंग्रेजों के आगमन एवं औपनिवेशिक काल की नीतियों ने जब आधुनिक शिक्षा और मान्यताओं को प्रशासनिक नीतियों के माध्यम से बढ़ावा देना शुरू किया तो बौद्धिक स्तर पर इसका विरोध तथा प्रतिक्रिया स्वरूप उसका समर्थ तीव्र हुआ। जाति व्यवस्था का सबसे बुरा रूप यह रहा कि इसने कुछ तबकों को अछूत और जाति-विहीन घोषित कर दिया और फिर इसके बहाने उन्हें जमीन के स्वामित्व, मन्दिरों में प्रवेश तथा गांव के कुओं आदि पानी के स्रोतों से वंचित रखा। अछूतों के अलावा अन्य सभी जातियों को यहां तक कि उनके सबसे निचले तबकों को भी अछूतों से शारीरिक सम्पर्क स्थापित करने से मनाही थी। वे उनके हाथों का भोजन या पानी तक स्वीकार नहीं कर सकते थे।

गांव में छोटे दर्जे का काम अछूत किया करते जैसे सफाई, पानी ढोना, मरे जानवरों की खाल निकालना इत्यादि। साथ ही वे खेतिहर मजदूरों का काम भी करते थे।

उच्च वर्ग के लोग धर्म की व्याख्या तथा शासन को अपना एकाधिकार समझते थे। निम्न वर्ग के लोगों में उदासीनता तथा प्रजा भाव व्याप्त था। इसलिये भारत के इतिहास में समय समय पर चलने वाले आन्दोलनों का दीर्घकालिक प्रभाव नहीं पड़ा। परन्तु उन्नीसवीं सदी से इस व्यवस्था में दरारें पड़ने लगी। औपनिवेशिक शासन के कारण भारत में बड़े आर्थिक परिवर्तन होने लगे। कृषि उत्पादन में व्यवसायीकरण, ठेकेदारी प्रथा, फैक्ट्रियों, मण्डियों, सरकारी सेवाओं, फौज, शिक्षा इत्यादि में गांव से बाहर उभरते अवसरों के फलस्वरूप अछूतों की स्थिति में परिवर्तन आया। महाराष्ट्र में ज्योतिबा फूले तथा केरल में श्री नारायण गुरू ने जाति व्यवस्था एवं असमानता पर प्रश्न चिह्न लगाये। 1920 के दशक से प्रारम्भ होने वाली वामपंथी राजनीति ने भी जाति एवं धर्म की मान्यताओं को चुनौती देते हुये समाज का आर्थिक वर्ग विश्लेषण प्रस्तुत किया। गाँधी जी का योगदान भी इस सन्दर्भ में काफी व्यापक रहा।

14.2.1 राजनीतिक व्यवस्था का जाति व्यवस्था पर प्रभाव

इस प्रकार भारत में स्वतंत्रता से कुछ पूर्व तथा पश्चात जाति की सामाजिक स्थिति को चुनौती मिलने लगी। आजादी के बाद जातीय अन्याय एवं असमानता दूर करने की दिशा में कई कार्य

किये गये। संविधान ने धर्म, जाति, लिंग, भाषा, वर्ण इत्यादि के भेद-भाव से परे सभी नागरिकों को राजनीतिक अधिकार प्रदान किये। साथ ही संविधान के मौलिक अधिकारों के तहत अनुच्छेद 17 में अस्पृश्यता को समाप्त करने का प्रावधान किया गया तथा छुआ-छूत से सम्बन्धित किसी भी प्रकार के भेद-भाव को कानूनन दण्डनीय अपराध घोषित किया गया।

संविधान के द्वारा अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लिये विधायिकाओं, शैक्षिक संस्थाओं और सरकारी सेवाओं में सीटों के आरक्षण का प्रावधान भी जोड़ा गया। यद्यपि भारतीय समाज परम्परागत है लेकिन उसमें आधुनिक राजनीतिक संस्थाओं की स्थापना की गयी हैं। इस प्रकार परम्परा एवं आधुनिकता के बीच क्रिया-अन्त:क्रिया के फलस्वरूप जाति परम्परागत सामाजिक स्थिति में कमजोर होते हुए भी राजनीतिक लाभों एवं शक्तियों की प्राप्ति के लिये सुदृढ़ हुयी है।

ब्रिटिश कालीन भारत में शक्ति और लाभ प्राप्ति के लिये संघर्ष पहले पहल समाज के पद सोपान में कुछ प्रमुख जातियों तक ही सीमित था। आरम्भ में इसका लाभ उन्हीं व्यक्तियों के सीमित समुदाय को मिल सका जिन्होंने पश्चिमी शिक्षा को अपनाया था। अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार बम्बई एवं मद्रास प्रेसीडेन्सी क्षेत्रों में पहले हुआ इसलिये जाति चेतना का यहां तीव्र विकास हुआ। हालाकि ऐसा सोचा जाता था कि भारत में राजनीतिक आधुनीकीकरण प्रारम्भ होने के पश्चात् भारतीय समाज से जातिवाद का अन्त हो जायेगा। किन्तु आजादी के बाद से अब तक राजनीतिक संस्थाओं की कार्य प्रणाली और सामान्य राजनीतिक जीवन के अनुभव से यह स्पष्ट है कि अभी भी सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था पर जातिवाद का प्रभाव विद्यमान है।

जाति ने भारत में राजनीतिक प्रक्रिया को जहाँ प्रभावित किया वहीं राजनीति ने जाति व्यवस्था पर भी अपने स्पष्ट प्रभाव छोड़े। राजनीति एक प्रतियोगी प्रक्रिया है। इसमें व्यक्ति, समूह समुदाय हर एक कुछ लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये राजनीतिक सत्ता को प्राप्त करना चाहता है। स्वतंत्र भारत में व्यस्क मताधिकार का सिद्धांत स्वीकार किया गया जबकि स्वयं संविधान निर्मात्री सभा के अधिकांश सदस्य भारत की विशेष परिस्थितियों जैसे निर्धनता, व्यापक निरक्षरता तथा सामाजिक भेद-भाव के कारण व्यस्क मताधिकार के सफल होने में संदेह व्यक्त कर रहे थे। व्यस्क मताधिकार के साथ ही समानता का सिद्धान्त लागू हुआ अर्थात नागरिकों को बिना धर्म, लिंग, जाति, क्षेत्र के भेद-भाव के राजनीतिक प्रक्रिया में भाग लेने का अवसर प्रदान किया गया। उच्च राजनीतिक पद जो अब तक उच्च जातियों के एकाधिकार समझे जाते थे, समाज के हर छोटे बड़े, अमीर गरीब, उच्च और निम्न जाति के लोगों के लिये उपलब्ध हो गये। अंग्रेजों ने अपने शासन काल में भारत में राजनीति में सभी वर्गों की समानता का तर्क प्रस्तुत कर निम्न वर्गों को भी राजनीति में आने के लिये प्रेरित किया। इस तरह स्वतंत्र भारत में संविधान द्वारा राजनीतिक स्वतंत्रता और समानता का कोई विरोध नहीं हुआ जिसके फलस्वरूप सामाजिक असमानता की दीवारें कमजोर पड़ने लगी। सरकार का निर्माण और परिवर्तन व्यस्क मताधिकार की प्रणाली में बहुमत की इच्छा द्वारा होता है। ऐसी स्थिति में राजनीतिक सत्ता को प्राप्त करने के प्रत्येक इच्छुक समूह को अन्य समूहों की सहायता और समर्थन प्राप्त करना आवश्यक हो गया। इस तरह उच्च जातियों को निम्न जातियों से समर्थन प्राप्त करना जहां आवश्यक था वहीं राजनीतिक प्रक्रिया के सार्वभौम होने के कारण निम्न जातियों में अपनी शक्ति बढ़ाने एवं तीव्र करने की भावना तेज हुई। इस राजनीतिक व्यवस्था में ब्राह्मणों तथा क्षत्रीयों को शूद्रों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना आवश्यक हो गया। राजनीतिक आधुनीकीकरण ने सामाजिक प्रतियोगिता के नये द्वार खोल दिये। परम्परावादी समाज में सामाजिक स्थिति बिना किसी प्रतियोगिता के जन्म एवं पैत्रिक स्थिति से प्राप्त होती थी। आधुनिक राजनीति में स्थिति निर्धारण का आधार व्यक्तिगत उपलब्धि करार पाई। अत: विभिन्न जातियों को अपनी परम्परावादी बन्धनों को तोड़कर एक दूसरे के समर्थन को प्राप्त करने के लिये हाथ बढ़ाना पड़ा। कहीं कहीं तो धार्मिक एवं सामाजिक रूप से न

चाहते हुए भी राजनीतिक आवश्यकताओं ने भारत की परम्परावादी जाति व्यवस्था में मौलिक परिवर्तन करते हुए विभिन्न जातियों के बीच पारस्परिक सहयोग की भावना को विकसित किया।

प्रत्येक जाति समूह ने यह महसूस किया कि राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने, अपने हितों को सुरक्षित रखने और राजनीति के माध्यम से सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने हेतु राजनीति के बदलते हुए मूल्यों का अपनाना जरूरी है जिसके कारण समाज की सभी जातियों का सक्रीय राजनीतिकरण प्रारम्भ हो गया।

राजनीतिक व्यवस्था के परिवर्तनों के कारण राजनीतिक क्षेत्र सर्वसाधारण के प्रवेश के लिये खुल गये तथा उच्च जातियों की परम्परावादी अभिवृत्ति में भी परिवर्तन हुआ। इस प्रकार जाति व्यवस्था का परम्परावादी स्वरूप परिवर्तित हो गया।

जाति व्यवस्था के परम्परावादी स्वरूप के परिवर्तन के पीछे तीन प्रमुख कारण रहे है। (1) संस्कृतिकरण (2) पश्चिमीकरण तथा (3) राजनीतिक आधुनिकीकरण।

संस्कृतिकरण का प्रयोग/सबसे पहले समाज शास्त्री एम०एन० श्रीनिवास ने (सोशल चेंज इन माडर्न इन्डिया, 1966) किया। उनके अनुसार देश में होने वाले पुनर्जागरण तथा बौद्धिक पुनरूत्थान ने निम्न जातियों को उच्च जातियों के आचार-विचार तथा रहन सहन को अपनाने के लिये प्रेरित किया। और उन्होंने अपने परम्परावादी व्यवसाय को बदलकर ऐसे व्यवसायों को अपनाना शुरु किया जो उच्च जातियों के लिये थे। यहाँ तक कि कुछ निम्न जातियों ने सम्मानपूर्ण स्थिति प्राप्त करने के लिये अपना जाति चिह्न तक परिवर्तित कर दिया। विभिन्न व्यक्तियों की जाति को पहचानने का आधार उनका बाह्य आचरण, रहन सहन और व्यवसाय होता है। संस्कृतिकरण की प्रक्रिया ने जाति विभेदीकरण और जाति-श्रेणीकरण के परम्परागत स्वरूप को काफी हद तक बदल दिया।

पश्चिमीकरण ने स्वाभाविक रूप से धार्मिक अंधविश्वासों और जाति व्यवस्था के प्राकृतिक और धार्मिक आधार को चोट पहुंचाई और इस विचारधारा को विकसित किया कि एक उन्नत और विकसित राष्ट्र के निर्माण के लिये प्रत्येक व्यक्ति के कार्यों का निर्धारण उसकी व्यक्तिगत क्षमता के आधार पर किया जाना चाहिये। राष्ट्रीय आन्दोलन ने जातिवाद की उपेक्षा करते हुए देश की स्वतंत्रता के लिये सभी व्यक्तियों का सहयोग और समर्थन प्राप्त करना चाहा विशेष रूप से गाँधीजी ने शूद्रों और निम्न जाति के लोगों को ऊपर उठाने और सामाजिक भेदभाव को समाप्त करने का उपदेश दिया।

राजनीतिक आधुनिकीकरण ब्रिटिश काल में प्रारम्भ हुआ तथा आजादी के बाद उसे भारत में तीव्र गति मिली। भारतीय संविधान ने स्वतंत्रता, समानता, धर्म-निर्पेक्षता के सिद्धान्तों को अपनाया। राजनीतिक पदों को जनतांत्रिक तरीके से व्यस्क मताधिकार के द्वारा प्राप्त करने की व्यवस्था की गयी जिससे शिक्षित, अशिक्षित, ग्रामीण एवं शहरी प्रतियोगी राजनीति में भाग लेने लगे। अब प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह ब्राह्मण हो या क्षत्रीय, वैश्य हो या शूद्र प्रतियोगी राजनीति में भाग लेने लगा। इसी से प्रत्येक जाति समूह का मूल उद्देश्य अपनी जातीय शुद्धता को बनाये रखने के बजाये अपनी जाति के हितों को अधिक से अधिक बढ़ावा देना हो गया। राजनीतिक संस्थाओं में प्रवेश के माध्यम से जातीय समूह अपने हितों को सुरक्षित एवं विकसित कर सकते थे। राजनीतिक संस्थाओं में प्रवेश के लिये निर्वाचन प्रणाली का मार्ग खुला था। परिणामत: राजनीतिक पदों की प्राप्ति के लिये बहुमत का समर्थन प्राप्त करना आवश्यक हो गया। इस स्थिति ने उच्च जातियों के सदस्यों को जो संख्या में कम हैं निम्न जातियों के साथ घुल-मिल जाने को विवश कर दिया। राजनीतिक प्रक्रिया से अलग रहने का मतलब विभिन्न आर्थिक लाभों से अपने को वंचित रखना था। इसलिये प्रत्येक जाति ने सक्रिय राजनीति में भाग लेना शुरू कर दिया।

पश्चिमीकरण और आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के फलस्वरूप संचार और परिवहन के साधनों

का विकास हुआ। उदारवादी विचारों को जनता के एक भाग के द्वारा स्वीकृति मिलने लगी एवं **देश के विभिन्न** भागों में रहने वाले लोगों के बीच विचारों का आदान-प्रदान प्रारूभ हुआ। जाति समूहों को सुदृढ़ किया जाने लगा लेकिन जातीय शुद्धता के **लिये नहीं** बल्कि जातीय संगठनों के माध्यम से राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने के लिये। इस प्रकार जातीय संगठन अब व्यक्तिगत राजनीतिक लाभों को प्राप्त करने का साधन बन गया। दूसरी ओर राजनीतिक समर्थन के कारण ही उच्च जाति का व्यक्ति निम्न जाति के व्यक्ति के साथ उठने-बैठने, खाने-पीने एवं उनकी सामाजिक क्रियाओं में शामिल होता है क्योंकि उसके बिना उसे कौन वोट देगा?

राजनीतिक संस्थाओं के प्रतिनिधिक स्वरूप ने अनेक दलों को जन्म दिया और विभिन्न जातियों के लोग उन में शामिल होने लगे यहाँ तक कि राजनीतिक आवश्यकताओं ने ब्राह्मणों एवं शूद्रों को एक ही राजनीतिक मंच पर खड़ा कर दिया। फलस्वरूप राजनीतिक दल सजातीय न होकर बहुजातीय संगठन हो गये। आज भारत में शायद ही ऐसा कोई राजनीतिक दल हो जो सजातीय हो, यहां तक कि डी०एम०के० तथा बहुजन समाज पार्टी जैसे राजनीतिक दल भी जो ब्राह्मण एवं सवर्ण जातियों के बर्चस्व के विरोध में अस्तित्व में आये आज अपने मूल रूप में नहीं हैं। विभिन्न जातियों ने आधुनिक राजनीतिक मूल्यों को बड़ी मात्रा में अपनाया। फलत: जातीय व्यवस्था का स्वरूप परिवर्तित हुआ। शायद इसीलिये रूडाल्फ (Rudolph) का कहना है कि भारत में जाति व्यवस्था का पूर्ण रूप से अन्त नहीं होगा, वरन वह नयी राजनीतिक व्यवस्था के अनुरूप परिवर्तित होती रहेगी।

14.2.2 जाति-व्यवस्था का राजनीति पर प्रभाव

जहाँ राजनीति ने भारतीय समाज में जाति व्यवस्था पर सकारात्मक प्रभाव डाले हैं वहीं जाति ने राजनीति को नकारात्मक रूप से प्रभावित भी किया है। भारतीय राजनीति और विभिन्न राजनीतिक संस्थाओं की कार्य प्रणाली में जातीय भेद-भाव इस तरह घुल मिल गये हैं कि यह संस्थायें सुचारू रूप से कार्य करने में असमर्थ रही है। जातिवाद का प्रभाव राजनीतिक दलों, निर्वाचनों और राजनीतिक लाभों के वितरण में परिलक्षित होता है। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस एवं भाजपा सहित सभी राजनीतिक दलों में जाति के आधार पर अनेक गुट हैं और उन गुटों में आंतरिक प्रतिस्पर्धा भी है।

किसी भी चुनाव में प्रत्याशियों का चयन जाति के आधार पर किया जाता है। प्रत्याशी चुनते समय प्रत्येक दल इस बात का अनुमान लगाते हैं कि किसी विशिष्ट क्षेत्र में किन-किन जातियों के लोग रहते हैं और उनके पारस्परिक समीकरण क्या हैं?

जातिगत समीकरण मतदान व्यवहार को स्पष्ट रूप से प्रभावित करता है। वोट जाति के आधार पर दिये जाते हैं जैसे उत्तर प्रदेश में जहां बहुजन समाज पार्टी का जनाधार अनुसूचित जाति है वहीं समाजवादी पार्टी का आधार पिछड़े वर्ग हैं।

इसी प्रकार जातियाँ संगठित होकर राजनीतिक निर्णयों की प्रक्रिया को प्रभावित करती हैं जैसे जाट संगठनों ने अन्य पिछड़ी जातियों (OBC) का स्तर प्राप्त करने के लिये किया तथा अनुसूचित जाति/जनजाति संगठन आरक्षण के प्रावधान को निरन्तर आगे बढ़ाने के लिये जोर देती रहती हैं जबकि अन्य सवर्ण जातियाँ जातिगत आधार के स्थान पर आर्थिक आधार पर आरक्षण के लिये जोर देती रहती हैं।

मंत्रीमण्डलों का निर्माण हो या विभिन्न आयोगों की सदस्यता जातीय आधार पर केन्द्र से लेकर पंचायत स्तर तक नियुक्तियाँ करने में जातीय समीकरणों का ध्यान दिया जाता है। भारत में जातिगत दबाव समूह अपने हितों की पूर्ति के लिये नीति निर्माताओं को प्रभावित करते हैं उदाहरण के लिये तामिलनाडु में नाडार जाति संघ, गुजरात में क्षत्रीय महासंघ, बिहार एवं उत्तर

प्रदेश में कायस्थ महासभा आदि दबाव समूह के रूप में कार्य करते हुए राजनीतिक सौदेबाजी करते हैं।

परन्तु भारत में जाति एवं राजनीति की अन्त:क्रिया के फलस्वरूप अलग-अलग राज्यों में अलग-अलग स्थिति दिखायी देती है। माइकेल ब्रेचर के अनुसार अखिल भारतीय राजनीति की अपेक्षा राज्य स्तर की राजनीति पर जातिवाद का प्रभाव अधिक है। यद्यपि किसी भी राज्य की राजनीति जातिगत प्रभावों से अछूती नहीं रही है तथापि बिहार, उत्तर प्रदेश, केरल, तमिलनाडु, आन्ध्र प्रदेश, महाराष्ट्र, हरियाणा, राजस्थान तथा गुजरात राज्यों की राजनीति का अध्ययन तो बिना जातीय राजनीतिक गणित के किया ही नहीं जा सकता। राजनीतिक व्यवस्था पर जातिवाद का प्रभाव क्षेत्रीय आधार पर भिन्न-भिन्न रहा है। वस्तुत: आधुनिक भारत में जातीय भावनाओं का विकास दक्षिण भारत में राजनीति में हमेशा से ही ब्राह्मणों का बर्चस्व रहा था जिसे तोड़ने के लिये द्रविड़ वजगम की स्थापना हुई जो अब डी०एम०के० तथा ए०आई०डी०एम०के० नाम के राजनीतिक दलों के माध्यम से कार्य कर रहा है। ज्ञातव्य हो कि तमिलनाडु में सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय के विपरीत विभिन्न श्रेणी के आरक्षणों का प्रतिशत 69 है तथा इसे संविधान विरुद्ध घोषित किये जाने से बचाने के लिये केन्द्रीय सरकार ने एक संशोधन के माध्यम से संविधान की नवीं अनुसूचि में स्थान प्रदान किया है।

14.2.3 जाति की भूमिका

भारत में राजनीति में जातिवाद की विद्यमानता के लाभ भी हैं और हानि भी। जातिवाद के समावेश से लाभ निम्न जातियों को हुआ है—वे अब उच्च वर्ग के लोगों के समकक्ष खुद को स्थापित करने की चेष्टा करने लगे हैं क्योंकि राजनीतिक सत्ता में उनका प्रतिनिधित्व भी है और वे उसके माध्यम से अपनी आवाज बुलन्द कर सकते हैं। परन्तु दूसरी ओर जातिवाद के विकास से देश का विकास अवरूद्ध हुआ है जातिवाद के बर्चस्व के कारण योग्य, कुशल एवं कार्यशील नेतृत्व का अभाव हो गया है। देश के विभिन्न भागों में समय-सैमय पर हिंसक जातीय संघर्ष भी देखने को मिलता है।

रही बात जातिवाद की समाप्ति की, तो यह तो निश्चित ही है कि जातिवाद का भारत में अन्त होना मुश्किल है। हां, जैसे-जैसे देश में शिक्षा का प्रसार तथा आर्थिक उन्नति में विस्तार होगा वैसे-वैसे लोगों की सोच में परिवर्तन होगा और जातिगत प्रतिस्पर्धा कम होगी। जातिवाद के कुरूप को बेअसर करने में राजनीतिक दलों को सक्रीय भूमिका निभानी होगी क्योंकि वे यदि प्रतिनिधियों की योग्यता एवं कर्मठता को आधार बनाकर प्रस्तुत करेंगे तो मतदाता भी उसी रूप में मतदान करेंगे और राजनीति में जातिवाद को नियंत्रित किया जा सकेगा।

14.3 धर्म और भारतीय राजनीतिक व्यवस्था

भारतीय राजनीति के निर्धारक तत्वों में 'धर्म और साम्प्रदायिकता' को अत्यन्त प्रभावशाली तत्व माना जाता है। धर्म का प्रयोग राजनीति में जहाँ एक ओर तनाव पैदा करने के लिये किया जाता है वहीं प्रभाव एवं शक्ति अर्जित करने के लिये भी इसका प्रयोग किया जाता है। धर्म के आधार पर राजनीतिक दलों का निर्माण होता है। चुनावों में समर्थन और मत प्राप्त करने के लिये धर्म का सहारा लिया जाता है। जनता से की जाने वाली अपीलें, उन्हें दिये जाने वाले आश्वासनों, निर्वाचन में प्रत्याशियों का चयन तथा मतदान व्यवहार में धर्म का राजनीतिक स्वरूप देखने को मिलता है।

धर्म का भारतीय राजनीति पर सदैव ही प्रभाव रहा है और धार्मिक भावनाओं के गलत प्रयोग ने ही देश की राजनीतिक और सामाजिक एकता को नुकसान पहुंचाया है। धर्म के नाम पर भारत

का विभाजन हुआ। स्वतंत्रता के बाद भी समय-समय पर धर्म का प्रयोग विभाजनकारी रूप में किया जाता रहा है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी भारत में धार्मिक उन्माद रह-रह कर अपना एहसास कराता रहा है। भारत में अनेक सम्प्रदाय पाये जाते हैं। इन सम्प्रदायों में कभी भी धर्म के नाम पर दंगे हो जाते हैं और यदि दंगे नहीं भी होते तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि देश के विभिन्न सम्प्रदायों में पूर्ण सद्भावना पाई जाती है।

स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान भारत के राष्ट्रवादी गुट (जिसके हाथ में मुख्य रूप से देश को स्वतंत्र कराने की जिम्मेदारी थी) ने अपने को धार्मिक विवादों से अलग रखने का प्रयास किया लेकिन फिर भी धर्म के सम्बन्ध में साम्यवादी/मार्क्सवादी दृष्टिकोण नहीं अपनाया। चूंकि भारत के लोग अपनी परमपरा से धर्म में विश्वास करने वाले रहे हैं इसीलिये धर्म का मार्क्सवादी दृष्टिकोण अर्थात् 'धर्म शासक वर्गों के द्वारा मानव शोषण के लिये तैयार किया गया नशा है,' भारत में कम स्वीकारा गया। स्वतंत्रता के पश्चात् भारत के संविधान निर्माताओं ने भारत की सामाजिक, धार्मिक बहुलता देखते हुये धर्म-निर्पेक्ष राज्य की स्थापना की लेकिन साम्प्रदायकिता भारतीय व्यवहार से खत्म नहीं हो पायी जिसका परिणाम यह हुआ कि यद्यपि राज्य की संस्था आधुनिक है किन्तु धर्म के विकृत प्रयोग से निहित स्वार्थों का उदय भी हुआ है।

14.3.1 धर्म-निर्पेक्ष संविधान

भारतोय राजनीति पर धर्म की भूमिका का अध्ययन करने से पहले धर्म-निर्पेक्षता और साम्प्रदायिक्ता के बारे में कुछ जान लेना आवश्यक है। इन्साइक्लोपेडिया ब्रिटैनिका के अनुसार धर्म-निर्पेक्षता का अर्थ गैर-आध्यात्मिक, धर्म अथवा आध्यात्मिक मामलों से कोई सम्बन्ध न होना, कोई वस्तु जो धर्म से भिन्न हो, उसके विरुद्ध अथवा उससे सम्बद्ध न हो अथवा धार्मिक वस्तुओं से सम्बन्धित न हो और आध्यात्मिक तथा धार्मिक वस्तुओं के विपरीत सांसारिक हो। वैब्स्ठर शब्दकोश के अनुसार धर्म-निर्पेक्षता जीवन अथवा किसी अन्य विषय से सम्बन्धित वह दृष्टिकोण है जो इस धारण पर आधारित हो कि सामाजिक नैतिकता के सिद्धान्तों के निरूपण में धर्म अथवा किसी भी प्रकार के धार्मिक विचारों को शामिल नहीं किया जाना चाहिये। डा० इ० स्मिथ के अनुसार धर्म-निरपेक्ष राज्य ऐसा राज्य होता है जो व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से धार्मिक स्वतंत्रता की गारंटी देता है, व्यक्ति के साथ उसके धर्म का ध्यान नहीं किये बिना एक नागरिक के रूप में व्यवहार करता है और जो सांविधानिक रूप से किसी धर्म विशेष से न तो सम्बन्धित होता है न ही वह किसी धर्म को बढ़ावा देता अथवा उसमें हस्तक्षेप करता है।

इस प्रकार **यह** स्पष्ट है कि धर्म-निरपेक्ष राज्य में राज्य का अपना कोई धर्म नहीं होता। धर्म-निरपेक्ष राज्य व्यक्तियों को केवल नागरिक के रूप में देखता है किसी धार्मिक समुदाय के सदस्य के रूप में नहीं तथा धर्म-निरपेक्ष राज्य प्रत्येक नागरिक को व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप से किसी भी धर्म को मानने की स्वतंत्रता प्रदान करता है।

भारत में राज्य का अपना कोई धर्म नहीं है। भारत में राज्य धार्मिक क्षेत्र में हस्तक्षेप करता है। वह धर्म से असम्बद्ध अथवा धर्म के प्रति तठस्थ नहीं है। वह ऐसे धार्मिक कर्म काण्डों में हस्तक्षेप कर सकता है जो शान्ति और सुरक्षा के लिये हानिकारक हो। वह कानून के माध्यम से उन्हें सुधार सकता है। सरकार के प्रतिनिधि व्यक्तिगत रूप से धार्मिक उत्सवों में सम्मिलत होते हैं। धार्मिक नेताओं के जन्म दिवस मनाये जाते हैं और उन अवसरों पर सरकारी छुट्टी भी होती है। रेडियो एवं दूर दर्शन द्वारा विभिन्न धार्मिक कार्यक्रम प्रस्तुत किये जाते हैं। हिन्दुओं, मुसलमानों तथा ईसाइयों के पृथक-पृथक व्यक्तिगत कानून हैं। भारत में धर्म एवं राजनीति में पूरी तरह पृथक्करण नहीं है।

भारतीय संविधान की प्रस्तावना में 42वें संविधान संशोधन के माध्यम से धर्म-निरपेक्षता शब्द को जोड़ा गया है। मौलिक अधिकारों के अन्तर्गत अनुच्छेद 25 प्रत्येक व्यक्ति को अन्तःकरण की

स्वतंत्रता, किसी भी धर्म को अबाध मानने, उसके अनुसार आचरण करने और उसका प्रचार करने की स्वतंत्रता प्रदान करता है। इससे यह बिन्दु स्पष्ट हो जाता है कि भारत में धर्म के मामले में राज्य तटस्थ नहीं है। इसी प्रकार धर्म के प्रति सरकार का रवैया सकारात्मक है, निषेधात्मक नहीं अर्थात संविधान का उद्देश्य विभिन्न धर्मों का विनाश करना नहीं है। वरन ऐसी दशाओं को उत्पन्न करना है जिससे प्रत्येक धर्म समान रूप से अपना विकास कर सके।

संविधान का अनुच्छेद 26 प्रत्येक धार्मिक समुदाय को धार्मिक और पुण्य प्रयोजनों के लिये संस्थाओं की स्थापना और पोषण, धर्म सम्बन्धी निजी मामलों के प्रबन्ध का अधिकार, चल और अचल सम्पत्ति के अर्जन और स्वामित्व का अधिकार तथा विधि के अनुसार उसके प्रशासन का अधिकार प्रदान करता है।

14.4 धर्म और राजनीतिक दल

धर्म का प्रभाव नकारात्मक रूप से भारतीय राजनीतिक व्यवस्था पर भी पड़ा है। स्वतंत्रता के बाद भी धार्मिक आधारों पर राजनीतिक दलों का निर्माण हुआ है जैसे पाकिस्तान बनने के पश्चात मुस्लिम लीग इण्डियन युनियन मुस्लिम लीग के नाम से जानी जने लगी। शिरोमणि अकाली दल, रामराज्य परिषद, जनसंघ, हिन्दू महासभा आदि राजनीतिक दलों के निर्माण में पंथिक और साम्प्रदायिक तत्वों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। चुनावों के समय धार्मिक मुद्दों जैसे गो-वध को बन्द करवाने, राम मन्दिर का निर्माण आदि का प्रयोग करते हैं। दूसरे राजनीतिक दल भी धर्म और धार्मिक समूहों के हितार्थ सेक्युलर राजनीति के आवरण में काम करते हैं। भारत के पूर्वोत्तर एवं केरल में कांग्रेस ईसाई संगठनों एवं समूहों के साथ मिलकर काम करते दिखाई देती है वहीं पंजाब में कांग्रेस सिख हितों से विमुख होकर अपने भविष्य के लिये खतरा नहीं पैदा कर सकती।

भारत में वैचारिक स्तर पर भले ही बुद्धिजीवी वर्ग सेक्युलरवाद की योरपीय प्रतिमान अपनाने की बात करे लेकिन चुनावी राजनीति की मजबूरी विभिन्न दलों को धर्म के प्रति सकारात्मक रूख अपनाने के लिये प्रेरित करती हैं। यहां तक कि वामपंथी दल भी धर्म के प्रति बहुत मुहतात रहते हैं। वोट बटोरने के लिये अधिकांश राजनीतिक दल मठाधीशों, इमामों, पादरियों और साधुओं की अपील का सहारा लेते हैं। मिजोरम के चुनाव में जारी एक पर्चे में कांग्रेस (इ) ने कहा था कि वह ईसाई अधिकारों के लिये लड़ेगी। इसी प्रकार दिल्ली की जामा मस्जिद के शाही इमाम अब्दुल्लाह बुखारी तथा बाद में उनके पुत्र अहमद बुखारी का उत्तरी भारत में मुस्लिम वोटों को प्राप्त करने के लिये विभिन्न राजनीतिक दलों जैसे जनता दल, कांग्रेस, बहुजन समाज पार्टी, समाजवादी पार्टी तथा अन्त में 2004 के चुनावों में स्वयं भाजपा ने भी प्रयोग किया।

यह समझ लेना आवश्यक है कि किसी भी धर्म के मुख्य नेताओं का वक्तव्य ऐसे अवसरों पर बहुत प्रभावकारी अपील का दर्जा नहीं रखता। राजनीतिक दल अपने लाभ के लिये इनका प्रयोग करते हैं तथा चुनाव में फायदा उठाने के बाद धार्मिक नेताओं से किये गये वायदों को भूल भी जाते हैं। एक राजनीतिक दल को मिलने वाले सम्भावित लाभों को बेअसर करने के लिये दूसरे प्रतिद्वन्दी राजनीतिक दल उसी धर्म के दूसरे नेताओं से अपने पक्ष में अपील जारी कराने में सफल हो जाते हैं। फिर भी इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि वोटों की राजनीति में धार्मिक वर्गों की भूमिका रहती है तथा चुनावों के समय में उनसे सकारात्मक सहयोग प्राप्त करने की चेष्ठा की जाती है।

केरल तथा पंजाब में धार्मिक समूहों का राजनीति पर गहरा प्रभाव दिखाई देता है। केरल की राजनीति का ऊपरी आवरण चाहे वामपंथी राजनीति के रंग में रंगा हुआ नजर आये लेकिन उसका अन्तरंग धार्मिक और साम्प्रदायिक गुटों के गठजोड़ से बनता है। एक विद्वान के अनुसार केरल

की राजनीति इसके तीन समुदायों (हिन्दू, मुसलमान एवं ईसाई) तथा इनके अन्तर-सम्बन्धों के इर्द-गिर्द घूमती है। प्रगतिशील समझे जाने वाले साम्यवादी दल भी केरल में धार्मिक दबाव गुटों से अपना ताल मेल बिठाकर चुनावी रणनीति तैयार करते हैं। केरल की ही भांति पंजाब की राजनीति सिख हितों से प्रभावित होती है। पंजाब में सिख समुदाय के लोग बहुसंख्यक हैं तो वहीं हिन्दू अल्प संख्यक। संविधान के प्रावधानों के अनुसार हिन्दू धर्मावलम्बियों को पंजाब में भाषाई एवं धार्मिक अल्प संख्यकों वाली सुविधायें मिलती हैं।

धर्म के प्रभाव को केन्द्रीय एवं प्रान्तीय मंत्रिपरिषदों के निर्माण के समय भी आंका जा सकता है जब प्रमुख साम्प्रदायों और पंथिक विश्वासों वाले व्यक्तियों को उनमें सम्मिलित किया जाता है। धर्म का वित्त रूप—साम्प्रदायिकता राष्ट्रीय एकता के लिये घातक माना जाता है। साम्प्रदायिकता से विघटनकारी तत्वों को बढ़ावा मिलता है। लेकिन राष्ट्रीय नेताओं को धैर्य एवं गहराई से उन कारणों का पता लगाने एवं समस्याओं को दूर करने की जरूरत है जिससे साम्प्रदायिकता अलगाववादी रूख अपना लेती है।

14.5 सारांश

जाति भारतीय सामाजिक ढांचे की एक अनूठी विशेषता है। जन्म का सिद्धान्त किसी जाति समूह की सदस्यता का विशेष आधार होता है। ब्रिटिश औपनिवेशिक सरकार की स्थापना और आधुनिक पश्चिमी शिक्षा के प्रवेश, औद्योगीकरण, एक नयी न्यायिक व्यवस्था और संसदीय संस्थाओं ने जाति प्रथा में महत्वपूर्ण परिवर्तन किये। जातिगत पहचानों ने उपनिवेश काल के दौरान राजनीतिक महत्व भी प्राप्त किया। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् व्यस्क मताधिकार पर आधारित लोकतांत्रिक ढंग की सरकार में चुनावों के माध्यम से राजनीतिक अधिकारों के लिये होड़ की स्थिति बनायी। जिसने जातिगत पहचानों को मजबूत किया।

कुछ जातियों की आर्थिक स्थिति में आये महत्वपूर्ण परिवर्तनों के कारण नव-धनाड्य किसान वर्गों का उदय हुआ आरक्षण की राजनीति एवं उससे जुड़े आर्थिक लाभों ने जाति को एक जीवित प्रयत्नरत् संस्था के रूप में सक्रीय बनाये रखा है।

धर्म को भारतीय जनता के मस्तिष्क से हटाया नहीं जा सकता। धर्म का समाज सुधार के क्षेत्र में जो महत्वपूर्ण योगदान हो सकता है उसे समझकर उसका सकारात्मक प्रयोग किया जाना चाहिये। तुच्छ एवं संकीर्ण साम्प्रदायिकता से बचाव के लिये भी एक विविध संस्कृतियों वाले देश में संविधान द्वारा दिये गये संरक्षणों का सही उपयोग करना चाहिये।

14.6 उपयोगी पुस्तकें

1. कोठारी, रजनी (सं०), 1970, कास्ट इन इन्डियन पॉलिटिक्स, ओरियंट लांगमैन, दिल्ली।
2. कोठारी, रजनी 1971, पॉलिटिक्स इन इन्डिया, ओरिएन्ट लांगमैन, दिल्ली।
3. अभिनय पाण्डे (सं०) 2003, लोकतंत्र के सात अध्याय, प्रगतिशील समाज अध्ययन केन्द्र, दिल्ली।
4. देसाई, आई०पी० और अन्य, 1985, कास्ट, कास्ट कंफिलक्ट एन्ड पॉलिटिक्स आफ इन्डिया, बी०आई० पब्लिकेशंस, दिल्ली।
5. विपिन चन्द्र, 1984, कम्यूनलिज्म इन माडर्न इन्डिया, विकासपुरी, नई दिल्ली।
6. इकबाल नारायण, 1974, भारतीय सरकार एवं राजनीति, जयपुर।

14.7 सम्बन्धित प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. जाति व्यवस्था का अर्थ समझाइये।
2. जाति एवं राजनीति की अन्त:क्रिया पर संक्षेप में लिखिये।
3. भारत में धर्म-निरपेक्षता क्या है?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. जाति के प्रभावशाली होने के कारणों का पता लगाइये?
2. भारत में धर्म ने राजनीति को किस तरह प्रभावित किया है?
3. सम्प्रदायिकता से देश को क्या-क्या खतरे हैं? उत्तर दीजिये।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. जाति का सबसे पहले किसने अध्ययन किया?

   (अ) पुर्तगालियों ने (ब) फ्रांसीसियों ने

   (स) डचों ने (द) अंग्रेजों ने

2. मण्डल किससे सम्बन्धित है?

   (अ) धर्म से (ब) अन्य पिछड़ी जातियों के आरक्षण से

   (स) राम मन्दिर आन्दोलन से (द) शिक्षा से

3. अस्पृश्यता का अन्त किस अनुच्छेद से किया गया?

   (अ) अनु० 14 (ब) अनु० 15

   (स) अनु० 17 (द) अनु० 20

4. भारत धर्म-निरपेक्ष राज्य है—

   (अ) जैसे यूरोपीय देश (ब) जैसे पाकिस्तान

   (स) जैसे नेपाल (द) अपने प्रकार का अलग

14.8 प्रश्नोत्तर

1. (अ) 2. (ब) 3. (स) 4. (द)

इकाई 15 : क्षेत्रीयतावाद एवं राष्ट्रीय एकीकरण

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना

15.2 क्षेत्रीयतावाद : अर्थ और परिभाषा

15.3 क्षेत्रीयतावाद : उत्तरदायी कारण

- 15.3.1 भौगोलिक कारण
- 15.3.2 सांस्कृतिक कारण
- 15.3.3 ऐतिहासिक कारण
- 15.3.4 आर्थिक कारण
- 15.3.5 राजनीतिक कारण
- 15.3.6 कुछ अन्य कारण

15.4 क्षेत्रीयतावाद को रोकने के उपाय

15.5 राष्ट्रीय एकीकरण : आवश्यकता

15.6 राष्ट्रीय एकीकरण में बाधक तत्व

- 15.6.1 साम्प्रदायिकता
- 15.6.2 जातिवाद
- 15.6.3 भाषावाद
- 15.6.4 क्षेत्रीयतावाद
- 15.6.5 आर्थिक असंतुलन
- 15.6.6 सामाजिक संरचना

15.7 राष्ट्रीय एकीकरण के उपाय

15.8 सारांश

15.9 उपयोगी पुस्तकें

15.10 सम्बन्धित प्रश्न

15.11 प्रश्नोत्तर

15.0 उद्देश्य

क्षेत्रीयतावाद आज भारतीय राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन में एक अत्यन्त व्यापक तथ्य है। विकासशील समाजों की एक महत्वपूर्ण समस्या राष्ट्रीय एकीकरण की रही है। राष्ट्रीय एकीकरण को प्राप्त करने में बहुत सी बाधायें आ खड़ी होती है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

- क्षेत्रीयतावाद की विवेचना कर सकेंगे,
- भारत में क्षेत्रीयतावाद के कारणों की व्याख्या कर सकेंगे,

तथा उसे रोकने के लिये एवं राष्ट्रीय एकीकरण की भावना को मजबूत करने के लिये उपयोगी सुझाव दे सकेंगे।

15.1 प्रस्तावना

देश की स्वतंत्रता से पहले क्षेत्रीयतावाद एक बड़ी समस्या नहीं थी क्योंकि अंग्रेजी उपनिवेश भारत में एक बड़े शोषक के रूप में देखा जा रहा था। भारतीय जनता का अधिकांश भाग देश को **स्वतंत्र कराने के लिये संघर्षरत** था जिससे व्यक्ति की क्षेत्र, भाषा, धर्म, जाति पर आधारित पहचान दबी हुयी थी लेकिन स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात राजनीतिक लाभों को प्राप्त करने के लिये विभिन्न प्रकार की स्मिताओं पर आधारित दलों एवं समूहों का उदय होने लगा। कालांतर में क्षेत्रीयतावाद भी भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के लिये गम्भीर समस्या बन गई। निम्न पंक्तियों में क्षेत्रीयतावाद एवं राष्ट्रीय एकीकरण का अध्ययन किया गया हैं।

15.2 क्षेत्रीयतावाद : अर्थ एवं परिभाषा

क्षेत्रीयतावाद वास्तव में दक्षिणी एशिया की परम्परागत संस्कृति का एक अंग ही है जो 19वीं शताब्दी के पश्चिमीकरण और आधुनिकीकरण के दोहरे प्रभाव से परिवर्तित रूप में प्रकट हुआ है। आधुनिक युग में संचार व्यवस्था में विकास, अंग्रेजी शासन व्यवस्था के तरीको और नीतियों उपनिवेशवाद से उत्पन्न समस्याओं तथा स्वतंत्रता के बाद आधुनिकीकरण को अत्यधिक महत्व और तीव्रता प्रदान करने की प्रक्रियाओं ने क्षेत्रीयतावाद को अधिक सक्रीय तथा गतिशील किया है।

क्षेत्रीयतावाद से तात्पर्य एक देश में या देश के किसी भाग में उस छोटे से क्षेत्र से है जो आर्थिक, सामाजिक, भौगोलिक आदि कारणों से अपने पृथक अस्तित्व के लिये प्रयत्नशील है। साधारण शब्दों में क्षेत्रवाद का अर्थ किसी क्षेत्र के लोगों की उस भावना एवं प्रयत्नों से है जिनके द्वारा वे अपने क्षेत्र विशेष के लिये आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक शक्तियों में वृद्धि चाहते हैं।

'क्षेत्र' शब्द के बहुत सारे अर्थ हैं। 'सांस्कृतिक समानता' किसी क्षेत्र के निवासियों में सामूहिक भावना पैदा करने की मूल कड़ी है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और अपने निवास के आस पास की भूमि से उसका भावात्मक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। तत्पश्चात अपने पूरे क्षेत्र के प्रति उसकी निष्ठा विकसित हो जाती है। इस प्रकार से 'क्षेत्र' एक समाजशास्त्रीय अभिधारणा है जिसे विविध सामाजिक हितों की अभिव्यक्ति की धुरी कहा जा सकता है। किसी भी भू-भाग को क्षेत्र कहने के लिये कुछ ऐसे समान तत्वों का पाया जाना जरूरी है जो क्षेत्र विशेष के निवासियों के मध्य समान समस्या के रूप में दीर्घकाल से जानी जा रही है। यदि भौगोलिक रूप से निश्चित किसी स्थान पर कुछ प्रक्रियायें तथा धारणायें समाज के अन्य भागों से भिन्न हों और लगातार लम्बे समय से चली आ रही हों तो उस भाग को एक अलग 'क्षेत्र' कहा जा सकता है। ये प्रक्रियायें और धारणायें भौगोलिक, धार्मिक, भाषाई, रीति-रिवाज सम्बन्धी, सांस्कृतिक और आर्थिक एवं राजनीतिक विकास की स्थिति, रहन-सहन के ढंग और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि आदि पर आधारित हो सकती हैं। परन्तु किसी भी क्षेत्र के पृथक स्वरूप के लिये प्रमुख बात वहां के निवासियों में आपसी समानता और एकरूपता तथा अन्य क्षेत्रों से अलगाव की भावना है। इस प्रकार अनेक तत्वों जैसे भूगोल, जलवायु, धर्म, भाषा, रीति-रिवाज, राजनीतिक और आर्थिक विकास, ऐतिहासिक अनुभव, रहन-सहन के तरीके की आपसी क्रियाओं से किसी 'क्षेत्र' का निर्माण हो सकता है। लेकिन इन तत्वों से कहीं अधिक महत्व होता है किसी भौगोलिक भू-भाग के क्षेत्र के रूप में स्थापित होने के लिये वहां के निवासियों में साथ रहने की भावात्मक एकता

और अपने को दूसरों से पृथक मानने की इच्छा का। उदाहरण के लिये अगर कोई व्यक्ति यह सोचता है कि वह बुन्देलखण्ड क्षेत्र का निवासी है तो इसका मतलब है कि वह अपने को पश्चिमी उत्तर प्रदेश (या हरित प्रदेश की मांग करने वालों) से थोड़ा भिन्न मानता है चाहे सभी यू०पी० वाले यह महसूस करते हों कि अन्य राज्यों से यू०पी० के लोग भिन्न है। ऐसी भावनाऐं सांस्कृतिक वास्तविकतायें है और उनसे कोई भी आसानी से मुक्त नहीं हो सकता।

भारत की राजनीतिक व्यवस्था के परिदृश्य में 'क्षेत्रीयतावाद' से अभिप्राय है—राष्ट्र की तुलना में किसी क्षेत्र विशेष अथवा राज्य या प्रान्त की अपेक्षा एक छोटे क्षेत्र से लगाव, उसके प्रति भक्ति या विशेष आकर्षण दिखाना। इस प्रकार 'क्षेत्रीयतावाद' राष्ट्रीयता की वृहद भावना का विलोम है और इसका ध्येय संकुचित क्षेत्रीय स्वार्थो की पूर्ति होना है। भारतीय राजनीति के सन्दर्भ में यह एक ऐसी धारणा है जो भाषा, धर्म और क्षेत्र आदि पर आधारित है और जो विघटनकारी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देती है। क्षेत्रीयता की भावना सारे देश में व्याप्त है जो प्राय: सुनियोजित आन्दोलनों एवं हिसक रूपों में जाहिर होती है।

15.3 क्षेत्रीयतावाद : उत्तरदायी कारण

भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद के निम्नलिखित प्रमुख कारण है—

15.3.1 भौगोलिक कारण

भारत को क्षेत्रों में बाँटने वाली एक प्रणाली वाला एक आधार इसकी भौगोलिक सीमायें है। इनके कारण देश के अनेक भाग शताब्दियों से एक दूसरे से लगभग अछूते रहे हैं तथा राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में एक सीमा तक स्वतंत्र रूप से विकसित हुये है। दूसरे शब्दों में, सारे भारत का इतिहास सामान्य न होकर क्षेत्रों के आधार पर भिन्न-भिन्न है। भारतीय गणतंत्र की स्थापना के पश्चात् ही राष्ट्रीय एकीकरण बनाम क्षेत्रीय स्वायत्ता या पुनर्निवर्धारण देश की राजनीति का अहम मुद्दा बन गया। राज्य पुनर्गठन आयोग (1956) की स्थापना इस भौगोलिक पहचान को अधिक स्पष्ट करती है।

15.3.2 सांस्कृतिक कारण

कुछ राज्यों में कई संस्कृति के लोग निवास करते हैं। उन्हे अपनी संस्कृति पर गर्व है जिसके कारण वह अपने को अन्य भागों से पृथक महसूस करते हैं। इसी आधार पर वह राजनीतिक क्षेत्र में केन्द्र सरकार का कम से कम हस्तक्षेप चाहते हैं और समूचित विकास के लिये पृथक राज्य का निर्माण कराना चाहते हैं। देश के कुछ भागों में सांस्कृतिक विभिन्नता के आधार पर पृथक प्रदेशों की मांग उठती रही है। उदाहरण के लिये उत्तर प्रदेश में पर्वतीय क्षेत्रों का पृथक उत्तरांचल राज्य एवं बिहार तथा मध्य प्रदेश में आदिवासी संस्कृति बाहुल्य क्षेत्रों का झारखण्ड एवं छत्तीसगढ़ राज्य के नाम से नये राज्यों का 1998 में गठन। पहले भी केन्द्र सरकार ने उत्तर पूर्व भारत में नागालैण्ड, मेघालय, मणिपुर, अरुणाचल और मिजोरम राज्यों का निर्माण इस क्षेत्र के लोगों की विशेष सांस्कृतिक आशाओं की पूर्ति हेतु ही किया है। संविधान में अनुच्छेद 371-A से 371-I तक संशोधन से जोड़े गये तथा इन क्षेत्रों की विशेष संस्कृति को संवैधानिक संरक्षण प्रदान किया गया।

15.3.3 ऐतिहासिक कारण

क्षेत्रीयतावाद की उत्पत्ति में इतिहास का दोहरा सहयोग रहा है—सकारात्मक और नकारात्मक। सकारात्मक रूप से भारत में विलय और राष्ट्रीय स्मिता को **मजबूत करने का** लिये क्षेत्रीयतावाद का

सहारा लेना जैसे शिव सेना महाराष्ट्र को भारत के मूल्य पर आगे बढ़ाना नहीं चाहती जबकि दक्षिण भारत के कुछ राजनीतिक दल प्राचीन इतिहास का सहारा लेकर दक्षिण भारत की भारतीय संघ से पृथकता या भारतीय संघ पर प्रभुत्व को सिद्ध करते रहे हैं। सारे भारत का इतिहास सामान्य न होकर क्षेत्रों के आधार पर भिन्न है आदिकालीन हिन्दू युग में भारतीय समाज राजनीतिक रूप से अनेक स्वतंत्र क्षेत्रों में बँटा हुआ था। विभिन्न क्षेत्रों में शासन व्यवस्था भी अलग-अलग प्रकार की थी।

शक्तिशाली मुगलों के काल में भी दक्षिण के कई क्षेत्र केन्द्रीय प्रशासन से अलग रहे तथा मराठा राजपूत एवं सिख आदि अनेक समुदाय अन्त तक मुगल शासन का विरोध करते रहे। इस प्रकार सम्पूर्ण भारत में एक ही राजनीतिक व्यवस्था तथा समान प्रशासनिक तथा सामाजिक ढाँचे के निर्माण का अभाव था। अंग्रेजो के शासनकाल में वर्तमान भारत के एक बड़े भूभाग पर भिन्नता से युक्त देशी रियासतों का प्रशासनिक ढाँचा था। इन बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अतीत का असमान इतिहास भी क्षेत्रीयतावाद का एक सबल कारण है।

15.3.4 आर्थिक कारण

क्षेत्रीयतावाद की उत्पत्ति में आर्थिक कारण महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। भारत में जो आर्थिक विकास हुआ है उसमें बहुत असमानता रही है। कुछ क्षेत्रों का अधिक विकास हुआ तो कुछ का बहुत ही कम। इसका एक कारण तो यह रहा कि जिन व्यक्तियों के हाथों में सत्ता रही उन्होंने अपने क्षेत्रों का अधिक विकास करवाया। उदाहरण के लिये आन्ध्र प्रदेश में रायसीमा एवं तेलंगाना क्षेत्र, उत्तर प्रदेश में पूर्वांचल राजस्थान में पूर्वी राजस्थान आदि। अत: पिछड़े क्षेत्रों में यह भावना उभरी कि यदि सत्ता उनके पास होती तो उनके क्षेत्र पिछड़े न रह जाते। इसलिये इन क्षेत्रों में क्षेत्रीयताबाद की भावना उभरी। देश की स्वतंत्रता से पहले सारी समस्याओं का हल विदेशी शासन से मुक्ति में समझा गया था लेकिन स्वतंत्रता के बाद विकास का जो पूंजीवादी प्रतिमान अपनाया गया उसने कुछ क्षेत्रों में तो तरक्की की परन्तु भारतीय ग्राम्य व्यवस्था के अधिकांश भाग परम्परागत उत्पादन साधनों पर ही आधारित रहे। इसी प्रकार नियोजन का जो प्रारूप तैयार किया गया किन्हीं कारणोंवश वह संतुलित आर्थिक विकास के लक्ष्यों को प्राप्त नहीं कर सका। शिक्षा, स्वास्थ्य एवं औद्योगिक क्षेत्रों में जहां उपलब्धि दर्ज की गयी वहीं शिक्षा ने विभिन्न वर्गों एवं समूहों में असंतुलित विकास की भावना का प्रचार भी किया जिससे राष्ट्रीय विकास की जगह स्थानीय एवं क्षेत्रीय विकास के लिये संगठनों एवं आन्दोलनों का उदय होने लगा।

15.3.5 राजनीतिक कारण

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद राष्ट्रीय नेतृत्व ने नई राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत सत्ता के लोकतंत्रीकरण तथा विकेन्द्रीकरण की व्यवस्था अपनाई। इसका एक स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि स्थानीय स्तर पर कम शिक्षित, परम्परावादी और सीमित आर्थिक हितों वाले लोग भी सत्ता प्राप्त करने लगे। राजनीतिक दृष्टि से महत्वाकांक्षी यह लोग जाति, धर्म अथवा क्षेत्रीय समुदायों को तुरंत उपयोगी पाते हैं। वास्तव में कभी-कभी तो राष्ट्रीय स्तर के तथाकथित नेतागण भी इन सम्बन्धों का प्रयोग करते हैं। राष्ट्रीय स्तर के राजनीतिक दलों में आंतरिक सत्ता संघर्ष भी नेताओं को इस प्रकार के सम्बन्धों पर निर्भर रहने को विवश करता है। यह सर्वविदित है कि कांग्रेस के आन्तरिक मतभेद ने तेलंगाना आन्दोलन को नया जीवन प्रदान किया। अधिकतर राजनीतिक्र दल अपने अस्तित्व के लिये क्षेत्रीय समस्याओं का गम्भीरता से समर्थन करते हैं। देश की संघवादी राजनीति में केन्द्रीकरण का मुकाबला करने के लिये भी क्षेत्रीय मुद्दों को उठाया जाता है। जिससे जनता का समर्थन मिलता रहे और क्षेत्रीय स्तर के दल राजनैतिक सौदेबाजी

केन्द्र की कम शक्तिशाली सरकार से कर सके। 1990 के बाद मिश्रित सरकारों के अध्ययन से क्षेत्रीय राजनीतिक दलों की मजबूत स्थिति समझ में आती है।

15.3.6 कुछ अन्य कारण

उपरोक्त कारणों के अतिरिक्त भाषा, जाति आदि भी हैं। हमारे देश में सैंकड़ों भाषायें बोली जाती है। एक ही भाषा के बोलने वाले लोग एक समूह में संगठित होकर अपनी भाषा के विकास के लिये प्रयास करते हैं। भाषाई विभिन्नता समाज के विभिन्न भाषायी समूहों के बीच टकराव उत्पन्न करती है विशेष कर मुस्लिम अल्पसंख्यकों को सबसे बड़ी शिकायत यह रही है कि उनकी भाषा उर्दू को भारत में उसका उचित स्थान नहीं दिया गया है। दूसरी ओर कुछ हिन्दी संगठनों की ओर से इसका कठोर विरोध किया जाता है। चूंकि उर्दू भाषा अधिकांशत: मुसलमानों की एवं हिन्दी भाषा अधिकांशत: हिन्दुओं की भाषा है इसलिये हिन्दी-उर्दू का झगड़ा हिन्दू-मुस्लिम दंगों में बदल जाता है। इसी प्रकार दक्षिण भारत में हिन्दी भाषा के विरुद्ध आन्दोलन प्राय: हिंसात्मक रूप धारण कर लेता है। दक्षिणी भारत के लोग न हिन्दी पढ़ने के लिये तैयार है न उसे सरकारी भाषा के रूप में देखना चाहते हैं।

इसी प्रकार जाति के आधार पर भी क्षेत्रीयता की प्रवृत्ति बढ़ी है। जिन क्षेत्रों में किसी एक जाति की प्रधानता रही वहाँ क्षेत्रीयतावाद की प्रवृत्ति दिखाई देती है। हरियाणा और महाराष्ट्र में क्षेत्रीयता की प्रवृत्ति फैलाने में मराठा एवं जाट जातिया प्रभावक तत्व रही है। दक्षिण भारत खासकर तमिलनाडु में ब्रह्मण विरोधी आन्दोलन भी इसी का उदाहरण है।

भारत में क्षेत्रीयतावाद उपरोक्त वर्णित कारणों में से किसी न किसी कारण से जन्म लेता रहा है। क्षेत्रीय महत्वाकांक्षा के आधार पर स्वतंत्र भारत में पृथक राज्यों की मांग की गयी और विभिन्न राज्य नये प्रान्तों के रूप में भारतीय संघ का अंग बने हैं। ताजा उदाहरणों में उत्तर प्रदेश में उत्तरांचल, बिहार में झारखण्ड तथा मध्य प्रदेश में छत्तीसगढ़ नाम के (तीन) नये राज्यों का गठन वर्ष 2000 में हुआ है। इसके अतिरिक्त विभिन्न राज्यों में क्षेत्रीय आन्दोलन पूर्ण राज्य का दर्जा प्राप्त करने का प्रत्यत्न रहे हैं जैसे उत्तर प्रदेश में —पूर्वांचल, हरित प्रदेश एवं बुन्देलखण्ड, महाराष्ट्र में विदर्भ, गुजरात में सौराष्ट्र, आंध्र प्रदेश में तेलगांना, असम में बोडोलैण्ड तथा पश्चिमी बंगाल में गोरखालैण्ड।

क्षेत्रीयतावाद का एक महत्वपूर्ण प्रदर्शन विभिन्न राज्यों के आपसी झगड़ो में दिखाई देता है। राज्यों के बीच सीमा विवादों एवं नदी जल विवादों को लेकर राज्यों में उग्र मतभेद एवं तनाव बढ़ रहे हैं। राष्ट्रीय स्रोतों के वितरण पर राज्यों के बीच कई बार सहमति नहीं हो पाई। जैसे तमिलनाडु और कर्नाटक के बीच कावेरी के जल वितरण का विवाद, महाराष्ट्र तथा कर्नाटक, पंजाब तथा हरियाणा के बीच सीमा विवाद अन्तर्राज्यीय झगड़ों के मुख्य उदाहरण हैं जिनमें कई बार क्षेत्रीयता की संकुचित मनोवृत्ति ने उग्र रूप धारण कर लिया। पूर्वोत्तर के क्षेत्र में कई हिंसक घटनाये हुई हैं।

क्षेत्रीय भावनाओं को उत्तेजित कर कई बार क्षेत्रीय राजनीतिक दल केन्द्र की शक्तियों को कम करना तथा प्रान्तीय स्वायत्तता को बढ़ाना चाहते हैं। दर-असल ऐसे आन्दोलनों का उद्देश्य अधिक स्वायत्तता प्राप्त करना ही होती है लेकिन वह पृथकता की मांग को दुहराते हैं जिस से वह राष्ट्रीय ताकतों से सौदेबाजी कर सके। इस प्रकार की स्थिति में जो संकट सन्निहित है वह यह है कि विदेशी शक्तियां ऐसे आन्दोलनों को बाहरी सहायता देकर विघटनकारी गतिविधियों को प्रोत्साहित करने में सफल हो जाती हैं।

क्षेत्रीयतावाद का उग्ररुप पृथकतावादी आन्दोलन है। पंजाब, कश्मीर एवं पूर्वोत्तर में इस प्रकार का

कटु अनुभव हमें हो चुका है। छटे दशक में फीजो ने एक पृथक प्रभुता—सम्पन्न नागालैण्ड की मांग की तो आठवें दशक में लाल डेंगा ने इसी प्रकार की मांग मीजो क्षेत्रों के लिये की। क्षेत्रीयतावाद से जुड़ा हुआ भूमि-पुत्र सिद्धान्त सामाजिक सौहार्द एवं सदभावना के लिये बड़ी चुनौती बनकर उभरा है। इस सिद्धान्त का अर्थ यह है कि वह प्रत्येक राज्य या क्षेत्र के लोग दूसरे राज्य के लोगों को जो उस भूमि पर नहीं पैदा हुये है, उन्हें विदेशी मानकर अपने राज्य में उनके प्रवेश, निवास एवं रोजगार को रोकना चाहते हैं। बंगाल केवल बंगालियों के लिये, महाराष्ट्र महाराष्ट्रीयों के लिये और असम असम वालों के लिये है। भूमि-पुत्र Son of the sod सिद्धान्त सामाजिक संकीर्णता को जन्म देता है और देश के विभिन्न भागों में रहने वालों के बीच द्वैष एवं वैमनस्य उत्पन्न करता है। इस प्रकार भूमि-पुत्र अवधारणा राष्ट्रवाद के विरुद्ध है।

असम में विदेशियों के विरुद्ध जो आन्दोलन हुआ, उसका आधार यह भी था कि यदि बड़ी संख्या में असम से बाहर के लोगों को असम में रहने की सुविधा उपलब्ध रही तो कुछ ही समय के बाद असमवादी अल्पसंख्यक हो जायेगे। इस स्थिति से उत्तेजित होकर आन्दोलन कारियों ने कुछ इस प्रकार के नारे दिये—"भारत माता को भूल जाओ, असम माता को प्यार करो।" "यदि तुम एक साँप और एक बंगाली को देखो तो साँप को मारने के बजाए पहले बंगाली को मार दो।"

ऊपर क्षेत्रीयतावाद से सम्बन्धित जिन बिन्दुओं का वर्णन किया गया उससे इसके नकारात्मक रूप का अध्ययन होता है। क्षेत्रीयतावाद से भारतीय राजनीतिक व्यवस्था पर कुछ सकारात्मक दबाव भी पड़े हैं—

क्षेत्रीयतावाद के आधार पर राज्य केन्द्र सरकार से सौदेबाजी करते है। इससे संघ का स्वरूप शक्तिशाली केन्द्रीकरण से हटकर सहकारी संघवाद की ओर बढ़ता है। मंत्रिपरिषद के सदस्य अपने-अपने क्षेत्रों का अधिक विकास करते हैं जिससे अपने राजनीतिक भविष्य को पक्का किया जा सके। प्रो० रशीदुद्दीन खान ने क्षेत्रीयतावाद के सकारात्मक पक्ष की चर्चा करते हुये लिखा है कि यह धारणा गलत साबित हुई कि क्षेत्रीयतावाद के कारण भारतीय संघ छिन्न-भिन्न हो जायेगा। अपितु यह मत अधिक सही साबित हुआ कि क्षेत्रीयतावाद एवं राष्ट्रवाद में सह-अस्तित्व सम्भव है।

15.4 क्षेत्रीयतावाद को रोकने के उपाय

भारत में क्षेत्रीयतावाद ने कहीं-कहीं गम्भीर रूप धारण करके हिंसा की राजनीति को बढ़ावा दिया है। पूर्वोत्तर क्षेत्र की अपनी समस्यायें हैं। वहाँ के राजनीतिक एवं राजनीति से प्रेरित गैर राजनीतिक समूह हिंसा का प्रयोग करते हैं तथा राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था एवं सम्पत्ति का बड़ा नुकसान होता है। इन संगठनों के द्वारा समय-समय पर 48 घंटे, 72 घंटे आदि का बन्द की घोषणा किये जाने से सामान्य जन जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है। यद्यपि हर क्षेत्रीयतावादी आन्दोलन पृथकवादी नहीं है लेकिन इसका उपयुक्त हल अगर समय से नहीं अपनाया जाये तो यही शक्तिशाली होकर उग्र रूप धारण कर लेता है। निम्न में कुछ उपाय सुझाये गये हैं—

(1) सभी क्षेत्र के लोगों को समान आर्थिक सुविधायें प्रदान की जाये जिससे आनावश्यक प्रतिस्पर्द्धी व ईर्ष्या की भावना समाप्त हो सके।

(2) केन्द्रीय सरकार की नीति कुछ इस प्रकार की होनी चाहिये कि सभी उप-सांस्कृतिक क्षेत्रों का सन्तुलित आर्थिक विकास सम्भव हो जिससे विभिन्न क्षेत्रों के बीच आर्थिक तनाव कम से कम हो।

(3) भाषा सम्बन्धी झगड़ो का हल शीघ्र ही ढूंढ़ लिया जाये तथा हिन्दी भाषा को किसी भी क्षेत्रीय समूह पर जबरदस्ती न थोपा जाये। हिन्दी भाषा का प्रचार व प्रसार इस प्रकार से किया जाये कि विभिन्न क्षेत्रीय समूह स्वत: ही इसे सम्पर्क भाषा के रूप में स्वीकार कर ले।

(4) प्रचार के विभिन्न साधनों के माध्यम से विभिन्न क्षेत्रों के सांस्कृतिक लक्षणों के विषय में लोगों के सामान्य ज्ञान को बढ़ाया जाय जिससे कि एक क्षेत्र के लोग दूसरे क्षेत्र के प्रति अधिक सहनशीलता की भावना अपना सके।

(5) केन्द्रीय मंत्रिमण्डल में सभी क्षेत्रों के नेताओं का संतुलित प्रतिनिधित्व हो जिससे कि क्षेत्रीय पक्षपात पूर्ण नीतियों का खण्डन हो सके और केन्द्रीय सरकार के इरादों पर किसी को भी सन्देह न रहे।

15.5 राष्ट्रीय एकीकरण : आवश्यकता

किसी भी राज्य की राष्ट्रीय अखण्डता तथा एकता उसके लिये सबसे महत्वपूर्ण होती है। कोई भी राज्य यह सहन नहीं कर सकता कि उसकी राष्ट्रीय अखण्डता का विनाश हो। राष्ट्रीय अखण्डता एकीकरण पर निर्भर करती है। राष्ट्रीय एकीकरण राष्ट्र की प्रथम आवश्यकता है। राज्य के विकास के लिये यह आवश्यक है कि राज्य के अन्दर रहने वाले विभिन्न लोगों में एकता की भावना हो और यही भावना राष्ट्रीय एकीकरण का सार है। राष्ट्रीय एकीकरण का सम्बन्ध अनेकताओं में एकता स्थापित करता है। राष्ट्रीय एकीकरण की भावना द्वारा विभिन्न धर्मो, जातियों एवं भाषाओं के लोगों में परस्पर मेल जोल बढ़ाकर एकता का विकास किया जाना है।

राष्ट्रीय एकीकरण एक ऐसे समाज में जिसकी पहचान की बुनियाद/आधार बहुआयामी हो बड़ी आवश्यकता बन जाता है। भारत इसी प्रकार का एक देश है जहाँ आधुनिक अर्थों वाला राष्ट्रवाद जो युरोपीय राजनीतिक व्यवहार से हमने प्राप्त किया है अभी भी परिपक्व नहीं हुआ है। राष्ट्रीय भावनाओं के साथ ही साथ भारतीय समाज में व्यक्ति की वफादारी विभिन्न अन्य तत्वों की ओर बदलती रहती है।

राष्ट्रीय एकीकरण का अर्थ यह नहीं है कि विविधताओं का अन्त करके पूरे देश में एक धर्म या एक भाषा लागू कर दी जाये। एकीकरण से तात्पर्य विलय नहीं है, वरन् विभिन्नताओं को इस तरह बनाए रखना है कि उनसे देश का अस्तित्व खतरे में न पड़ने पाये। विविध हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले समूहों का हित सुरक्षित रहने के साथ-साथ यह भी जरूरी है कि दूसरे वर्गों एवं समूहों के हितों को भी ध्यान में रखा जाय। कोई भी व्यक्ति या समूह अपने हितों के लिये राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा न करने पाए।

एकीकरण की अवधारणा इस बात पर आधारित है कि राष्ट्र का हित व्यक्ति, समूह अथवा क्षेत्रीय हितों से ऊपर है। राष्ट्रीय एकीकरण का अर्थ है क्षेत्रीय, व्यक्तिगत हितों और राष्ट्रीय हितों के बीच सामन्जस्य स्थापित करना तथा ऐसे वातावरण को उपलब्ध कराना जिसमें कोई व्यक्ति या समूह कवल अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिये राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा न करने पाये तथा किसी अन्य वर्ग या समूह का शोषण न करे।

भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति डा० एस० राधाकृष्णन के अनुसार, ''राष्ट्रीय एकीकरण एक घर नहीं है जो चूने और ईंटों से बनाया जा सकता है। यह एक औद्योगिक योजना भी नहीं है जिस पर विशेषज्ञों द्वारा विचार किया जा सकता है और रचनात्मक रूप दिया जा सकता है। इसके विपरीत एकीकरण एक ऐसा विचार है जिसका विकास लोगों के दिलों में होता है। यह एक चेतना है

जिससे जन साधारण को जागृत करना है।

प्रो० माइरन वीनर (Myron Weiner) के अनुसार, "राष्ट्रीय एकीकरण का अभिप्राय उन विघटनकारी आन्दोलनों पर निगरानी रखना है जो राष्ट्र को खण्डित कर सकते हो और सम्पूर्ण समाज में ऐसी अभिवृत्तियों का होना है जो संकीर्ण हितों की अपेक्षा राष्ट्रीय और सार्वजनिक हितों को प्राथमिकता देती हो।"

भारत में स्वतन्त्रता आन्दोलन के समय पूरे देश में एकता का जो वातावरण उत्पन्न हुआ, वह इससे पहले कभी देखने में नहीं आया। एक सामान्य लक्ष्य स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिये सभी धर्म, जाति और क्षेत्र के लोग सुसंगठित होकर अपने पारस्परिक मतभेदों तथा विभिन्नताओं को भूलकर बलिदान के लिये तैयार हो गये। स्वतंत्रता के बाद आधुनिक उदारवादी प्रतियोगिता पर आधारित राजनीति को एक पुराने समाज पर लागू किया गया। इस प्रतियोगी राजनीति ने व्यक्तिगत स्वार्थ को आगे बढ़ाया, समूह-चेतना को विकसित किया, नई जातियाँ और नये समूह संगठित रूप में अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करने तथा अपने हितों को बढ़ावा देने के लिये संघर्षरत हो गये। राजनीतिक आधुनिकीकरण के फलस्वरूप एक ओर धर्म-निरपेक्ष राजनीतिक व्यवस्था स्थापित हुयी और दूसरी ओर जातीय जागरुकता को प्रोत्साहन मिला। परिणाम यह हुआ कि विभिन्न धार्मिक, भाषायी, जातीय और क्षेत्रीय समूहों के बीच हितों का संघर्ष प्रारम्भ हो गया और इसने एक गम्भीर राष्ट्रीय समस्या का रूप धारण कर लिया। आगे हम राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में बाधक तत्वों का वर्णन करेंगे।

15.6 राष्ट्रीय एकीकरण में बाधक तत्व

राष्ट्रीय एकीकरण में बाधक तत्वों के अन्तर्गत धर्म, भाषा, क्षेत्र, जाति, आर्थिक असंतुलन इत्यादि को रखा जाता है जिनके कारण समाज के विभिन्न वर्गों के बीच खाई बढ़ती जाती है।

15.6.1 साम्प्रदायिकता

अंग्रेजी शासन से पहले भारत में हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता देखने को नहीं मिलती थी, यद्यपि युद्ध होते थे पर वे राजा राजाओं के बीच थे। जनता में कटुता की भावना न थी। इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि भारत में साम्प्रदायिकता फैलाने का कार्य अंग्रेजों ने किया। उनके द्वारा यहाँ 'फूट डालो और राज करो' की नीति अपनाई गयी। उन्होंने सत्ता मुस्लिम शासकों से छीनी थी इसलिये प्रारम्भ में उन्होंने मुस्लिम विरोधी तथा हिन्दू समर्थक नीतियों को अपनाया। बाद में उनकी नीति मुस्लिम समर्थक तथा हिन्दू विरोधी हो गयी।

इस प्रकार भारत में साम्प्रदायिकता बढ़ती गयी। ज्ञातव्य हो कि साम्प्रदायिकता एक निम्न कोटि की विभाजनात्मक प्रवृत्ति हैं। इसने हमारे देश का बड़ा अहित किया है। साम्प्रदायिकता के कारण ही देश का विभाजन हुआ। अंग्रेजों के चले जाने तथा देश के विभाजन के बावजूद साम्प्रदायिकता खत्म नहीं हुई। स्वतंत्र भारत में छोटे-छोटे मामलों को लेकर हजारों साम्प्रदायिक दंगे हुये हैं। जिसमें अपार जान माल का नुकसान हुआ है। साम्प्रदायिकता भारत के दो बड़े धार्मिक समूहों हिन्दू-मुस्लिम के अतिरिक्त हिन्दू-सिख, हिन्दू-ईसाई तथा स्वयं विभिन्न धर्मों में पाये जाने वाले उप-समूहों के बीच भी देखने को मिलती है। हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिक संगठनों ने जहां साम्प्रदायिकता की भावना को बढ़ाने में अहम भूमिका निभाई है वहीं वोटों की राजनीति के कारण सेक्यूलर राजनीतिक दलों ने भी धर्म का सहारा लेकर व्यक्ति को धार्मिक आधारों पर बाँटने का कार्य किया है। साम्प्रदायिकता लोकतंत्र के लिये कलंक है तथा राष्ट्रीय एकता को नुकसान पहुंचाती है।

15.6.2 जातिवाद

जातिवाद की समस्या ने भी राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में बाधा पहुंचाई है। इस समस्या के

सम्बन्ध में डा० राधा कृष्णन ने कहा था ''यद्यपि जाति का एक सामाजिक बुराई के रूप में अन्त हो रहा है, तथापि अब उसने एक राजनीतिक और प्रशासकीय बुराई का रूप धारण कर लिया है। हम जाति के प्रति निष्ठाओं को चुनाव जीतने के लिये अथवा नौकरियों में अधिक लोगों को रखने के लिये प्रयोग कर रहे हैं।''

जाति ने समाज को विभिन्न छोटे-छोटे समूहों में विभाजित कर दिया है और उन सबमें इस बात के लिये संघर्ष है कि वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था में वे कितना लाभ उठा सकते हैं। अपने हितों को सुरक्षित रखने और उन्हें ज्यादा से ज्यादा विकसित करने की आकांक्षा विभिन्न जातियों के बीच प्रतिस्पर्धा और टकराव उत्पन्न करती है। मण्डल आयोग की सिफारिशों को लागू करते वक्त/समय देश में ऊँची नीची जातियों के बीच जो संघर्ष हुआ था वह किसी से छुपा हुआ नहीं है। जाति भेद संगीर्णता का द्योतक है जातीय मतभेदों से गुटबन्दी बढ़ती है, पक्षपात की भावना बढ़ती है और आन्दोलन होते हैं। तमिलनाडु में गैर-ब्राह्मणों ने उच्च जातियों के विरुद्ध कई बार संगठित रूप से आन्दोलन किये हैं। प्रभावशाली जातियों के बीच में अधिकाधिक शक्ति सिमट रही है। गाँव में प्रभावशाली जातियों एवं दलितों के बीच झगड़े होते ही रहते हैं।

15.6.3 भाषावाद

भारत एक बहुभाषी राज्य है। 1927 में जो भाषा सर्वक्षण प्रकाशित किया गया था उसके अनुसार भारत में 179 भाषाएं, 544 बोलियां तथा कुल मिलकर 1652 मातृभाषाएं थी। 1991 की जनगणना के अनुसार 1018 भाषाएं भारत में बोली जाती हैं जिनमें 26 मुख्य है। वर्तमान में संविधान की आठवीं अनुसूची में 22 भाषायें सम्मिलित हैं।

स्वतंत्रता आन्दोलन के समय कांग्रेस ने भी यह घोषणा की थी कि स्वतंत्रता के बाद वे राज्यों का भाषायी आधार पर पुनर्गठन करेंगे। 1956 में भाषायी आधार पर राज्यों का पुनर्गठन यह सोचकर किया गया था कि इससे राष्ट्रीय एकीकरण को सहायता मिलेगी। परन्तु इस पुनर्गठन के बाद देश के विभिन्न भागों में दंगे फसाद हुये। बम्बई में गुजराती व मराठी भाषा के लिये लड़ाई-झगड़े हुये जिसके फलस्वरूप 1960 में सरकार को महराष्ट्र तथा गुजरात दो नये राज्य बनाने पड़े। पंजाब का विभाजन तथा हरियाणा राज्य की स्थापना (1966) इसी करण हुयी। तमिलनाडु में हिन्दी विरोधी आन्दोलन कई बार चलाया गया है।

इस प्रकार भाषाई विभिन्नता समाज के विभिन्न भाषायी समूहों के बीच टकराव उत्पन्न करती है। विशेष रूप से मुसलमानों की सबसे बड़ी शिकायत यह है कि भारत में उर्दू भाषा को उसका उचित स्थान नहीं दिया गया है। एक समय में उत्तरी भारत में उर्दू-हिन्दी विवाद गम्भीर समस्या बन गया था। भाषा की समस्या राष्ट्रीय अखण्डता के लिये खतरा बन चुकी है। भाषायी आधार पर इस प्रकार समाज का वैमनस्यपूर्ण विभाजन राष्ट्रीय एकता के लिये अत्यधिक घातक है।

15.6.4 क्षेत्रीयतावाद

क्षेत्रवाद या प्रादेशिकता का अर्थ है कि सारे की अपेक्षा किसी एक विशेष क्षेत्र के प्रति निष्ठा रखना। भारत में प्रादेशिकता की यह समस्या अत्यन्त गम्भीर है तथा एक देश व्यापी सिद्धान्त बन गया है। यह राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में एक बहुत बड़ी बाधा बन गया है। इसके विकास के तीन प्रमुख कारण हैं। इसका पहला कारण है ऐसा औद्योगिक तथा आर्थिक विकास जिससे सामान्य व्यक्ति को बहुत कम लाभ हुआ है। स्वतंत्रता से पहले लोगों के मन में यह भावना पैदा की गयी थी कि उनके दु:खों का कारण विदेशी शासन है। स्वतंत्रता मिलते ही देश खुशहाल एवं सम्पन्न हो जायेगा। पर यह सभी वादे झूठे निकले तथा लोगों को निराशा, कठिनाइयों व शोषण के अतिरिक्त कुछ नहीं मिला। दूसरा कारण था कि पिछड़े हुये क्षेत्रों के निवासियों ने यह अनुभव

करना शुरू कर दिया कि कारखाने या उद्योग लगाने में, रोजगार की सुविधाऐं उपलब्ध करवाने बांधों-पुलों इत्यादि के निर्माण में तथा केन्द्रीय अनुदान प्रदान करने के मामले में उनके क्षेत्र की अनदेखी की जा रही है। तीसरे इसका कारण यह भी रहा कि कांग्रेस के राष्ट्रीय नेताओं ने शक्ति के लिये असैद्धान्तिक तरीके अपनाये।

इस प्रकार क्षेत्रवाद जायज इच्छाओं की अभिव्यक्ति से आगे बढ़कर राष्ट्रीय एकीकरण के लिये उस समय खतरा बनने लगता है जब पृथकता का सहारा लिया जाता है।

15.6.5 आर्थिक असंतुलन

आर्थिक विषमता भी एकता के विरुद्ध वातावरण उत्पन्न करती है। जो अधिक निर्धन या अभाव ग्रस्त है जिन्हें मेहनत करने पर भी पेट भर भोजन नहीं मिलता वे बड़े-बड़े महलों में विलास के सब साधनों के साथ जीवन गुजारने वालों के साथ ईर्ष्या-द्वेष का भाव रखे तो अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। गरीबों और श्रमिकों में ही नहीं मध्यम वर्ग के लोगों में भी शोषण के प्रति विद्रोह को भावना उत्पन्न होती है। देश में कुछ राज्य आर्थिक रूप से समृद्ध हैं तो कुछ राज्य पिछड़े हुये हैं। राज्यों में भी कुछ क्षेत्रों के विकास पर पर्याप्त ध्यान दिया गया तो कुछ क्षेत्रों की उपेक्षा कर दी गयी। आज भी देश में रोजगार के अवसरों के वितरण तथा राष्ट्रीय सम्पदा के बंटवारे के प्रश्नों को लेकर संघर्ष उत्पन्न होते हैं।

जब देश व समाज में एक वर्ग के लोगों में दूसरे वर्ग के लोगों के प्रति, एक राज्य में दूसरे राज्य के लोगों के प्रति द्वेष व विरोध की भावना उत्पन्न होगी तो राष्ट्रीय एकता कहाँ बाकी रहेगी आर्थिक असमता ने वर्ग-संघर्ष को जन्म दिया है जो समाज में अशान्ति और संघर्ष का कारण बनती है।

15.6.6 सामाजिक संरचना

यद्यपि भारतीय संविधान ने सामाजिक तथा राजनीतिक समानता स्थापित करने के लिये संविधान में समुचित प्रावधान किये हैं। लेकिन व्यवहारिक रूप में सामाजिक जीवन में धर्म, जाति, सम्प्रदाय तथा अमीर और गरीब के बीच भेदभाव पाया जाता है। राजनीतिक आधुनिकीकरण के पश्चात वैधानिक रूप से समानता और धर्म निरपेक्षता के आदर्शों को अपनाया गया है परन्तु वास्तविकता यह है कि लोगों के हृदय एवं मस्तिष्क पर परम्परावादी छाप आज भी मौजूद है। परिणामस्वरूप हमारे दैनिक जीवन में धर्म, जाति, साम्प्रदायिकता जैसे तत्वों का गहरा प्रभाव दिखाई देता है। हम एक ओर जनतंत्र और धर्म-निरपेक्षता में आस्था रखने का दावा करते हैं और दूसरी ओर अपने स्वार्थों को पूरा करने के लिये अजनतंत्रीय तरीकों को अपनाने में संकोच नहीं करते। इसने भी राष्ट्रीय एकीकरण में बड़ी बाधा उत्पन्न की है।

समाजवाद की असफलता, निरक्षरता, दोषपूर्ण शिक्षा प्रणाली तथा भ्रष्टाचार भी राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में बाधाएँ है। विदेशी ताकतों को भारत को अस्थिर करने में ऊपर की आन्तरिक कमजोरियों से ही हस्तक्षेप करने का अवसर प्राप्त हो जाता है।

15.7 राष्ट्रीय एकीकरण के उपाय

भारत की एकता व अखण्डता को बनाए रखने के लिये राष्ट्रीय एकीकरण अति आवश्यक है। बिना राष्ट्रीय एकीकरण के राष्ट्रीय अखण्डता को नहीं कायम किया जा सकता।

ऐसा लगता है कि राष्ट्रीय एकीकरण को जो मूलत: एक सामाजिक समस्या है, राजनीतिक रंग दे दिया गया है और इसने नारेबाजी का रंग धारण कर लिया है। यह स्पष्ट है कि एक बहुल समाज में राष्ट्रीय एकता की स्थापना बलपूर्वक या दण्ड के भय के द्वारा नहीं की जा सकती। कानन

सामाजिक परिवर्तन का एक साधन तो है लेकिन इसे एक मातृ साधन के रूप में नहीं अपनाया जा सकता। सामाजिक परिवर्तन लाने के लिये मानसिक परिवर्तन लाना आवश्यक है। नागरिकों में आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था और उसकी मान्यताओं के प्रति अटूट आस्था पैदा कराने की जरूरत है।

एकीकरण का सार है अपनत्व की भावना यह विश्वास कि विभिन्न धर्म और जाति से सम्बन्ध रखने के बाद भी हम मनुष्य होने और एक ही देश के वासी होने के नाते एक है। एकीकरण के लिये आवश्यकता है बलिदान की भावना की, मानवतावादी भावना की, सहिष्णुता की और राष्ट्र के प्रति दृढ़ निष्ठा की। 1961 में राष्ट्रीय एकीकरण सम्मेलन में यह कहा गया था कि, ''राष्ट्रीय एकीकरण एक मनोवैज्ञानिक और शैक्षिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा लोगों के दिलों में एकता, अखण्डता और सामंजस्य की भावना विकसित करना तथा एक नागरिकता का विचार और राष्ट्र के प्रति निष्ठा की भावना उत्पन्न करना है।'' राष्ट्रीय एकीकरण के लिये निम्न उपाय सहायक होंगे—

जन-शिक्षा की व्यवस्था इस प्रकार से हो कि औपचारिक और अनौपचारिक दोनों क्षेत्रों से शिक्षा ग्रहण करके धर्म, जाति, संकुचित हितों से ऊपर उठकर व्यक्ति में आचरण की तब्दीली पैदा हो सके।

राजनीतिक दल जन-शिक्षा का एक महत्वपूर्ण और प्रभावी साधन होते हैं। दल-प्रणाली में स्वस्थ परम्पराओं का विकास किया जाना आवश्यक है। आज देश में सिद्धान्तहीन राजनीति हो रही है इस पर ध्यान देना आवश्यक है। राजनीतिक दलों को अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिये धर्म, जाति, भाषा या क्षेत्रीय भावनाओं को नहीं भड़काना चाहिये। राजनीतिक दलों को राष्ट्रीय एकीकरण के लिये एक स्वस्थ जनमत का निर्माण करना चाहिये।

जनमत-निर्माण में प्रेस की महत्वपूर्ण भूमिका होती है यह अफसोस की बात है कि भारत में प्रेस निष्पक्ष नहीं रहा है और उसने साम्प्रदायिकता को बढ़ावा दिया है। यह प्रायः देखने में आया है कि देश के किसी भाग में हुयी एक साम्प्रदायिक घटना को समाचार पत्र बढ़ा चढ़ाकर प्रकाशित करते हैं जिससे साम्प्रदायिक तनाव दूसरे क्षेत्रों में भी फैल जाता है। स्थानीय भाषा में प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं का कार्य इसमें और भी विवादास्पद होता है। प्रेस के स्वतंत्र और निष्पक्ष न होने के कारण समाज के विभिन्न वर्गों के बीच दूरी बढ़ी है।

किसी **समस्या के** उत्पन्न होने पर पर्याप्त नियंत्रणात्मक कानूनों के होते हुये भी प्रशासक वर्ग की उदासीनता, प्रशासनिक शिथिलता और अनिष्पक्षता के कारण समस्या बढ़ जाती है। अल्प-संख्यकों की ओर से बराबर यह आरोप लगाया जाता है कि प्रशासन बहु-संख्यक वर्ग का पक्ष लेता है और अल्प संख्यकों के साथ विभेदपूर्ण रवैया अपनाता है। अब तक जितने भी साम्प्रदायिक दंगे हुये है उन सब के मूल में प्रशासन की कमजोरी तथा अनिष्पक्षता का बड़ा हाथ रहा है मार्च 2002 में व्यापक पैमाने पर हुये गुजरात दंगों ने एक बार पुनः इसको सिद्ध कर दिया है। प्रशासन में बढ़ता हुआ भ्रष्टाचार सामाजिक न्याय की स्थापना में बाधक रहा है।

आर्थिक असंतुलन का समाप्त करने के लिये भी ठोस कदम उठाये जाने चाहिये। आर्थिक न्याय के क्षेत्र में सरकार एवं विभिन्न स्वयंसेवी संगठनों को प्रयास करना चाहिये। रोजगार के उचित अवसर उपलब्ध हों और समाज का प्रत्येक वर्ग और व्यक्ति इस स्थिति में हो कि कम से कम उसकी दैनिक आवश्यकतायें तो पूरी हो सकें। आर्थिक विषमता को कम करके, गरीबी को दूर करके तथा आर्थिक लाभों को न्यायपूर्ण तरीके से वितरित करके ही राष्ट्रीय एकीकरण की सम्भावना को बढ़ाया जा सकता है।

इसी के साथ यह भी जरूरी है कि अल्पसंख्यक वर्गों में यह विश्वास उत्पन्न होना चाहिये कि

बहुमत के द्वारा उनके साथ कोई अन्याय नहीं किया जायेगा।

15.8 सारांश

ऊपर के पृष्ठों में हमने क्षेत्रीयतावाद तथा राष्ट्रीय एकीकरण का अध्ययन किया। क्षेत्रीयतावाद एक ऐसी समस्या है जिसका आधुनिक भारतीय समाज में उत्पन्न होना स्वाभाविक था। क्योंकि लोकतंत्र विभिन्न हितों, वर्गों एवं समूहों के बीच प्रतियोगी राजनीति पर आधारित है। उदार लोकतंत्र के जिस प्रतिमान को हमने अपनाया है उसमें साधारण बहुमत वाली संसदीय व्यवस्था प्रमुख है और फिर इस संसदीय व्यवस्था में प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र से सर्वाधिक मत प्राप्त व्यक्ति चुनाव जीतता है। कभी-कभी कोई राजनीतिक दल डाले गये मतों का अच्छा प्रतिशत प्राप्त करके भी विधान मण्डलों में उस अनुपात में नहीं पहुँच पाता। विविधता मूलक समाज में विभिन्न आधारों पर केन्द्रीकरण के विरुद्ध आवाज उठती है। देश के राजनीतिक वर्ग को तथा जन-समस्याओं से जुड़े हुये संगठनों को समस्या के मुख्य कारणों का पता लगाना चाहिये। केवल अपने राजनीतिक और सामाजिक प्रतिद्वन्दियों को देश--द्रोह, पृथकवादी एवं विदेशी शक्तियों मे समर्थन प्राप्त करने का आरोप देने से ही काम नहीं चलेगा।

राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में नि:संदेह क्षेत्रीयतावाद का उग्र रूप संकट उत्पन्न करने वाला है। भारत के साथ यह समस्या है कि राष्ट्रीय चेतना के स्थान पर व्यक्ति जाति, धर्म, क्षेत्र की चेतनाओं के साथ जुड़ा हुआ है। फिर भी राष्ट्रीय एकीकरण का अर्थ अनिवार्यत: यह नहीं है कि कोई व्यक्ति तेलगू, तमिल, मराठी आदि नहीं हो सकता। मूलत: राष्ट्रीय एकता को क्षेत्रवाद एवं राष्ट्रवाद के बीच एक स्वस्थ समन्वय के रूप में व्यक्त किया जा सकता है। अंध राष्ट्रवाद तथा संकीर्ण क्षेत्रवाद समान रूप से घातक तथा विघटनकारी हैं।

राज्य को व्यक्ति के साथ व्यवहार करने में नागरिक के रूप में होने का विचार करना चाहिये तथा व्यक्ति अपने को स्वयं संकीर्ण पहचानों से ऊपर उठकर एक बड़े भारतीय समाज के सक्रीय एवं उत्तरदायी नागरिक सदस्य के रूप में देखे तो राष्ट्रीय एकीकरण को आये हुये खतरों से सुरक्षा मिलेगी।

15.9 उपयोगी पुस्तकें

(1) डब्ल्यू० एच० मोरिस जोन्स : 'गवर्नमेंट एण्ड पॉलिटिक्स आफ इण्डिया'

(2) रजनी कोठारी : पॉलिटिक्स इन इण्डिया''

(3) मायरन वीनर : पॉलिटिक्स ऑफ स्कारसिटी

(4) लायड एडोल्फ एण्ड सूजन रूडोल्फ : इन परसूट ऑफ लक्ष्मी-द पॉलिटिकल इकानामी ऑफ द इण्डियन स्टेट

15.10 सम्बन्धित प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

(i) क्या क्षेत्रवाद राजनीति की देन है? संक्षेप में लिखिये।

(ii) क्षेत्रीयतावाद के क्या-क्या मुख्य कारण हैं?

(iii) क्षेत्रीयतावाद को समझाइये।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(i) क्षेत्रीयतावाद को रोकने के उपायों पर एक निबन्ध लिखिये?

(ii) राष्ट्रीय एकीकरण के क्या उपाय आप सुझाना चाहेंगे?

(iii) राष्ट्रीय एकीकरण में बाधक तत्व कौन-कौन से हैं? स्पष्ट कीजिये।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. राज्य पुनर्गठन आयोग की स्थापना कब हुई?

(अ) 1956

(ब) 1957

(स) 1958

(द) 1959

2. संविधान की आठवीं अनुसूची में कितनी भाषायें सम्मिलित हैं?

(अ) 20

(ब) 21

(स) 22

(द) 23

3. उत्तराँचल राज्य का गठन किस वर्ष में हुआ?

(अ) 1991

(ब) 2000

(स) 2001

(द) 2002

15.11 प्रश्नोत्तर

1. (अ)

2. (स)

3. (ब)

इकाई 16 : नेतृत्व का बदलता हुआ स्वरूप

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य

16.1 प्रस्तावना

16.2 नेतृत्व की आवश्यकता

16.3 नेतृत्व का अर्थ

16.4 नेतृत्व के गुण और प्रकृति

16.5 भारत में नेतृत्व कहाँ स्थित है

16.6 प्रधानमंत्री देश के नेता रूप में

16.7 प्रधानमंत्री की बदलती हुयी भूमिका

16.8 सारांश

16.9 उपयोगी पुस्तकें

16.10 सम्बन्धित प्रश्न

16.11 प्रश्नोत्तर

16.0 उद्देश्य

भारत एक विकासशील देश है। स्वतंत्रता के पश्चात देश के सामने आर्थिक सामाजिक विकास की नयी चुनौतियाँ आयी हैं। भारतीय एवं अन्य समाजों का अध्ययन करने वालों ने नेतृत्व पर बहुत जोर दिया है। हम जानते हैं कि अच्छा, कुशल नेतृत्व देश को विकास के मार्ग पर आगे बढ़ाता है और विकास को अवरुद्ध करने वाली गतिविधियों पर रोक लगाता है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप—

- नेतृत्व के गुणों को समझते हुये देश के राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक विकास की विवचेना कर सकेंगे।

- नेतृत्व भारत में कहां स्थित है तथा इसका उपयोग सकारात्मक कार्यों में कैसे किया जा सकता है उसका उल्लेख कर सकेंगे।

- साथ ही साथ भारतीय सन्दर्भ में प्रधानमंत्री की बदलती हुयी भूमिका पर टिप्पणी कर सकेंगे।

16.1 प्रस्तावना

राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक दलों की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। उदार लोकतंत्रों में राजनीतिक दल प्रतियोगी राजनीति के खेल में भाग लेने वाले होते हैं। इस प्रकार नेतृत्व का अपना ही महत्व है। हर पार्टी एक ऐसे व्यक्ति की देख रेख में कार्य करती है जो अन्य व्यक्तियों को प्रोत्साहित, प्रभावित, प्रेरित और नियन्त्रित कर सकता है, वह जिन व्यक्तियों का नेतृत्व कर रहा है उनके विचारों, भावनाओं और कार्यों का मार्ग दर्शन एवं उन्हें दिशा प्रदान कर सके। नीचे

की पंक्तियों में हम नेतृत्व को भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के परिपेक्ष्य में देखेंगे।

16.2 नेतृत्व की आवश्यकता

आज भारत में प्रशासनिक एवं राजनीतिक संकट वास्तव में नेतृत्व का ही संकट है। भारत में प्रथम चार दहाइयों में 'सार्वजनिक क्षेत्र' में लगातार वृद्धि होने के कारण निरन्तर 'कल्याणकारी राज्य के अधीन अनेक जटिल तथा बड़े संगठन बनते गये। इन संगठनों से जुड़े हुये स्कूलों, अस्पतालों, उद्योगों, इस्पाती कारखानों, निगमों, संस्थाओं तथा प्रयोग शालाओं के लिये एक ही अनिवार्य तत्व-प्रशासकीय नेतृत्व की जरूरत होती है। लेकिन इन सबके ऊपर राजनीतिक नेतृत्व होता है क्योंकि अन्तिम निर्णय राजनीति एवं संविधान ने मंत्रिपरिषद को दे रखा है? जिसमें प्रधानमंत्री की शक्तिशाली स्थिति होती है। यद्यपि सत्ता राजनीति की आवश्यक कसौटी है और हर एक राजनीतिक दल सत्ता के लिये संघर्ष में भाग लेता है। प्राकृतिक रूपों में सत्ता और नेतृत्व सामाजिक कार्य कारण भाव की प्रणाली का अंग बन जाते हैं।

नेतृत्व का उच्च और श्रेष्ठ प्रकार परिवर्तनात्मक पक्ष में देखा जा सकता है जहाँ नेता 'उत्थान करने, संचालन करने, प्रेरणा प्रदान करने, आवाहन करने, ऊपर उठाने, प्रचार करने, ललकारने और धार्मिक उत्साह से' अविस्मरणीय सेवायें प्रदान करता है। इस बारे में सबसे उत्कृष्ठ नाम महात्मा गांधी का है जिन्होंने इंडियन नेश्नल कांग्रेस का कायाकल्प कर दिया था।

16.3 नेतृत्व का अर्थ

नेतृत्व का दोहरा अर्थ है। शब्द कोष में 'नेतृत्व करना' (to lead) का अर्थ दो विभिन्न भावों में दिया हुआ है। उसका एक अर्थ 'सर्वोत्तम होना, अग्रणी होना, प्रसिद्ध होना है। दूसरा अर्थ है दूसरों को मार्ग दिखाना, किसी संगठन का प्रधान बनना, समादेश देना। इस प्रकार वैयक्तिक नेतृत्व (personal Leadership) तथा प्रबन्धकीय नेतृत्व (Managerial Leadership) के मध्य एक लाभकारी विभाजक रेखा खींची जा सकती है। मनुष्य ''वैयक्तिक रूप से नेतृत्व की प्रतिभा लेकर पैदा होता है परन्तु उसे प्रबन्धकीय नेतृत्व सीखने की आवश्यकता होती है।

शुरु में यह स्पष्ट कर देना जरूरी है कि नेतृत्व को आदेश या भय के समकक्ष नहीं समझना चाहिये। नेतृत्व को ''किसी उद्देश्य की प्राप्ति में सहयोग करने के लिये लोगों को समझाने की क्रिया'' कहा गया है।

टेरी ने (Terry) इसकी परिभाषा देते हुये कहा है ''नेतृत्व आपसी उद्देश्यों के लिये व्यक्तियों द्वारा स्वेच्छा से प्रभावित करने की क्रिया है।''

सेक्लर हडसन (Seckler-Hudson) के अनुसार ''बड़े-बड़े संगठनों में नेतृत्व की परिभाषा किसी उद्यम के प्रयोजनों की प्राप्ति हेतु समान प्रयत्न द्वारा व्यक्तियों को प्रेरित तथा प्रभावित करने के रूप में की जा सकती है।''

बर्नार्ड (Barnard) के अनुसार ''नेतृत्व व्यक्तियों के व्यवहार को उत्तमता की ओर निर्देशित करता है जिसके द्वारा वे किसी संगठित प्रयत्न में संलग्न लोगों या उनकी क्रियाओं का मार्ग दर्शन करते हैं।'' उसके अनुसार नेतृत्व के लिये तीन आवश्यकतायें हैं (1) व्यक्ति (2) अनुयायी (3) परिस्थितियाँ (1) अच्छा नेतृत्व के बल अच्छे व्यक्तित्व पर निर्भर नहीं करता बल्कि नेतृत्व की कुशलता के लिये आस-पास के वे व्यक्ति जो उसके अनुयायी श्रेणी में आते हैं उनका भी कुशल होना आवश्यक है। इन्दिरा गांधी अपनी श्रेष्ठता के चरम काल में भारत की पाकिस्तान पर विजय के बाद अनुयायी जाल में जमीनी वास्तविकताओं का सही आकलन नहीं कर पाई तथा उन्होंने

राजनीतिक मतभेदों को कुचलने के लिये जिस राष्ट्रीय आपात की घोषणा की उसमें जन साधारण के नागरिक अधिकारों एवं मूल स्वतंत्रताओं का काफी हनन हुआ तथा उनको आगामी चुनावों में करारी हार का मुँह देखना पड़ा। इन्दिरा गाँधी के अनुयायियों में ऐसे लोग भी थे जो यहाँ तक कह बैठे कि 'India is Indira and India is India' अर्थात् इन्दिरा भारत है और भारत ही इन्दिरा है।

नेतृत्व के विकास में परिस्थितियां भी निर्णायक होती है। मिलेट (Millet) के अनुसार ''नेतृत्व प्राय: परिस्थितियों के अनुसार बनता या बिगड़ता है। उसके अनुसार नेतृत्व की दो आवश्यक परिस्थितियां है : राजनीति (Political) तथा संस्थागत (Institutional).

ऊपर के वक्तव्यों से यह स्पष्ट हो गया है कि राजनीति के क्षेत्र में नेतृत्व एक सहज प्रवृत्ति है। अधिकतर लोगों में यह प्राकृतिक एवं स्वाभाविक रूप से पैदा होती है। जो लोग राजनीतिक दलों या संस्थाओं में आगे बढ़ते हैं वह अपनी प्राकृतिक लक्षणों Natural Traits से और अधिकांशत: एक विशिष्ट वर्ग का सदस्य होने के कारण ऐसा करते है। समाज के सम्पन्न हिस्से से आये अधिकांश लोगों के एक समूह का सत्ता पर आधिपत्य, निचले स्तर पर सत्ता से सामान्य लोगों का बहिष्करण (कुछ अपवादों को छोड़कर) तथा भारतीय जनता का एक जन समाज में रूपान्तरण आदि यह दर्शाते हैं कि समकालीन भारतीय लोकतान्त्रिक अनुभव भी इस विचार की पुष्टि करता है कि हमारे देश में लोगों के एक छोटे से समूह के हाथों में ही वास्तविक शक्ति केन्द्रित है। भारतीय राजनीतिक लोकतंत्र में निहित प्रेरणा पद एवं सत्ता के लिये अभिजात्य समूहों की एक खुली प्रतिस्पर्धा का मात्र पूर्वानुमान ही लगा पाती है। यद्यपि सिद्धान्त हमारी व्यवस्था बहुमत का एक शासन है किन्तु यथार्थ में यह एक प्रभावशील अल्पमत का शासन है।

16.4 नेतृत्व के गुण और प्रकृति

'नेतृत्व' की अवधारणा का अध्ययन करने वाले लेखकों ने नेतृत्व के आवश्यक गुणों पर अपनी-अपनी सूचियाँ प्रस्तुत की है। बर्नार्ड के अनुसार नेतृत्व के लिये चार गुण आवश्यक है—

(i) जीवन शक्ति तथा सहनशीलता

(ii) निर्णय की क्षमता

(iii) प्रोत्साहित करने की क्षमता

(iv) उत्तरदायित्व तथा बौद्धिक क्षमता

इस सूची में बौद्धिक क्षमता अन्त में है बर्नार्ड के अनुसार अधिक बौद्धिक क्षमता नेतृत्व के लिये व्यर्थ होती है यदि वह मामलों में शीघ्र निर्णय नहीं कर पाती।

परन्तु हालेन क्लीवलैण्ड (Harlan Cleveland) ने बौद्धिक क्षमता के विषय में बर्नार्ड के विचारों की आलोचना की है तथा उसे महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। नेतृत्व के आवश्यक गुणों के अन्तर्गत क्लीवलैण्ड का विचार है कि ''हमारा राजनीतिक कार्यपालक लोक-हित की भावना से प्रेरित होना चाहिये; वह जनता का नेता होना चाहिये और लोक-सम्बन्धों के लिये स्वयं उत्तरदायी होना चाहिये और उसे कुछ निजी अनुभव भी होना चाहिये।''

Terry टैरी ने नेतृत्व के गुण इस प्रकार गिनाये है—(i) कार्य शक्ति (ii) भावनात्मक स्थायित्व (iii) मानव सम्बन्धों का ज्ञान (iv) व्यक्तिगत उत्प्रेरणा (v) संचार कौशल (vi) शिक्षा देने की योग्यता (vii) सामाजिक कौशल तथा (viii) विधिक दक्षता।

Paul H. Appleby ऐपल्बी के अनुसार एक अच्छे प्रशासक में उत्तरदायित्व वहन करने की इच्छा होती है, व्यक्तिगत विश्वास होता है, कार्य की ओर उसका रूझान होता है, वह अच्छा श्रोता है एवं तीखे प्रश्न करता है, सभी प्रकार के व्यक्तियों के साथ मिलकर कार्य करता है, उसे योग्यतम अधीनस्थ कर्मचारियों की सेवाएं उपलब्ध होती है, संस्थागत साधनों का प्रयोग करता है—वह स्वयं अकेले ही सब कुछ करने और स्वयं सब कुछ जानने का प्रयास नहीं करता। वह अपनी सीमाओं तथा त्रुटियों को स्वीकार करने को तैयार रहता है, भले-बुरे दोनों प्रकार के समाचारों का वह स्वागत करता है, अपने से बड़ों का जितना वह सम्मान करता है उतना सम्मान अपने अधीनस्थों का भी करता है और प्रजातंत्रीय सरकार में वह राजनीतिक प्रक्रियाओं तथा उत्तरदायित्वों का सम्मान करता है।

ऊपर विचारकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से नेता के लिये गुणों की सूची प्रस्तुत की है। हमारे अपने विचार में कुशल नेतृत्व के लिये निम्नलिखित गुण होने चाहिये।

(1) **निश्चयात्मकता :** किसी भी संगठन के मनोबल के लिये अस्थिर चित्रवाले, काम टालने वाले, हिचकिचाने वाले तथा अनिचित प्रवृत्ति के नेता से अधिक घातक सम्भवत: और कुछ नहीं होता। श्रीं नरसिम्हाराव भारत के प्रधान मंत्री बनने के बाद कुछ इसी प्रवृत्ति के हो गये थे जिससे कार्य कुशलता में कमी है।

(2) **दृष्टिकोण की स्पष्टता :** नेता को स्वयं यह जानना चाहिये कि वह क्या चाहता है और क्या नहीं चाहता।

(3) **पूर्वदृष्टि :** नेता को पूर्वदृष्टि तथा दूरदृष्टि दोनों ही रखना चाहिये। उसमें वर्तमान परिस्थितियों एवं समस्याओं को हल करने की क्षमता के साथ भविष्य में आने वाली समस्याओं के बारे में भी सोचना चाहिये।

(4) **निर्दोष निर्णय :** नेता का निर्णय गलत होने की अपेक्षा अधिकांश मामलों में ठीक होना चाहिये।

(5) **अधीनस्थों का निर्माण :** एक नेता अपने आस पास के सलाहकारों, परामर्शदाताओं एवं निम्न मानव धातु को अपने कुशल नेतृत्व से प्रशिक्षित कर देता है एवं उनमें भी उत्तरदायित्व वहन करने की क्षमता पैदा कर देता है। ऐसा वह अपने अधीनस्थों का विश्वास जीतकर उनको सम्मान देकर ही कर सकता है।

नेतृत्व में यह गुण कहां से आते हैं। इस प्रश्न का उत्तर देने में कठिनाइयां अधिक है फिर भी कहा जा सकता है कि जिन लोगों ने इन गुणों को प्राप्त करने के लिये अच्छा प्रशिक्षण वैज्ञानिक तरीकों से प्राप्त किया है। वे कभी-कभी व्यवहारिक जीवन में वह विफल हो जाते हैं। तथा ऐसे लोग जिन्होंने इस प्रकार का कोई शैक्षिणक योग्यता नहीं ली है परन्तु दीर्घकाल तक राजनीतिक गतिविधियों में भाग लिया है एवं सक्रीय राजनीति का अंग रहे हैं वह शास्त्रीय ज्ञान से कहीं अधिक व्यवाहारिक रूप से कुशलता का प्रमाण देते हैं।

नेतृत्व के इन गुणों के बावजूद विभिन्न राजनीतिक प्रणालियों में नेतृत्व का आधार भिन्न रहता है उदाहरण के लिये लोकतंत्रीय प्रणालियों में देखा जाता है कि नेताओं का चुनाव अनुयाईयों द्वारा स्वतंत्र और स्पष्ट तरीके से होता है, चर्चाओं के आधार पर नीतियों का निर्माण किया जाता है और नेताओं द्वारा प्रस्तुत **किये** गये विकल्पों में से निर्णय लिये जाते हैं, सदस्यों को इस बात की आजादी होती है कि वे समझौते और सुलह सफाई के रास्ते से विकल्पों का चयन करे, सबमें महत्वपूर्ण बात यह है कि नेताओं की आलोचना की सराहना की जाती है।

बुनियादी तौर पर सर्वाधिकारी नेताओं की स्थिति इसके विपरीत होती है जहां उनकी प्रशंसा पूजन

मात्र बन जाती है, मत विभिन्नता की मनाही होती है, नेता की आवाज अन्तिम आवाज समझी जाती है। इस प्रकार नेतृत्व का व्यक्तिकरण हो जाता है। परन्तु राबर्ट माइकेल्स ने 'अल्पतंत्र का लौह नियम' सिद्धान्त प्रस्तुत करके यह सिद्ध करना चाहा है कि हमेशा हर व्यवस्था में सत्ता एवं निर्णय कुछ ही लोगों के हाथों में होता है। उसके अनुसार इसका सीधा सा करण यह रहा है कि सब लोगों को इसका भागीदार नहीं बनाया जा सकता। डुवर्जर ने भी इसी सिद्धान्त को स्वीकारते हुये बात आगे बढ़ायी कि नेता नाम मात्र का प्रमुख है जब कुछ और शक्तियां पृष्ठभूमि में रहकर कार्य कर रही होती है। डुवर्जर के अनुसार अमेरिका में बड़ी पार्टियों के नेताओं के हाथ में नेतृत्व न होकर बड़े-बड़े दबाव गुटों के हाथों में है जो पीछे गुप्त रूप से कार्य करता है।

नेतृत्व का सबसे अधिक विकट आयाम इसकी व्यक्तिकृत किस्म में देखा जा सकता है। तीसरी दुनिया के देशों में खासतौर से यह देखने को मिलता है कि एक ही व्यक्ति पार्टी के साथ तादात्म्य कर लेता है या यह कि पार्टी उसमें संघनित हो जाती है। उसकी आवाज पार्टी की आवाज़ है। उसकी 'हाँ' और 'ना' सबकी 'हां' और 'ना' होती है। भारत में राष्ट्रीय स्तर पर तो कम परन्तु प्रादेशिक एवं क्षेत्रीय स्तर पर इस प्रकार के राजनीतिक संगठन देखे जाते हैं जहाँ पूरा दल व्यक्तिकृत किस्म वाले नेता पर आधारित होता है।

इस बारे में तीन कारकों की महत्वपूर्ण भूमिका बताई जाती है—

(i) लोगों में से उठा नेता स्वेच्छाचारी प्रवृत्ति का विकास कर लेता है वह नायक-पूजन (Hero-worship) के मिथक का पूरा पूरा लाभ उठाना चाहता है। क्योंकि ऐसी प्रवृत्ति एक पिछड़े हुये देश में अपने आप को बनाये रखने के लिये आवश्यक होती है।

(ii) दूसरे, कुशलता भी नेता में यह उत्साह भर देती है कि वह अधिकारवाद के पथ पर चले। नेता लोगों की कुछ उपयोगी सेवा करता है और इस प्रकार उनसे यह अपेक्षा करता है कि वह विनम्रतापूर्वक उसके आदेशों का पालन करे।

(iii) तीसरी दुनिया के देशों में 'करिश्मा' (Chrisma) के तत्व की अपनी ही भूमिका है जहां लोग नेता के विशिष्ट गुणों से इतना अधिक प्रभावित हो जाते हैं कि वह 'जन साधारण' से अलग हो जाता है।

जब हम उपरोक्त बिन्दुओं का भारतीय परिपेक्ष्य में अध्ययन करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत में नेतृत्व प्रदान करने वाली प्रारम्भिक संस्थाओं में राजनीतिक दल एवं उससे सम्बद्ध संगठन है। यहां हम देखते हैं कि दलीय प्रणाली सिद्धान्तों की अपेक्षा व्यक्तित्व के चारों ओर घूमती है। इसमें मूल्यों और सिद्धान्तों के स्थान पर व्यक्ति को ज्यादा महत्व दिया जाता है। कांग्रेस दल नेहरू के नाम से जाना जाता था और नेहरू के जीवन काल में ही ''नेहरू के बाद कौन?'' एक प्रश्न चिह्न बना रहा। नेहरू के बाद इन्दिरा गाँधी के व्यक्तित्व का इतना गहरा प्रभाव रहा कि कांग्रेस विभाजन के बाद बनने वाली नई पार्टी का नाम ही ''इन्दिरा कांग्रेस'' रखा गया। प्राय: जब भी किसी दल का विभाजन होकर कोई नहीं पार्टी अस्तित्व में आती है तो उसका नाम नये दल का नेतृत्व करने वाले के नाम पर रखा जाता है। दल की नीतियों एवं सिद्धान्तों को न देख कर लोग उस दल में सम्मिलित होते है जिसके नेता को वह पसन्द करते हैं। फलस्वरूप दल के सिद्धान्तों का महत्व नहीं रह जाता। 1950-64 तक नेहरू कांग्रेस दल के केन्द्र बिन्दु रहे। उन्हीं के नाम पर वोट मांगे जाते रहे, कांग्रेस संगठन पर उनका व्यक्तिगत नियंत्रण रहा, राज्य स्तर पर भी सभी महत्वपूर्ण राजनीतिक निर्णय नेहरू की सहमति से ही होते थे। इन्दिरा गाँधी के कार्य काल में राजनीतिक सत्ता इस हद तक उनके व्यक्तित्व में केन्द्रित हो गयी थी कि वह स्वेच्छाचारी ढंग से काम करने लगीं। राज्यों में कौन मुख्य मंत्री होगा, मंत्रिमण्डल में कौन सदस्य होंगे, इस प्रकार के सारे निर्णय इंदिरा गाँधी के पूर्व स्वीकृति के बाद ही लिये जाते थे। लगभग यही स्थिति

राजीव गाँधी के कार्यकाल में रही। दल के वरिष्ठतम नेता भी राजीव गांधी के सामने सर झुकाये रहे और आज भी कांग्रेस का एक बड़ा भाग यह महसूस करता है कि सोनिया गाँधी के संरक्षण के बिना कांग्रेस जीवित नहीं रह सकती। इसी प्रकार भाजपा की लोकप्रियता अपने सिद्धान्तों और कार्यक्रमों से ज्यादा अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व के कारण रही है। लगभग यही स्थिति और दलों की भी है।

दलों में इस प्रकार के व्यक्तित्व उपासना की प्रवृत्ति के विकसित होने का मूल कारण नेतृत्व का संकट है। आरम्भ से ही और दलों में वैकल्पिक नेतृत्व विकसित न हो सका।

16.5 भारत में नेतृत्व कहां स्थित है?

भारत ने अपने औपनिवेशिक संविधानिक अनुभवों के आधार पर वेस्ट मिस्टर (West minister) का संसदीय प्रतिमान अपनाया परन्तु गणतंत्र की स्थापना भी की जिसके द्वारा राष्ट्रपति को राज्य का मुख्य कार्यपालिका अध्यक्ष नियुक्त किया गया है। परन्तु भारत के राज्य प्रबन्ध में प्रधानमंत्री को बड़ा महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है क्योंकि व्यवहारिक रूप में मुख्य कार्यपालिका के सब कार्य प्रधानमंत्री ही करता है। भारत के प्रधानमंत्री की वैधानिक स्थिति इंग्लैण्ड के प्रधानमंत्री की स्थिति से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। भारत का प्रधानमंत्री भी ब्रिटिश प्रधानमंत्री की भांति कैबिनेट के मेहराब के मध्य का पत्थर है। डा० अम्बेडकर के शब्दों में, ''यदि हमारे संविधान में किसी प्रशासक की तुलना अमेरिका के प्रधान से की जा सकती है तो वह प्रधानमंत्री ही है, राष्ट्रपति नहीं।

नि:संदेह प्रधानमंत्री देश का एक बड़ा प्रभावशाली अधिकारी है तथा सरकार एवं संसद में उसे एक विशेष स्थान प्राप्त है। मंत्रिपरिषद के बनाने में, उसके कार्य करने में तथा **उसके** भंग करने में उसका पद बड़ा महत्वपूर्ण है।

अखिल भारतीय स्तर पर यह कहा जा सकता है कि नेतृत्व प्रधानमंत्री में स्थित है। जबकि राज्यों में राज्य के मुख्यमंत्री में नेतृत्व का निवास होता है। कठिनाई उस समय उत्पन्न होती है जब केन्द्र में या राज्य में मिश्रित सरकारों का गठन होता है। ऐसी स्थिति में यह पता लगाना कठिन होता है कि प्रधानमंत्री/मुख्यमंत्री या साझा गठबंधन का संचालक नेतृत्व का प्रयोग कर रहा है। अगर हम नेतृत्व से तात्पर्य दिशा प्रदान करने, मार्ग दर्शन करने एवं निर्णय लेने की क्षमता से करते हैं तो वर्तमान समय में केन्द्र में युनाइटेड प्रोग्रेसिव आलाएंस (UPA) की सरकार जिसकी अध्यक्ष श्रीमती सोनिया गांधी है जबकि प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह है। दोनों चूंकि एक ही दल के है इसलिये यह स्पष्ट है कि प्रधानमंत्री के स्थान पर यू०पी०ए० अध्यक्ष का ज्यादा महत्व है जबकि पिछली मिश्रित सरकार एन०डी०ए० (राजग) में प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी थे तथा राजग के संचालक जार्ज फर्नान्डीज थे। यहाँ पर नेतृत्व के अन्तर्गत सारे गुण और शक्तियां निर्णायक तौर पर प्रधानमंत्री को प्राप्त थी।

उन प्रान्तों में जहाँ साझा सरकारें हैं या राष्ट्रीय स्तर के दलों की सरकारें हैं वहां नेतृत्व के निवास को लेकर भ्रान्ति हो सकती है कि यह उस प्रान्त के मुख्यमंत्री में स्थित है या राष्ट्री दल के हाईकमान में जो नीतिनिर्माण की सर्वोच्च संस्था होती है। जिन प्रान्तों में क्षेत्रीय दलों की सरकार है वहां निश्चित रूप से नेतृत्व का निवास क्षेत्रीय दल के अध्यक्ष या उस व्यक्ति के अन्दर है जिसके व्यक्तित्व पर उस दल का अस्तित्व निर्भर करता है उदाहरण के लिये बिहार में राष्ट्रीय जनता दल के अध्यक्ष लालू प्रसाद यादव, उत्तर प्रदेश में समाजवादी पार्टी की सरकार की स्थिति में मुलायम सिंह यादव, बसपा की सरकार की स्थिति में चाहे भाजपा के गठबंधन पर आधारित ही यह सरकार क्यों न रही हो नेतृत्व बसपा की नेता सुश्री मायावती के हाथों में रहा है।

नेतृत्व चूंकि सामान्य परिस्थितियों में प्रधानमंत्री में निहित है इसलिये हम आगामी पंक्तियों में इसका अध्ययन करेंगे।

16.6 प्रधानमंत्री देश के नेता के रूप में

भारत का प्रधानमंत्री मन्त्रिमण्डल रूपी मेहराब की आधारशिला है उसे इतनी व्यापक शक्तियाँ प्राप्त है कि उसे देश में शासन प्रबन्ध का केन्द्र कहा जा सकता है। देश के शासन में कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं जिसको इतनी शक्तियां प्राप्त हो।

प्रधानमंत्री सिद्धान्त में अपने मंत्रिपरिषद के सदस्यों का चयन करता है। उसमें विभागों का बँटवारा तथा परिवर्तन भी प्रधानमंत्री का कार्य है। पं० जवाहर लाल नेहरू ने अपने 17 वर्ष के कार्यकाल में अपनी मंत्रिपरिषद में 63 बार परिवर्तन किया। श्री राजीव गाँधी ने अपने 5 वर्ष के कार्यकाल में अपनी मंत्रिपरिषद में 36 बार परिवर्तन किया।

प्रधानमंत्री को मंत्रिपरिषद के निर्माण में जहाँ सिद्धान्त व्यापक अधिकार है वहीं कुछ व्यवहारिक कठिनाइयाँ भी है। प्रधानमंत्री मंत्रिमण्डल का नेता होता है। दूसरे मन्त्री अपने विभागों की योग्यता के लिये उसके प्रति उत्तरदायी होते हैं। वह उनको राजकार्य में परामर्श देता है, अच्छे कार्य के लिये उत्साह बढ़ाता है तथा आवश्यकता पड़ने पर चेतावनी भी देता है।

प्रधानमंत्री देश का नेता और कुशल शासक होता है। सिद्धान्त रूप में न सही, लेकिन व्यवहार में देश का समस्त शासन उसी की इच्छानुसार संचालित होता है। वह व्यवस्थापिका से अपनी इच्छानुसार कानून बनवा सकता है और संविधान में आवश्यक संशोधन करवाकर प्रगतिशील नीतियाँ अपना सकता है। कभी--कभी परिस्थितियों वश भले ही उसे अपने सहयोगियों के सामने झुकना पड़े, लेकिन अन्तिम रूप में प्रधानमंत्री के निर्णय ही मान्य होते हैं। देश की जनता हो या संसद, राज्य सरकारें हो या प्रधानमंत्री का अपना राजनीतिक दल, हर कोई नेतृत्व के लिये प्रधानमंत्री की ओर ही देखता है। व्यवहार के अन्तर्गत प्रधानमंत्री पदधारी व्यक्तियों ने इस पद की शक्तियों और सम्मान में बहुत अधिक वृद्धि की है।

परन्तु राजनीतिक सत्य यह है कि भारत में प्रधानमंत्री के व्यक्तित्व ने नेतृत्व का महान स्तर उसे प्रदान किया है। प्रारम्भ के प्रधानमंत्रियों में तीन नाम प्रमुख हैं। जवाहर लाल नेहरू, (कार्यकाल 17 वर्ष), इंदिरा गाँधी (कार्यकाल 2 खण्डों में 14 वर्ष) तथा राजीव गाँधी (5 वर्ष)। यह तीनों प्रधानमंत्री अपने असाधारण चरित्र के कारण संसद में, मन्त्रिमण्डल में, देश में तथा अपने दल में शक्तिशाली स्थानों पर रहे। नेहरू का विशाल व्यक्तित्व दल तथा लोक सभा दोनों पर आच्छादित रहता था उनके समय विरोधी दल भी नाम मात्र को थे। किसी में इतनी शक्ति नहीं थी कि वह नेहरू जी के कार्य पर असंतोष व्यक्त करे। प्रारम्भ में श्रीमती इन्दिरा गाँधी को नेतृत्व तक पहुंचने के लिये दलीय विरोध का सामना करना पड़ा। प्रधानमंत्री ने अपनी राह में आने वाली चुनोतियों का एक-एक कर के उत्तर दिया और अपने व्यक्तित्व को उजागर किया। श्री वी०वी० गिरी को राष्ट्रपति पद पर प्रधानमंत्री ने आसीन करवाया, मोरार जी से वित्त विभाग छीन लिया। लोक सभा का समयपूर्व विघटन करके पांचवीं लोक सभा (1971) में प्रबल **बहुमत** प्राप्त करक उन्होंने विरोधियों की बोलती बन्द कर दी और वह जनता की आशाओं का प्रतीक बन गईं।

ऊपर के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि प्रधानमंत्रियों के व्यक्तित्व ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई परन्तु भारतीय राजनीतिक व्यवस्था की परिस्थितियां कांग्रेसी प्रभुत्व के युग में इसमें सहायक सिद्ध हुई। क्योंकि प्रधानमंत्री के रूप में राजीव गांधी की छवि जितनी अपने कार्यकाल के प्रारम्भिक एक वर्ष में निखरी थी उससे ऐसा लग रहा था कि वे अपना सम्पूर्ण कार्यकाल एक सफल प्रधानमंत्री के रूप में पूरा करेंगे लेकिन हुआ ठीक इसके विपरीत। परिस्थितियों का तकाजा हुआ वे अपनी स्वच्छ छवि को कायम नहीं रख पाये।

भारत में चतुर्थ आम चुनावों (1967) के पश्चात ही एकल **प्रभुत्व** बहदलीय व्यवस्था को चुनौती

मिलने लगी थी जिसका परिणाम यह हुआ कि केन्द्र में भी आगे के वर्षों में मिली जुली सरकारों का गठन होने लगा। इस परिवर्तन के कारण निःसंदेह प्रधानमंत्री की स्थिति में परिवर्तन देखने को मिला। बाद के प्रधानमंत्रियों का हम इसी दृष्टिकोण से अध्ययन करेंगे।

16.7 प्रधानमंत्री की बदलती हुयी भूमिका

प्रधानमंत्री पद पर रहने के बावजूद मोरार जी देसाई और चरण सिंह अपने व्यक्तित्व की अमिट छाप नहीं छोड़ पाये। अपने दल, संसद और मन्त्रिमण्डल पर उनका कोई करिश्माती प्रभाव नहीं था ये मात्र गुटीय और जातीय नेता सिद्ध हुये। यह जनमत का विश्वास, निष्ठा और लोकप्रियता नहीं प्राप्त कर पाये। चरण सिंह तो अपनी दल बदल प्रवृत्ति के कारण काफी बदनाम भी हुये।

विश्वनाथ प्रताप सिंह (1989-91) को दुनिया का सबसे कठिन काम विरासत में मिला-ऐसी अल्पमत सरकार चलाने का, जो वामपंथी पार्टियों और भाजपा के बीच असम्भव असन्तुलन के आधार पर टिकी रही। शुरू में वे वाम पंथियों एवं भाजपा के अर्न्तविरोधों में सन्तुलन बिठाने में व्यस्त रहे जिसकी भारी कीमत उन्हें चुकानी पड़ी-राष्ट्रीय महत्व के मसलों पर चाहे पंजाब हो या कश्मीर, चुनौतियों से पीछे हटने के रूप में। वह अपनी पार्टी जनता दल के आन्तरिक मतभेदों में उलझ गये। चन्द्रशेखर एवं देवी लाल की चुनौतियों से वे प्रभावी ढंग से नहीं निपट पाये। मण्डल (पिछड़ी जातियों के आरक्षण का मामला) और कमण्डल (राम मन्दिर की राजनीति) में वह फंस गये।

चन्द्रशेखर ने किसी भी मोर्चे पर कोई तीर नहीं मारा उनके पास कोई ऐसी पार्टी नहीं थी जिसके बूते वह कुछ करने की सोच सकें और फिर उनकी सरकार हर सांस के लिये इन्दिरा कांग्रेस पर निर्भर थी। देश को उनकी 7 माह की सरकार के रूप में आर्थिक दिवालिये की स्थिति ही प्राप्त हुयी परन्तु उनके नेतृत्व ने देशवासियों पर कुछ अदृश्य असर डाला। यह उनके नेतृत्व का एक अजीब पहलू था। उनसे पहले कोई प्रधानमंत्री न तो लोगों को इस आसानी से उपलब्ध **हुआ**, न ही इतना अनौपचारिक रहा। मन्दिर और मण्डल के मुद्दों पर चल रही लफ्फाजी को उन्होंने हवा नहीं दी। संक्षेप में चन्द्रशेखर ने ठंडे और न्यायप्रिय मिजाजवाले नेता की छवि प्रस्तुत की।

प्रधानमंत्री के रूप में पी०वी० नरसिंह राव ने आम सहमति की शैली के आधार पर अपने कार्यकाल की शुरुआत की। अपनी संयमित कार्यशैली के जरिये व कांग्रेस के निर्विवाद नेता के रूप में उभरने लगे और विचार विमर्श करके निर्णय लेने लगे। किन्तु एक साल के कार्यकाल के बाद ऐसा लगा कि वे अनिर्णय के शिकार है। उन पर टाल मटोल और लेट-लतीफी हावी होने लगी। आम सहमति की राजनीति का अन्त करके वे टकराव की राजनीति पर उतर आये। पार्टी और मन्त्रिमण्डल में उनका विरोध बढ़ने लगा तथा जनता में उनकी विश्वसनीयता घटने लगी।

एच०डी० देवगौड़ा ने कभी प्रधानमंत्री बनने का सपना नहीं देखा। नियति ने उन्हें प्रधानमंत्री पद पर आसीन कर दिया। सभी दलों और मोर्चे के घटकों को सन्तुष्ट कर लेने की उनकी राजनीति सफल नहीं हो पायी। कांग्रेस अध्यक्ष सीता राम केसरी और उनके मध्य अंहम की लड़ाई ने उनकी सरकार गिराने का कार्य किया।

सौम्य व्यक्तित्व वाले इन्द्रकुमार गुजराल की पहचान गरिमामय और विवेकशील व्यक्ति की है। गुजराल ने कभी प्रधानमंत्री पद नहीं मांगा, मगर उन्हें यह पद मिला क्योंकि अधिकतर दावेदारों पर असहमति थी। एक अच्छी छवि एवं कुशल विदेश मंत्री रहे गुजराल के बारे में यह स्पष्ट हो गया था कि गुजराल का न तो संयुक्त मोर्चे के घटकों पर और न अपने मंत्रीमण्डल सहयोगियों पर कोई प्रभाव रहा।

राजग गठबंधन का नेतृत्व करते हुए प्रधानमंत्री अटल बिहारी बाजपेयी ने देश को एक अच्छा कुशल, सहनशील नेतृत्व प्रदान करने का प्रयास किया। अपने दल भाजपा को भी उन्होंने उदार एवं सहनशील बनाने का प्रयास किया। विभिन्न विरोधी विचारों वाले दलों के सम्मिश्रण को 5 वर्ष तक आम सहमति का आधार प्रदान कर मतदाताओं के मन से गठजोड़ की सरकार के प्रति अन्तर्निहित संदेहों को भी दूर कर दिया। लेकिन भाजपा एवं उसके अन्य सहयोगी संगठनों पर हिन्दुत्ववादी सिद्धान्तों का जैसे प्रभाव रहा उसने गुजरात तथा अन्य क्षेत्रों में अल्पसंख्यकों तथा आम मतदाताओं के मन में विकास का कुप्रभाव तथा साम्प्रदायिक नीतियों का गलत प्रभाव डाला जिससे चौदहवीं लोकसभा ने उनके कुशल नेतृत्व को स्वीकार नहीं किया।

श्री मनमोहन सिंह की कार्यकुशलता तथा आर्थिक समझा पर किसी को संदेह नहीं लेकिन जिस प्रकार से यूपीए सरकार के विभिन्न घटकों में तथा सरकार को बाहर से समर्थन देने वाली वामपंथी दलों में खींचा-तानी है उसको देखते हुये यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि श्री मनमोहन सिंह को कठिन परिस्थितियों से गुजरना पड़ेगा। हाल की गोवा एवं झारखण्ड की घटनाओं ने उनकी तथा कांग्रेस की छवि पर धब्बा तो लगा ही दिया है। यह तो आने वाला वक्त/समय ही बतायेगा कि वह इन समस्याओं से कहाँ तक उबरने में सफल होंगे।

16.8 सारांश

क्या देश के राजनैतिक नेतृत्व का आँकलन और उसके स्वरूप का विश्लेषण मात्र प्रधानमंत्री की भूमिका के आधार करना उचित है?

प्रस्तुत इकाई में हमनें नेतृत्व के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त की। अच्छे नेतृत्व की आवश्यक दशायें तथा नेतृत्व के सामान्य गुणों का अध्ययन किया तथा भारतीय सन्दर्भ में नेतृत्व के सामने आने वाली चुनौतियों पर भी विचार किया।

यह भी स्पष्ट है कि व्यक्तित्व पर आधारित अध्ययन पूरी वास्तविकता नहीं खोलते। भारतीय जन सामान्य की गरीबी, निरक्षरता एव उदासीनता तथा धन व प्रतिष्ठा के आगे उनके स्वभावगत समर्पण की प्रवृत्ति के कारण केन्द्र के निचले स्तरों पर मौजूद ग्रामीण सत्ता का उपभोग अधिकांशत: भूस्वामियों, व्यापारियों तथा सूद खोरों द्वारा किया जाता है। यह छोटा सा वर्ग ही यह तय करता है कि उनके हितों के प्रतिकूल पड़ने वाली नीतियों को या तो लागू ही न किया जाये या अपने लाभों की दिशा में परिवर्तित कर दिया जाये या किसी प्रकार अपने ग्राहकों की अश्रितता को कायम रखने में सहायक बना लिया जाये। यह भी देखा गया है कि यह समूह राजनीतिक मध्यस्थ भी होते हैं इसलिये राष्ट्रीय नेता इनके साथ टकराव मोल लेने का साहस नहीं कर पाते। जनता के आज्ञाकारी एवं वशवर्ती होने के कारण राजनेता वोटों को पाने के लिये लोगों तक प्रत्यक्षत: पहुंचने की जरूरत नहीं समझे बल्कि इसके लिये ग्रामीण अभिजात्य को खुश करना ही पर्याप्त होता है। वयस्क मताधिकार ने ग्रामीण अभिजात्य के हाथो में पर्याप्त शक्ति सौंप दी है क्योंकि प्रत्येक ग्रामीण नेता अपने अनुयाइयों एवं आश्रितो के कुछ सुनिश्चित मतों पर नियंत्रण रखता है पंचायती राज के पदार्पण तथा सहकारी संस्थाओं की कार्य प्रणाली ने भी इन ग्रामीण अभिजात्यों को राजनीतिक पद एवं संरक्षण प्राप्त करने के अधिकाधिक अवसर उपलब्ध कराये हैं।

16.9 उपयोगी पुस्तकें

(1) एस०सी० गगंल : प्राइम मिनिस्टर एण्ड द कैबिनेट इन इण्डिया

(2) एच०एम० जैन : इण्डियन कैबिनेट

(3) आर०एच० शरन : दि प्राइम मिनिस्टर–ए स्टडी इन पर्सनालिटीज एण्ड स्पेशल फोर्सेज [जर्नल ऑफ दि सोसायटी फॉर स्टडी ऑफ स्टेट गवर्नमेन्टस, जनवरी–मार्च 1974]

(4) वर्नार्ड, सी० आई : आर्गनाइजेशन एण्ड मैनेजमेन्ट

(5) कूटूज एच० और ओ० डानल जी० : प्रिन्सिपुल्स आफ मैनेजमेन्ट

16.10 सम्बन्धित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न :

(1) नेतृत्व के अर्थ, गुण एवं प्रकृति की विवेचना कीजिये?

(2) भारतीय नेतृत्व के स्वरूप की व्याख्या कीजिये?

(3) देश के नेता के रूप में प्रधानमंत्री की भूमिका का विवेचना कीजिये?

लघु उत्तरीय प्रश्न :

(1) बर्नार्ड के अनुसार नेतृत्व के आवश्यक गुण क्या है?

(2) एन०डी०ए० और यू०पी०ए० की सरकारों में प्रधानमंत्री के नेतृत्व की समीक्षा कीजिये?

(3) भारतीय नेतृत्व पर किन कारकों सर्वाधिक प्रभाव है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न :

1. टेरी द्वारा बताये गये नेतृत्व के गुणों में क्या सम्मिलित नहीं है?

   (अ) संचार कौशल (स) विधिक दक्षता

   (ब) शिक्षा देने की योग्यता (द) जातीय प्रभाव

2. भारत में किस वर्ष में हुए आम चुनाव ने एक दलीय नेतृत्व के चुनौती दी?

   (अ) 1952 (स) 1962

   (ब) 1957 (द) 1967

3. मण्डल कमीशन की संस्तुतियाँ (पिछड़ी जातियों को आरक्षण) किस प्रधानमंत्री के कार्यकाल में स्वीकृत हुई?

   (अ) जवाहर लाल नेहरू (स) विश्वनाथ प्रताप सिंह

   (ब) इंदिरा गाँधी (द) एच०डी० देवगौड़ा

16.11 प्रश्नोत्तर

1. (द) 2. (द) 3. (स)

इकाई 17 : दल-बदल की राजनीति

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य

17.1 प्रस्तावना

17.2 दल-बदल : अर्थ एवं परिभाषा

17.3 दल-बदल : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

17.4 दल-बदल : उत्तरदायी कारण

17.4.1 भारतीय दल प्रणाली का स्वरूप

17.4.2 विचारात्मक ध्रुविकरण का अभाव

17.4.3 पद एवं धन का प्रलोभन

17.4.4 जन-साधारण की दल परिवर्तन के प्रति उदासीनता

17.4.5 कुछ अन्य कारण

17.5 दल-बदल का राजनीतिक व्यवस्था पर प्रभाव

17.6 दल-बदल रोकने के प्रयास

17.7 दल-बदल निरोधक कानून

17.8 सारांश

17.9 उपयोगी पुस्तकें

17.10 सम्बन्धित प्रश्न

17.11 प्रश्नोत्तर

17.0 उद्देश्य

दल-बदल आधुनिक भारतीय राजनीतिक व्यवस्था की गम्भीर समस्याओं में से एक है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप :

- दल-बदल का उल्लेख कर सकेंगे।
- भारत में दल-बदल के कारणों की व्याख्या कर सकेंगे।
- तथा उसे रोकने के लिये उठाये गये कदमों का समीक्षा करते हुए अन्य उपयोगी सुझाव दे सकेंगे।

17.1 प्रस्तावना

दल-बदल की राजनीति भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद उभरी प्रवृत्ति है लेकिन इसमें चतुर्थ आम चुनाव 1967 के पश्चात तेजी देखी गयी। राजनीतिक व्यवस्था में विश्वास को समाप्त करने के साथ ही दल-बदल ने अस्थिरता तथा संविधान के सुगम संचालन में रुकावट पैदा की तथा

राजकोष पर पद एवं धन की लालच से उत्पन्न हुए व्यवहार से बड़ा आर्थिक बोझ डाला। विकासशील देश के तीव्र सामाजिक एवं आर्थिक विकास के एजेन्डे को अपहृत करने एवं भ्रष्टाचार को बढ़ावा देने में भी इसका योगदान रहा है। आगामी पंक्तियों में दल-बदल की राजनीति का विश्लेषण किया गया है।

17.2 दल-बदल : अर्थ एवं परिभाषा

दल-बदल भारतीय राजनीति की आधुनिक एवं गम्भीर समस्या है। दल-बदल शब्द का अर्थ राजनीतिक निष्ठा का परिवर्तन होना है। राजनीतिक अर्थों में दल-बदल का अर्थ किसी व्यक्ति का उस राजनीतिक दल को, जिसके टिकट पर वह निर्वाचित हुआ है, छोड़कर किसी अन्य दल में सम्मिलित हो जाना है। दल से सम्बन्ध विच्छेद करने की इस प्रक्रिया को फ्लोर क्रासिंग भी कहा जाता है। ब्रिटेन में संसद के निम्न सदन "कामन्स सभा" में विरोधी दल तथा सरकारी दल के सदस्य आमने सामने बैठते हैं और यदि उनमें से किसी दल का सदस्य एक तरफ से दूसरी तरफ जाता है तो उसे बीच के रास्ते को पार करके जाना होता है। इसलिये वहां इस प्रक्रिया को "फ्लोर क्रासिंग" floor crossing (पाला बदलना) का नाम दिया गया है।

लोक सभा के सेवा निवृत्त सचिव डा० सुभाष कश्यप ने अपने ग्रन्थ "दल-बदल और राज्यों की राजनीति" में दल-बदल की परिभाषा करते हुये लिखा है "किसी विधायक का अपने दल अथवा निर्दलीय मंच का परित्याग कर किसी अन्य दल में जा मिलना, अथवा दल बना लेना या निर्दलीय स्थिति अपना लेना अथवा अपने दल की सदस्यता त्यागे बिना ही बुनियादी मामलों में सदन में उसके विरुद्ध मतदान करना" दल-बदल कहलाता है। श्री जय प्रकाश नारायण ने दल-बदल की अपनी परिभाषा में कहा था, "एक विधान मण्डल के लिये निर्वाचित कोई भी सदस्य, जिसे किसी राजनीति दल का सुरक्षित चुनाव चिन्ह मिला था, यदि वह चुने जाने के बाद उस राजनीतिक दल से अपने सम्बन्ध तोड़ लेने या उसमें अपनी आस्था समाप्त करने की घोषणा करता है तो उसे दल-बदल ही समझा जाना चाहिये, बशर्ते उसकी कार्यवाही सम्बद्ध पार्टी के फेसले के अनुसार न हो।

17.3 दल-बदल : ऐतिहासिक पृष्ठिभूमि

लोकतांत्रिक व्यवस्था में दलों का होना अनिवार्य है और दलों के कारण "दल-बदल" होना भी आवश्यक है। साधारणत: दल-बदल को अलोकतांत्रिक नहीं कहा जा सकता क्योंकि मानव और उसका चितन अपूर्ण है। अत: उसके विचारों, विश्वासों और उसके अनुभावों में परिवर्तन आता रहता है। यदि किसी व्यक्ति को यह विश्वास हो जाये कि उसके दल की नीतियां देश की समस्याओं का उचित समाधान नहीं कर सकती तो उस दल को छोड़कर किसी अन्य दल में शमिल होना लोकतंत्र के सिद्धान्तों के विरुद्ध नहीं है। लेकिन किसी व्यक्ति का सिद्धान्तहीन आये दिन दल बदलना एक गन्दी राजनीति है और यह राजनीतिक व्यवस्था की स्थिरता के लिये घातक है।

हमें विदेशों में भी 'दल-बदल' के उदाहरण मिलते हैं। परन्तु भारत की तुलना में दल-बदल की संख्या विदेशों में बहुत कम है। विदेशों में 'दल-बदल' राजनीतिक विचारों के परिवर्तन तथा दल के साथ मौलिक अन्तर आने पर होता है न कि भारत की भाँति जहाँ 'दल-बदल' मुख्यत: अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिये किया जाता है। ब्रिटेन में विंसटन चर्चिल जैसे प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ ने भी दल बदला। 1900 में वह कन्जर्वेटीव पार्टी के टिकट पर संसद के सदस्य बने परन्तु "टैरिफ रिर्फाम्स" के प्रश्न पर मतभेद होने के कारण उन्होंने 1904 में अपना दल बदला तथा लिबेरल

पार्टी में शामिल हो गये। परन्तु 1924 में वह पुनः कन्जर्वेटीव पार्टी में शामिल हुये। अगस्त 1931 में लेबर पार्टी के प्रधान मंत्री रैम्जे मैक्डोनेल्ड ने अपने तीन अन्य साथी मंत्रियों के साथ लेबर पार्टी छोड़ दिया था। यह दल-बदल देश को आर्थिक संकट से बचाने के लिये था। आम चुनाव में रैम्जे मैक्डोनेल्ड तथा उनके तीन साथी मंत्री चुनाव जीत गये जबकि अन्य मंत्री जिन्होंने इनका साथ नहीं दिया था बुरी तरह पराजित हुए।

संयुक्त राज्य अमेरिका की राजनीतिक व्यवस्था में दल-बदल का उतना प्रभाव नहीं पड़ता जितना संसदीय व्यवस्था वाले देशों में पड़ता है क्योंकि अमेरिका में सरकारों का अस्तित्व कांग्रेस में दलीय संख्या पर निर्भर नहीं करता। अध्यक्षात्मक शासन होने के कारण राष्ट्रपति को केवल महाभियोग के द्वारा ही हटाया जा सकता है। इसी के साथ कांग्रेस के सदस्य मंत्रिपद प्राप्त नहीं कर सकते।

विदेशों की तुलना में भारत में 'दल-बदल' की स्थिति बिल्कुल अलग है। यहाँ पर विधायक मुख्यतः अपने स्वार्थ और धन की लालच में तथा मंत्री पद पाने के लिये दल बदलते हैं। भारत में अधिकांशतः दल-बदल राजनीतिक निष्ठा के कारण न होकर अवसरवादिता के आधार पर होता है। भारत में दल-बदल की घटनायें चतुर्थ आम चुनाव 1967 से पूर्व भी देखने को मिलती हैं। स्वतंत्रता के पश्चात संयुक्त प्रान्त के मुख्यमंत्री गोविन्द वल्लभ पंत ने मुस्लिम लीग के कुछ सदस्यों को कांग्रेस में शामिल होने का प्रलोभन दिया और दल-बदलुओं में से हाफिज मुहम्मद इब्राहीम को मंत्रिमण्डल में सम्मिलित कर लिया। 1958 में उत्तर प्रदेश विधान सभा के 98 सदस्यों ने मुख्यमंत्री डा० सम्पूर्णानन्द में अविश्वास व्यक्त किया जिसके फलस्वरूप कुछ ही समय बाद मुख्यमंत्री को त्याग-पत्र देना पड़ा। 1962 में मद्रास प्रान्त में राजगोपालाचारी को जैसे ही सरकार बनाने का अवसर दिया गया, 16 विरोधी विधायक कांग्रेस में शामिल हो गये जिससे कांग्रेस को स्पष्ट बहुमत प्राप्त हो गया। 1957 में उड़ीसा में कांग्रेस ने 4 निर्दलीय सदस्यों को प्रलोभन देकर अपने पक्ष में कर लिया तथा मंत्रिमण्डल का निर्माण किया। इसी तरह के अनेक उदाहरणों में दल-बदल देखने में आया लेकिन सन् 1967 में होने वाले चौथे आम चुनाव के बाद दल-बदल की बाढ़ सी आ गयी। कई राज्यों में कई-कई बार अनेक विधायकों ने अपनी निष्ठायें बदल कर दल बदला जिससे एक गम्भीर राजनीतिक समस्या उत्पन्न हुई। चौथे आम चुनाव के बाद कांग्रेस दल के राजनीतिक एकाधिकार का अन्त हो गया और चुनाव प्रक्रिया से गुजरे 16 राज्यों में कांग्रेस पूर्ण बहुमत न प्राप्त कर सकी। यह राज्य बिहार उत्तर प्रदेश, तमिलनाडु, केरल, उड़ीसा, पंजाब, राजस्थान तथा पश्चिमी बंगाल थे। इनमें से 6 राज्यों में विपक्षी दलों ने संयुक्त होकर सरकार का गठन किया। जिन राज्यों में कांग्रेस को सीमान्त बहुमत मिला तथा कांग्रेस ने किसी प्रकार मंत्रिमण्डल का निर्माण कर लिया वहां विपक्षी दलों ने कांग्रेस सरकार को अपदस्थ करने का सामूहिक प्रयत्न किया। उन सब का सामान्य लक्ष्य यह था कि जहाँ तक सम्भव हो कांग्रेस को सरकार बनाने का अवसर ही न दिया जाना चाहिये। और जहां कांग्रेस सरकारों का निर्माण हो चुका है वहां सरकार को अपदस्थ करने का सामूहिक रूप से प्रयास करना चाहिये। परिणामस्वरूप दल परिवर्तन एक त्वरित साधन के रूप में सामने आया। 17 राज्यों में से 9 राज्यों में गैर-कांग्रेसी गठबंधन की सरकारें अस्तित्व में आयीं। परन्तु शीघ्र ही यह अनुभव अस्थिर सिद्ध हुआ। राज्यपालों के माध्यम से केन्द्र की कांग्रेस सरकार ने राज्यों में मिश्रित सरकारों के लिये कठिनाइयां उत्पन्न कर दी। इनमें कई राज्यों में तीव्र दल-बदल के कारण राष्ट्रपति शासन लागू हुआ। यू०एन०आई० के एक सर्वेक्षण के अनुसार मार्च 1967 से दिसम्बर 1967 तक केवल 9 माह की अवधि में राज्य विधानमण्डलों के कुल 3447 सदस्यों (हिमाचल प्रदेश तथा त्रिपुरा के सदस्यों को छोड़कर) में से 314 सदस्यों ने (कुल सदस्यों के लगभग 9 प्रतिशत) दल परिवर्तन किया। इनमें निर्दलीय सदस्य भी शामिल थे जो राजनीतिक पद अथवा धन के लोभ में दल परिवर्तन करते रहे। दिसम्बर 1970 तक दल-बदल करने वाले सदस्यों की संख्या बढ़कर 1400

हो गयी। 1967 से पूर्व हुये दल–बदल में कांग्रेस को ज्यादा लाभ हुआ था जबकि 1967 के बाद हुये दल परिवर्तनों से यह स्पष्ट होने लगा कि कांग्रेस-विरोध की भावना ने विरोधी दलों को अधिक लाभ पहुँचाया।

1967 से 1984 तक केन्द्र स्तर पर तथा प्रान्तों में दल–बदल होता रहा। परस्पर विरोधी राजनीतिक दलों ने जहां दल–बदल की निन्दा की वहां अवसर आने पर इसी मार्ग को अपनाया जिसके कारण भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में यह बीमारी बढ़ती गयी। दल–बदल की प्रवृत्ति को रोकने के लिये आठवीं लोक सभा के चुनाव के बाद (जबकि कांग्रेस आई को विशाल बहुमत प्राप्त हुआ था) जनवरी 1985 में संसद ने 52वां संविधान संशोधन के रूप में दल–बदल विरोधी कानून पारित किया। इस संशोधन के माध्यम से दल–बदल को गैर–कानूनी घोषित किया गया। यदि कोई विधायक/सांसद दल बदल करता है तो उसके दल बदलने के आरोप में संसद अथवा राज्य विधान मण्डल की सदस्यता समाप्त हो जाती है परन्तु इस ऐक्ट द्वारा भी दल बदल की बुराई पर काबू नहीं पाया जा सका। 1993 में श्री नरसिम्हाराव की अल्पमत सरकार को जनता दल (अ) के दल बदल के कारण ही लोक सभा में बहुमत प्राप्त हुआ था। दल–बदल से सम्बन्धी कानूनों में और कठोर प्रावधान जोड़े गये हैं परन्तु यह समस्या चोर दरवाजों से हमारे सामने बनी हुई है।

भारत में दल–बदल की राजनीति के अध्ययन से यह तथ्य उभरते है कि—

(अ) केन्द्र की अपेक्षा राज्यों में दल–बदल की घटनायें अधिक हुई हैं।

(ब) जहां कहीं संयुक्त/संविद या मोर्चा सरकारें बनीं वहां उनके निर्माण और अन्त का मुख्य कारण दल–बदल ही रहा।

(स) चूँकि राजनीतिक आचरण और राजनीतिक संस्कृति उच्च स्तर की नहीं है इसलिये दल–बदल प्रचलित राजनीति का अविभाज्य अंग बन गया है।

17.4 दल–बदल : उत्तरदायी कारण

भारतीय परिप्रेक्ष्य में दल–बदल के बहुत से कारण समझ में आते हैं जो किसी अवसर पर मुख्य या प्राथमिक कारण बन जाते हैं जब कि दूसरे अवसर पर **वही गौण बन जाते हैं। प्रो0 रजनी** कोठारी के अनुसार दल–बदल में दो बातों का मुख्य हाथ रहा है। चुनाव के पहले टिकट का बंटवारा और चुनाव के बाद मंत्रिमण्डल का गठन। इसके अतिरिक्त और भी कारण बाद में सामने आये जिनका वर्णन किया जा रहा है।

17.4.1 भारतीय दल प्रणाली का स्वरूप

भारत में संसदीय प्रणाली तो विकसित हुई लेकिन ब्रिटेन की तरह यहां पर द्विदलीय पद्धति विकसित न हो सकी। स्वतंत्रता से पूर्व भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस एक मजबूत पार्टी थी जिसका उद्देश्य देश को स्वतंत्र कराना था। स्वतंत्रता के पश्चात इसी दल को सत्ता प्राप्ति भी हुई। संसदीय शासन में विरोधी दलों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। लेकिन कांग्रेस दल ने विरोधी दलों को कमजोर करने का प्रयास करना शुरु कर दिया। कांग्रेस ने अपने को सफल बनाने के लिये विरोधी दलों को छोड़ कर आने वालों का हार्दिक स्वागत किया। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि दल–बदल को प्रोत्साहित करने में कांग्रेस का हाथ रहा है।

कांग्रेस के इस रवैया से छुब्ध होकर 1967 के चुनावों के बाद अन्य राजनीतिक दलों ने भी इस प्रक्रिया को प्रोत्साहित किया। पुन: कांग्रेस ने सैद्धान्तिक रूप से दल परिवर्तन को स्वीकृति दी। 1967 के बाद कांग्रेस अध्यक्ष निजलिंगप्पा ने विभिन्न राज्यों के असंतुष्ट कांग्रेसियों से दल में

वापस आने की अपील की जिससे दल बदलुओं को कांग्रेस में सम्मिलित होने की छूट मिल गयी। भारतीय दल व्यवस्था विचार धारा केन्द्रित न होकर व्यक्तित्व केन्द्रित है। राजनीतिक दलों पर कुछ व्यक्ति विशेष या राजनीतिक परिवारों का कब्जा हो जाता है जिसके कारण दल के सदस्यों में लोकतांत्रिक भावनाओं एवं गतिविधियों का अभाव पाया जाता है। दल के नेता के प्रति आस्था के स्थान पर चाटुकारिता की प्रवृत्ति बढ़ती है। लोकतांत्रिक प्रक्रिया के अभाव में नेतृत्व से विद्रोह की भावना अन्दर बढ़ती है तथा उचित समय आने पर और विकल्प उपलब्ध होने पर अधिकांशत: यह दल-बदल के रूप में जाहिर होती है।

17.4.2 विचारात्मक ध्रुवीकरण का अभाव

भारत में विभिन्न राजनीतिक दलों में सिद्धान्तों की दृष्टि से बहुत कुछ समता दिखायी देती है। कोई भी विधायक किसी भी दल में मिल जाये तो उसके सिद्धान्तों एवं विचारों पर कोई खास असर नहीं पड़ता। साधारणत: विभिन्न राजनीतिक दलों के सदस्य दलों का चयन सिद्धान्तों के आधार पर न करके कुछ अन्य कारणों से करते हैं जैसे निर्वाचनों में सफलता की सम्भावना, कोई आर्थिक लाभ, किसी पद के मिलने की आशा आदि। और जब इस प्रकार के लाभ मिलने की सम्भावना किसी अन्य दल में अधिक दिखायी देती है तो वह एक दल को छोड़ कर दूसरे दल में मिल जाते हैं। यदि सदस्यों को अपने दल के सिद्धान्तों में निष्ठा होती तो वे अपने दल को आसानी से नहीं छोड़ते। दल के सिद्धान्तों में विश्वास तथा आस्था के अभाव के कारण सदस्य एक दल को छोड़कर दूसरे दल में तेजी से मिलते रहे हैं।

17.4.3 पद एवं धन का प्रलोभन

सत्ता एवं पद के मोह ने देश के राजनीतिक वातावरण को इतना खराब और दूषित बना दिया कि विधायकों की दृष्टि में सिद्धान्त, आदर्श और नैतिकता का मूल्य-महत्व कम हो गया। विधायकों में अवसरवादिता की भावना अधिक हो गयी। अत: जब वह यह देखते हैं कि दल-बदल करने से उनकी स्थिति अच्छी बन सकती है, उनका प्रभाव बढ़ सकता है, उनकी आय में वृद्धि की सम्भावना है और वह दल बदल के माध्यम से कोई मंत्रिपद प्राप्त कर सकते हैं तो उनका मन डांवाडोल हो जाता है।

ऐसा भी देखा गया है कि दल-बदल की प्रक्रिया में अपार धन की सम्भावनायें रहती हैं क्योंकि राजनीतिक अस्थिरता का लाभ उठाकर गुप्त रूप से विधायकों के मतों की सौदेबाजी की जाती है। दल-बदल कराने के लिये रुपया पानी की तरह बहाया जाता है।

दल परिवर्तन करके मंत्रिपदों को प्राप्त करने की भावना को प्रोत्साहित करने वाला एक महत्वपूर्ण कारण साधारण विधायकों तथा मंत्रियों की स्थिति, वेतन तथा अन्य लाभों के मामले में पाया जाने वाला अन्तर है। एक मंत्री की सामाजिक स्थिति नि:संदेह आकर्षक होती है इसलिये प्रत्येक विधायक के लिये मंत्रिपदों के प्रति आकर्षण और उनको प्राप्त करने की चेष्ठा होती है। विभिन्न मंत्रालयों के माध्यम से नियुक्ति एवं सरकारी ठेकों के आवंटन में अलिखित नियम के रूप में एक निर्धारित धनराशि नौकरशाहों एवं मंत्रियों को प्राप्त हो सकती है जो साधारण विधायकों में गलत भावना पैदा करती है।

17.4.4 जन साधारण की दल-बदल के प्रति उदासीनता

दल परिवर्तन का एक और महत्वपूर्ण कारण जनता की उदासीनता है। यद्यपि निर्वाचनों की राजनीति में राजनीतिक दलों के द्वारा सक्रीय चुनाव प्रचार से जनता जाग उठती है। मतदान व्यवहार से जनता की जागरूकता का पता चलता है परन्तु अन्य समयों में जनता मूक दर्शक बनी रहती है। इसमें सन्देह नहीं कि यदि जन साधारण की ओर से दल परिवर्तन करने वाले विधायकों

की निन्दा तथा विरोध किया जाये तो जनमत के भय के कारण विधायक आसानी से एक दल छोड़ने के लिये तैयार न होंगे। देखने में यह आया कि जनता के द्वारा ऐसे सदस्यों का बिरोध क्या किया जाता, कहीं-कहीं तो दल-बदल करने वाले विधायकों का सार्वजनिक रूप से स्वागत किया गया। मध्यावधि चुनावों में ऐसे अधिकांश सदस्यों को सफलता मिली जिससे दल परिवर्तन को और अधिक प्रोत्साहन मिला और विभिन्न दलों के सदस्यों को यह विश्वास हो गया कि दल परिवर्तन मतदाताओं की नजर में कोई बुरी चीज नहीं है क्योंकि ऐसा करने के बाद भी जनता का समर्थन उन्हें प्राप्त रहा है।

17.4.5 कुछ अन्य कारण

उपरोक्त वर्णित कारणों के अतिरिक्त कुछ अन्य कारण भी दल-बदल के लिये हो सकते हैं। उदाहरण के लिये दल के अध्यक्ष के द्वारा वरिष्ठ सदस्यों का अपमान या निरंकुश नीतियों का अनुसरण, दलीय गुटबन्दी, आन्तरिक लोकतंत्र के अभाव में महत्वाकांक्षी सदस्यों का दल बदल कर नये दल का निर्माण करना इत्यादि। स्थिति विशेष में ऊपर बताये गये कारणों में कोई एक कारण महत्वपूर्ण एवं निर्णायक हो जाता है। कभी-कभी किसी सरकार की नीतियों से छुब्ध होकर व्यापारी वर्ग/औद्योगिक घराने/बड़े कृषक संघ गुप्त रूप से अपने हित-स्वार्थ के लिये दल-बदल कराने में पीछे से (behind the scene) काम करते हैं।

17.5 दल-बदल का राजनीतिक व्यवस्था पर प्रभाव

दल-बदल से राजनीतिक व्यवस्था पर भारत में जो प्रभाव पड़ा उसके अध्ययन से ऐसा लगता है कि दल परिवर्तन के कारणों तथा प्रभावों में परस्पर सम्बन्ध है जो प्रभाव है वही दल-बदल का कारण बन जाता है तो कभी कारण ही प्रभाव बन जाता है। उदाहरण के लिये जहां दल-बदल के कारण राजनीतिक अस्थिरता उत्पन्न हुई जिसके फलस्वरूप संसद एवं विधान मण्डलों के समय से पूर्व कई बार मध्यावधि चुनाव कराने पड़े है तो वहीं राजनीतिक अस्थिरता अपने आप में राजनीतिक दल-बदल को प्रेरित करने का कारण बन जाती है। संक्षेप में हम दल-बदल के कारण राजनीतिक व्यवस्था पर पड़ने वाले प्रभावों का निम्न पंक्तियों में अध्ययन करेंगे।

दल-बदल के भयंकर राजनीतिक परिणाम हुये और कुछ लोगों ने तो यहां तक कहना शुरू कर दिया कि इससे भारत में लोकतंत्र का भविष्य खतरे में है तथा भारत में संसदीय प्रणाली विफल हो रही है। 1980 के दशक में संसदीय प्रणाली पर गम्भीर प्रश्न चिह्न लगने लगा तथा विभिन्न विचारकों के द्वारा संसदीय व्यवस्था के स्थान पर अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था लाने की बहस छिड़ गयी। दल-बदल से शासन में अस्थिरता पैदा हुई है जिससे सामाजिक एवं आर्थिक विकास की योजनाओं की उपलब्धियों पर गहरा असर पड़ा है कि गणतंत्र की स्थापना की पांच दहाइयां गुजरने के बाद भी निर्धनता, बेरोजगारी, अपराध, निरक्षरता तथा अल्प विकास की समस्यायें बनी हुई हैं। दल-बदल के कारण विभिन्न राज्यों में संयुक्त मोर्चा सरकारों या साझा सरकारों का उदय हुआ। इस प्रकार की व्यवस्था में चूंकि विभिन्न घटकों में नीति सम्बन्धी एकता नहीं थी जिससे बार-बार मतभेद उत्पन्न होते थे और साझा सरकारों का भविष्य खतरे में पड़ता था। गठजोड़ की राजनीति के पीछे आमतौर से सैद्धान्तिक एकता का अभाव देखा गया। Anti-Congressism कांग्रेस का नित्य विरोध केवल आधार बनाया गया या सत्ता को प्राप्त करने के उद्देश्य से गठजोड़ का निर्माण मतभेदों को न सह सका जिसके कारण सरकारों का जल्दी-जल्दी निर्माण एवं पतन देखने को मिला।

जल्दी-जल्दी दल-बदल की प्रक्रिया एवं सरकारों का निर्माण एवं पतन मुख्यमंत्री एवं प्रधानमंत्री की संस्थाओं को भी प्रभावहीन करने का कारण बना है। मुख्यमंत्री का अधिकांश समय अपने अस्तित्व की सुरक्षा में व्यतीत होने लगा तथा इसके कारण प्रधानमंत्री पद की गरिमा का भी ह्रास

होने लगा और और प्रशासन ढीला हो गया।

दल-बदल के कारण राज्यों में शीघ्र निर्णय नहीं लिये जा सके और अनिश्चितता तथा प्रशासनिक रिक्तता का वातावरण फेला। दल-बदलू मुख्यमंत्रियों के काल में नौकरशाही के प्रभाव तथा दबाव में भी काफी वृद्धि हुयी। मंत्री-सचिव सम्बन्ध इससे बेहद प्रभावित हुये। मंत्रियों की तुलना में उच्चस्तरीय अधिकारी ज्यादा शक्तिशाली हो गये और ऐसा भी देखने को मिला कि मंत्रियों के साथ मिलकर अधिकारियों ने भ्रष्टाचार को बढ़ाया दिया।

दल-बदल का यह भी प्रभाव हुआ कि राज्यों में मुख्यमंत्रियों को बड़े-बड़े मंत्रिमण्डलों का निर्माण करना पड़ा जहां उन्हें दल बदलुओं को पुरस्कृत करना पड़ता था वहीं अपने दल के सदस्यों को अंकुश में रखने के लिये मंत्री पद का उपहार देना पड़ता था। इसी के साथ ही साथ दल-बदल के कारण राजनीतिक दलों को बिखराव और विघटन की प्रक्रिया का मुंह देखना पड़ा। सभी दलों में फूट की प्रवृत्ति दिखायी देने लगी। छोटे-छोटे दलों और गुटों का निर्माण हुआ दलों की स्थिति काफी कमजोर हुई। दल-बदल के कारण ही कांग्रेस के दीर्घकाल से चले आ रहे राजनीतिक एकाधिकार की समाप्ति हुई। कांग्रेस के असन्तुष्ट लोग दूसरे दलों में शामिल होकर या नये दलों का निर्माण कर कांग्रेस के विरुद्ध राजनीतिक पदों के लिये संघर्ष करने लगे। कांग्रेसी नेताओं की स्थिति कमजोर हुई और उनके लिये कांग्रेस संगठन में एकता और अनुशासन बनाये रखना कठिन हो गया। फलस्वरूप कांग्रेस त्यागने वालों की संख्या बढ़ी।

दल-बदल की घटनाओं से देश में सिद्धान्तहीन, अवसरवादी राजनीति का सूत्रपात हुआ। जनता के जिम्मेदार प्रतिनिधियों तथा विधायकों की अवसरवादी तथा पदलोलुप बनने की छूट से अनैतिकता का बोलबाला हुआ। इससे विदेशों में भारत की छवि खराब हुई और लोकतंत्र की बुनियाद कमजोर हुई।

17.6 दल-बदल रोकने के प्रयास

दल-बदल के भयंकर तथा खतरनाक परिणामों को देखते हुए सभी दलों के नेताओं तथा विद्वानों ने महसूस किया कि इसकी समाप्ति के लिये आवश्यक कदम उठाने चाहिये। विभिन्न चिंतकों द्वारा इस पर गम्भीर चिंता व्यक्त की गयी। भारत के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश गजेन्द्रगडकर ने उस्मानिया विश्वविद्यालय के दीक्षान्त समारोह (21 दिसम्बर, 1967) में कहा कि दल-बदल प्रजातंत्र के नैतिक आधार पर पूर्णतया विनाशकारी है। जो लोग यह खेल-खेल रहे हैं वे नहीं समझते कि इस **देश के साधारण नागरिकों** को इससे कितना गहरा दु:ख हुआ है। और प्रजातंत्र के भविष्य के लिये बहुत खतरनाक है। उन्होंने सुझाव दिया कि जो विधायक दल बदलता है वह विधान मण्डल से त्याग-पत्र देकर दोबारा चुनाव लड़े। विभिन्न विद्वानों, राजनीतिज्ञों, विधिशास्त्रियों, समाज शास्त्रियों ने समय-समय पर कानूनी, विधिक एवं राजनीतिक सुझाव प्रस्तुत किये।

11, अगस्त 1968 को कांग्रेस सदस्य पी० वेंकट सुबैया ने लोक सभा में एक गैर सरकारी प्रस्ताव रखा जिसका उद्देश्य दल-बदल की समस्या पर विचार करने के लिये समिति की नियुक्ति करना था। 8 दिसम्बर 1968 को प्रस्ताव पारित कर दिया गया। इस प्रस्ताव में कहा गया था—"इस सदन की राय है कि सरकार विभिन्न राजनीतिक दलों के प्रतिनिधियों और संवैधानिक विशेषज्ञों की एक उच्च स्तरीय समिति की तुरन्त स्थापना करे जो विधायकों द्वारा एक दल से दूसरे दल के प्रति आस्था परिवर्तन की समस्या पर और उनके द्वारा दल-परिवर्तन के सभी पहलुओं पर विचार करके इस सम्बन्ध में अपनी सिफारिशें करें।"

इस प्रस्ताव के आधार पर बनाई गई समिति ने तत्कालीन गृह मंत्री चह्वाण की अध्यक्षता में पर्याप्त विचार-विमर्श के बाद अपनी रिपोर्ट 18 जनवरी, 1969 को संसद के सामने पेश की

जिसमें राजनीतिक दलों के लिये एक आचार संहिता की आवश्यकता पर बल दिया गया। यह भी कहा गया कि जो व्यक्ति लोकसभा का सदस्य नहीं है उसके प्रधानमंत्री नियुक्त किये जाने पर प्रतिबन्ध **होना** चाहिये। इसी तरह दल बदलुओं को मंत्री पद देने पर रोक लगनी चाहिये। दल-बदलुओं को त्याग-पत्र देकर दोबारा चुनाव लड़ना चाहिये। मंत्रिमण्डल के आकार को सीमित करने के लिये भी समिति ने सुझाव दिया। समिति ने सिफारिश की कि विधायकों को मतदाताओं द्वारा वापस बुलाने की व्यवस्था पर भी विचार किया जाना चाहिये।

उपरोक्त सुझावों को लागू करने के लिये सरकार ने चार वर्ष तक कोई कदम नहीं उठाया। अन्त में 16 मई 1973 को गृहमंत्री उमाशंकर दीक्षित ने दल-बदल को रोकने के लिये लोकसभा में एक संशोधन बिल पेश किया। इस बिल को 32वां संशोधन विधेयक कहा गया। इस विधेयक के द्वारा संविधान की धाराओं 102, 164, 191 तथा 192 में संशोधन प्रस्तावित किये गये थे। कुछ सदस्यों के द्वारा दल परिवर्तन, या पार्टी के टिकट पर जीते उम्मीदवार के द्वारा उस दल के नेतृत्व के विरुद्ध सदन में मतदान करने इत्यादि की सूरत में सदस्यता की समाप्ति का प्रस्ताव था तथा दल विभाजन की स्थिति में सदस्यता समाप्ति का कानून लागू न होने की व्यवस्था की गयी थी। सदस्ता समाप्त करने का अन्तिम निर्णय राष्ट्रपति अथवा राज्यपाल को दिया गया था। इस विधेयक को अन्त में विचारार्थ एक संयुक्त समिति के पास भेजा गया लेकिन इस पर कोई निर्णय नहीं लिया जा सका।

1977 में जनता सरकार के बनने के बाद दल-बदल को रोकने का प्रयत्न किया गया। सत्ता में आने के बाद जनता सरकार ने विरोधी दल के नेताओं के साथ कई बार विचार-विमर्श किया ताकि दल-बदल विरोधी विधेयक तैयार किया जा सके। 15 महीने की तैयारी के बाद जनता सरकार ने 28 अगस्त 1978 को दल-बदल को रोकने के लिये 48वां संशोधन विधेयक लोक सभा में रखा। भारी हंगामों के बीच सरकार को विधेयक वापस लेना पड़ा। स्वयं जनता पार्टी के कुछ महत्वपूर्ण सदस्यों द्वारा विधेयक का जोर-शोर से विरोध किया गया और यह कहा गया कि यह विधेयक लोकतंत्र के विरुद्ध तथा अधिनायकवाद को बढ़ावा देने वाला है और संविधान के बुनियादी सिद्धान्तों के भी विरूद्ध है।

जनता सरकार दल-बदल को रोकने के लिये कोई कानून बनाने में सफल नहीं हुई और जनता सरकार को दल-बदल के कारण ही हटना पड़ा। मई, 1982 में तत्कालीन मुख्य चुनाव आयुक्त श्यामलाल शखधर ने दल-बदल को रोकने के लिये सुझाव दिया कि चुनाव के बाद दल-बदल करने वाले तथा निर्दलीय दर्जे में भी परिवर्तन करने वाले विधायकों की सदस्यता स्वत: समाप्त हो जानी चाहिये।

इस प्रकार 1967 के बाद से खासतौर पर दल-बदल की समस्या की गम्भीरता को महसूस करते हुए विभिन्न मन्चों से सुझाव प्रस्तुत किये गये और कम से कम वैचारिक स्तर पर ही दल-बदल को एक राजनीतिक बुराई के रूप में देखा जाने लगा। 1985 में 52वां संशोधन विधेयक का पारित होना इसी यात्रा की एक कड़ी थी जो 1967 के पश्चात् शुरू हुयी थी।

17.7 दल-बदल निरोधक कानून

आठवीं लोक सभा के चुनाव के अवसर पर प्रधानमंत्री राजीव गाँधी ने वायदा किया था कि उनकी पार्टी सत्ता में आने पर दल-बदल पर रोक लगाने के लिये संविधान में संशोधन करेगी। कांग्रेस (इ) को चुनाव में भारी सफलता मिली।

दल-बदल की बुराई को दूर करने के लिये सरकार ने 52वां संशोधन 24 जनवरी, 1985 को

लोकसभा में प्रस्तुत किया। लोकसभा ने 30 जनवरी को और राज्यसभा ने 31 जनवरी को इस संशोधन को सर्वसम्मति से पास कर दिया। बाद में 15 फरवरी, 1985 को राष्ट्रपति की स्वीकृति मिलने के बाद दल-बदल निरोधक कानून के रूप में 52वां संविधान संशोधन अधिनियम लागू हुआ। इस संशोधन द्वारा संविधान में 10वीं अनुसूची जोड़ी गयी और उसमें दल-बदल के नियंत्रण के सम्बन्ध में किये गये उपबन्धों को रखा गया।

दसवीं अनुसूंचि के उपबन्ध : दसवीं अनुसूची में यह व्यवस्था दी गयी है कि निम्न परिस्थितियों में संसद अथवा विधान मण्डलों के सदस्य या सदस्यों की सदस्यता समाप्त हो जायेगी।

(1) यदि कोई सदस्य उस दल से जिसके टिकट पर वह निर्वाचित हुआ है, स्वेच्छा से त्यागपत्र दे देता है अथवा सदन में पार्टी के ह्विप (सचेत कर देने के बावजूद) के विरुद्ध वोट देता है अथवा अपने दल की पूर्वानुमति के बिना मतदान के समय सदन में अनुपस्थित रहता है। ऐसे सदस्य को उपर्युक्त कार्यवाही से बचाया जा सकता है यदि उसकी अनुचित गतिविधियों के लिये 15 दिन के अन्दर सम्बद्ध दल उस सदस्य या सदस्य समूह को माफ कर दे।

(2) यदि कोई निर्दलीय सदस्य चुनाव के बाद किसी राजनीतिक दल की सदस्यता ग्रहण कर ले।

(3) यदि कोई मनोनीत सदस्य, सदस्यता की शपथ लेने के छः महीने बाद किसी राजनीतिक दल की सदस्यता ग्रहण कर लेता है, तो उसकी सदस्यता का अन्त हो जायेगा।

ज्ञातव्य हो कि इस कानून के पारित होने के पश्चात भी दल-बदल की प्रवृत्ति देखने में मिली। स्वयं 1992-93 में कांग्रेस की अल्पमत सरकार दल-बदल के माध्यम से ही बहुमत में तब्दील हुई थी। इस कानून के अन्तर्गत सदस्यों की सदस्यता सम्बन्धी विवादों को दल-बदल अधिनियम के अन्तर्गत निर्णित करने का अन्तिम अधिकार सम्बन्धित सदन के स्पीकर/सभापति/अध्यक्ष को प्रदान किया गया है। अब तक के इतिहास में इस कानून के माध्यम से अध्यक्षों ने अधिकतर अपने अधिकारों का दुरूपयोग ही किया है। इस अधिनियम के अन्तर्गत 10वीं अनुसूची के पैरा को 21 नवम्बर, 1991 को नागालैण्ड, गुजरात एवं मध्य प्रदेश के कुछ विधायकों द्वारा दायर की गयी याचिकाओं पर निर्णय देते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने असंवैधानिक घोषित कर दिया। इस पैर में सदस्यों की अर्नहरता के मामले में अध्यक्ष के निर्णय को अन्तिम माना गया था तथा उसे न्यायालयों के अधिकार-क्षेत्र से बाहर रखा गया था। उक्त निर्णय के पश्चात अध्यक्ष द्वारा किये गये निर्णयों का पुनरावलोकन उच्च एवं उच्चतम न्यायालय कर सकते हैं। इस निर्णय के बाद से विधायकों की अर्नहरता के मामले बड़ी संख्या में न्यायालय में पहुंच रहे हैं।

वर्ष 2003 में इक्यानबेवां संविधान संशोधन के माध्यम से परिवर्तन किया गया। इस संविधान संशोधन के माध्यम से केन्द्र एवं राज्य सरकार की मंत्रिपरिषद को निम्न सदन के सदस्यों की संख्या के 15 प्रतिशत करने की व्यवस्था की गयी है। इसमें दल-बदल करने वाले सदस्यों को लाभ का राजनीतिक पद प्राप्त करने पर भी प्रतिबन्ध लगाया गया है। छोटे राज्यों जैसे सिक्किम व मिजोरम आदि में यह नियम 15 प्रतिशत वाला लागू नहीं होगा।

17.8 सारांश

दल-बदल कानून की अस्पष्टता या उसके त्रुटिपूर्ण प्रावधानों के कारण भारत में दल-बदल की प्रक्रिया को अभी तक नियंत्रित नहीं किया जा सका है। विगत वर्षों में जिस प्रकार दल-बदल निरोधक अधिनियम की अवहेलना और दुरूपयोग हुआ है उससे यह बिल्कुल स्पष्ट है कि दल-

बदल को मात्र कानूनी साधनों से नहीं रोका जा सकता। धन और राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने का लालच दल परिवर्तन का मूल कारण रहा है जिसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध विधायकों के नैतिक स्तर से हैं। दल-बदल को रोकने के लिए राजनीतिक दलों का पंजीकरण, दल-बदल की स्पष्ट शर्तें, विधि के अन्तर्गत चुनाव कराने की व्यवस्था का प्रावधान करने की आवश्यकता है। इसके साथ ही साथ दलीय व्यवस्था में आन्तरिक लोकतंत्र स्थापित करना भी आवश्यक है।

17.9 उपयोगी पुस्तकें

सुभाष सी० कश्यप : पालिटिक्स ऑफ डिफेक्शन, नई दिल्ली, 1969

जे०सी० जौहरी : रिफलेक्शन ऑफ इण्डियन पालिटिक्स विकास पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1972

17.10 सम्बन्धित प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न :

1. दल-बदल का अर्थ समझाइये?
2. दल-बदल के दोष बताइये?
3. दल-बदल के कारण क्या-क्या है?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न :

1. दल-बदल निरोधक कानून के प्रावधान क्या-क्या हैं?
2. दल-बदल को रोकने के उपाय बताइये।
3. दल-बदल की राजनीति में राजनीतिक दलों की क्या भूमिका है? लिखिये।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न :

1. ब्रिटेन में दल-बदल का आधार है :

   (अ) सैद्धान्तिक मत-भेद   (स) पद लोलुप्ता

   (ब) द्विदलीय व्यवस्था   (द) इनमें से कोई नहीं

2. सर्व-प्रथम दल-बदल निरोधक कानून कब पारित हुआ?

   (अ) वर्ष 1977   (स) वर्ष 1990

   (ब) वर्ष 1985   (द) इक्यानबेवां संशोधन 2003

3. दल-बदल मुख्य रूप से राजनीतिक स्थिरता के लिये बड़ा खतरा सिद्ध हुआ :

   (अ) वर्ष 1967 से पहले   (स) वर्ष 1967 के पश्चात्

   (ब) वर्ष 1985 के पश्चात्   (द) इनमें से कोई नहीं

4. दल–बदल का लाभ किस को प्राप्त हुआ?

(अ) कांग्रेस दल को
(ब) भारतीय जनता पार्टी को
(स) बसपा को
(द) भारत में सभी दलों को

17.11 प्रश्नोत्तर

1. (अ) 2. (ब) 3. (स) 4. (द)